भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद की ओर से

भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के अनेक उद्देश्यो मे एक है शोध की उपलब्धियों को उस पाठकवर्ग तक पहुंचाना जो हमसे यह अपेक्षा रखता है कि हम भारतीय भाषाओं मे इतिहास संबंधी रचनाएं तैयार तथा प्रकाशित करें। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भारतीय इतिहासविद अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे पहुंच सकते हैं; नाम और प्रतिष्ठा अर्जित कर सकते हैं किंतु भारतीय पाठकवर्ग का एक छोटा अंश ही इससे लाभ उठा पाता है। शिक्षण और अनुसंधान के माध्यम के रूप में हिंदी तथा अन्य भाषाओं के प्रयोग की प्रवृत्ति बल पकड रही है। ऐसी स्थिति में इतिहास की स्तरीय पुस्तकों की कमी गंभीर रूप से अनुभव की जा रही है। सबसे पहले हमे भारतीय इतिहास की ओर ध्यान देना है। अतः भा० इ० अ० प० ने कुछ गौरवग्रंथो (क्लासिक्स) तथा इतिहास विषयक शोध की निर्दोष पद्धतियों पर आधृत और इतिहास की समकालीन प्रवृत्तियों को प्रतिबिंबित करने वाली कुछ अन्य पुस्तको का अनुवाद कराने का निश्चय किया है।

प्रस्तुत पुस्तक श्री दामोदर धर्मानंद कोसाम्वी रचित पांच निबंधो का संकलन है। इसमे 'गीता' के सामाजिक तथा आर्थिक पक्षों का सहजानुभूतिपूर्ण विश्लेषण है। 'उर्वशी पुरुरवा' पुराणकथा के विकास की विवेचना द्वारा वैदिक तथा गुप्तकालीन समाज के बीच के अंतर को स्पष्ट किया गया है। लेखक ने आधुनिक महाराष्ट्र मे उत्तर पाषाण काल की कुछ प्रथाएं ढूंढ निकाली है और उनका दावा है कि प्राचीन व्यापार पथ जनजातीय मातृदेवियों के पूजास्थल से होकर थे। कोसाम्बी ने भारत मे पुर्नविलय के लिए हुए गोआनी संघर्ष को एक तर्कसंगत ऐतिहासिक आधार प्रदान किया है। इन निबंधों की विषय वस्तु अलग-अलग है और सूक्ष्म अंतर्दृष्टि पूर्ण ये निबंध क्षेत्र कार्य तथा साहित्यिक पाठ दोनो पर आधारित है।

इस पुस्तक का प्रकाशन पटना यूनिट के प्रयासो का परिणाम है जिसके लिए अनुवादक डा० नन्द किशोर 'नवल'; डा० नगेन्द्र प्रसाद वर्मा तथा अन्य सभी सहयोगियों को हम धन्यवाद ज्ञापन करते है।

राम शरण शर्मा
अध्यक्ष
भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद

25 फरवरी 1976
नई दिल्ली

चित्र सूची

प्रस्तावना

1. सिंधु की मुहर (इंडस सील) पर त्रिमुख देवता
2. महिषासुर-मर्दिनी (इंडोनेशियाई, लगभग 8वीं ईसवी सदी)
3. पार्वती मृत शिव को पददलित करती हुई (कालीघाट में अंकित एक चित्र)
4. शिव और उनका परिवार (शिव पंचायतन)
5 शिव, नटराज के रूप में (दक्षिण की एक कांस्य मूर्ति)
6. फ्रांसीसी हिम युग गुफा चित्र (ले ट्राय फ्रेरे) मुखौटाधारी नर्तक (एच० ब्रिउल के अनुसार)
7. नाचते हुए, गणेश (दक्षिण की एक कांस्य मूर्ति)
8. हिम-युगीन फ्रांस का भीमकाय-नर्तक
9. हनुमान (परम्परागत शैली में आधुनिक बाजारी रंगीन चित्र)
10. औरिग्नैसियन काल के 'रेखाचित्र फलक' रोड़े
11. यूरोप के अनेक रूप हिम-युगीन रेखाचित्र फलक
12. सिंधु-मुहर पर नर-व्याघ्र (मैक्के के अनुसार)
13. अर्धनारीश्वर उभयलिंग शिव-पार्वतीप्रतिमा (कांगड़ा चित्रकारी)

भगवद्‌गीता के सामाजिक आर्थिक पक्ष

1.1 नारायण का क्षीरसागर शयन
1.2 ईग्र एन्की अपने जलावृत कक्ष में मैसोपोटामियाई मुहर का ब्यौरा

1.3 विष्णु का मत्स्य अवतार
1.4 मैसोपोटामियाई बटन मुहर पर जल पुरुष और जलपरी
1.5 कच्छप अवतार
1.6 वराह अवतार
1.7 वराह अवतार
1.8 नरसिंह
1.9 वामन
1.10 परशुराम
1.11 राम
1.12 कृष्ण
1.13 बुद्ध
1.14 कल्कि, भावी अवतार
1.15 बालकृष्ण द्वारा पदमर्दित कालिय
1.16 सप्तशीर्ष सर्प (हाइड्रा) का वध
1.17 मिर्जापुर के एक गुफा चित्र में चक्र प्रक्षेपी रथी
1.18 (क) 1.18 (ख) वृष्णि जनजातीय सिक्का (विवर्धित)
1.19 ले ट्राय फ्रेरीज गुफा मे डाइऐल्लोटिन
1.20 हरि-हर (आधुनिक बाजारी रंगीन चित्र)
1.21 ज्ञानेश्वर (एक परंपरागत ड्राइंग)
1.22 एकनाथ (परंपरागत ड्राइंग)
1.23 तुकाराम (भामचंदर पहाड़ की एक प्राकृतिक गुफा में आधुनिक स्मारक उद्धृत)

उर्वशी और पुरुरवा

2.1 (क) अग्नि हल, (ख) (ग) अग्नि मंथक
2.2 पूर्व इसरायली वेदी
2.3 साइरो हित्ताइत मुहर का अंकन
2.4 (क) सपक्ष हित्ताइत देवी (ख) पक्षी देवी की मैसोपोटामियाई मृण्मूर्ति (लिलिथ) (ग) सपक्ष इश्तर, पर्वत से सूर्य देव के उद्भूत होने के समय (घ) पक्षी शिरोवेष वाली मृण्मयी मूर्तिका (हड़प्पा से प्राप्त)
2.5 (क)(ख) नर्तकी की पाषाण मूर्तिका (हड़प्पा से प्राप्त)
2.6 (क) नावडा टोली (महेश्वर) से प्राप्त, लगभग 1600 ई० पू० का भांड खंड, जिस पर एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए नर्तकियों का समूह चित्रित है, जैसा कि यहां दिखाया गया है

2.6 (ख) उसी स्थल से प्राप्त, उत्तरवर्ती लगभग 1000 ई० पू० का उद्भृत भांडखंड, जिस पर नग्न देवी की नक्काशी की हुई है (संकलिया के अनुसार)

2 7 पिउकिलाग्रोतिस का भारत-यूनानी (इंडो-ग्रीक) सिक्का

2.8 मेरी इश्तर (ग्रांद्रेपैरात के अनुसार)

2.9 हड़प्पा, कब्रिस्तान एच० से प्राप्त मिट्टी के चित्रित अंत्येष्टि कलश का ब्यौरा

2.10 मोहनजोदड़ो का विशाल स्नानागार (ग्रेट बाथ) शंकास्पद आंशिक जीर्णोद्धार, एक या अनेक उपरली मंजिलों की बनावट अज्ञात, पुष्कर का क्षेत्रफल 39"/23" है

चतुष्पथ पर : मातृदेवी-पूजास्थलों का अध्ययन

3.1 अंबरनाथ मे सती-स्मारक (सती-चौरा), ऊंचाई लगभग 45 सें० मी०

3.2 छिंदवाडा में वेताई

3.3 पिपलोली, बेड्सा दर्रे वाले वाघोवा (व्याघ्र-नाथ)

3.4 बेदसा विहार गुफा की यमाई, ऊपर, बाईं ओर, पूर्वंतर उद्भृत द्रष्टव्य

3.5 मातृदेवी का लाल-पुता उद्भृत (ले काबरेल्ले, फ्रांस :, ब्रिउइल के अनुसार)

3.6 रीति रूपित मातृ देवी, अस्थि उत्कीर्ण,

3.7 यूरोपीय पाषाणयुग पिप्रह्वा-कलश, संभवतः बुद्ध के कपिलवस्तु वाले अवशेष इसी मे अंर्तविष्ट हैं : (यह पात्र अब कलकत्ता संग्रहालय मे है, एक फोटो के अनुसार आरेखित)

3.8 कोडरी द्वार के ऊपर नाग, धाणाला (लेखक द्वारा लिए गए एक फोटो के अनुसार आरेखित)

3.9 शाक्य इलाके का रेखाचित्री नक्शा

3.10 बुद्ध जन्म के प्रदर्शक उद्भृत मूर्तिखंड

बढ़ते चरण : पश्चिमी दक्कन-पठार के प्रागितिहास का संधान

4.1 स्फिंक्स (पीठस्थ), दाहिनी ओर 13वां खंभा, चैत्य गुफा, कार्ले

4.2 खड़ी मूठ, टेढ़ी हरिस (योक-पोल), और चिपटी अंकुडी (मोल्ड बोर्ड) वाला कृपाण हल (लाहौर संग्रहालय के एक उद्भृत के अनुसार आरेखित)

4.3 जुन्नर मे प्रचलित, कृपाण शैली का आधुनिक हल

4.4 कार्ले की चैत्य गुफा के पास, यमाई, के रूप में पूजे जाने वाले वृहत् स्तूप

को समर्पित किया जा रहा कोली बालक
4.5 शिला, दाहिनी ओर मेहराब के नीचे मूल वोलाई मंदिर सहित 4.6 चपक
(कप) और बेलन, आच्छादन शिला का शीर्ष, बोल्हाई मंदिर
4.7 डोल्मेन (महापाषाण पट्ट स्मारक), नयागांव, अच्छादन शिला की लंबाई
लगभग 4 इंच
4.8 कोरेगांव ग्राम मे चपक चिह्न, व्यास लगभग 9 इंच
4.9 गहरी उकेरी अडाकृतिया, थिऊर शिला
4.10 पूना स्थित अधित्यका पथ और उपत्यका पथ। समुद्र तल से ऊपर 2000
और 2150 की समोच्चरेखाएं (कंटूर) अंकित। त्रिकोण महापाषाण स्थलों के
सूचक हैं जहा आधुनिक पूजाए प्रचलित है।
4.11 इस अध्याय से संबद्ध स्थलीय अध्ययन का मुख्य क्षेत्र। बिंदुकित रेखा
1650 कटूर की द्योतिका है, यह रेखा पश्चिम ओर वाले वृहत दक्षिण
कगार के करीब-करीब समातर है।
4.12 आकार मे प्रेतावास जैसा, लगभग 75 सें० मी० व्यासवाला, पकी मिट्टी
का बना वेताल मंदिर (वराड)। लगभग 50 वर्ष पूर्व, किसी स्थानीय
कुम्हार द्वारा परंपरागत रीति से निर्मित
4.13 सुपा के निकट, कहां भीमा जल विभाजक से प्राप्त उपत्यका लघुपाषाण
4 14 पूना के निकट, वेताल पहाडी पर के महापाषाणीय पठार से प्राप्त अधि-
त्यका औजार (लेखक द्वारा संगृहीत).
4.15 पूना स्थित वेताल पहाडी पर महापाषाणीय-शैल उत्कीर्ण ऊंचाई 16 इंच
4.16 एक कैल्सेडोनी पिंड पर संकेंद्रित एवं तल शिला पर गहरे उत्कीर्ण महा-
पाषाणीय वृत्त, वेताल पहाड़ी, पूना
4.17 डोल्मेन, थिऊर नयागाव
4.18 आच्छादन शिला के नीचे मान्धाई देवस्थान, बरवंड उच्चस्थान (हाई
प्लेस)
4 19 शिरवल निकटर्ती कोपाला
4.20 शिरवल गुफा मे कोठरी द्वारमार्ग
4 21 विशिष्ट लघुपाषाण औजार (लेखक द्वारा संगृहीत)
इस अध्याय मे जिन चित्रों की प्राप्ति अन्यथा अभिस्वीकृत नही है वे सब
लेखक द्वारा लिए गए फोटोग्राफों के आधार पर आरेखित हैं।

गोआ के 'पुराने विजित क्षेत्रों' में ग्राम समुदाय

5 1 गोआ की व्यापार सांख्यिकी, आयातित, निर्यातित, और मार्गस्थ माल
5.2 गोआ का मानचित्र, त्रिकोण मुख्य मंदिर स्थलों के द्योतक हैं
5 3 खोज के दौरान कोलवल्ले मे मिली बुद्ध की प्रतिमा

संकेत

एच०ओ०एस० = हारवर्ड ओरिएंटल सीरीज, कैम्ब्रिज, मास; एन०एस०पी० = निर्णय सागर प्रेस, बंबई; पी०टी०एस० = पाली टेक्स्ट सोसाइटी, लंदन; एस०बी०ई० = सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, आक्सफोर्ड; टी०एस०एस० = त्रिवेंद्रम संस्कृत सीरीज, त्रिवेंद्रम।

अर्थ० — कौटिल्य का अर्थशास्त्र; टी०गणपति शास्त्री द्वारा संपादित, टी०एस०एस० 79, 80, 82, श्री विष्णुगुप्त का कौटलियार्थशास्त्रम्, एन० एस० वेंकटनाथाचार्य द्वारा संपादित, मैसूर, 1960।

अ० वे० — अथर्ववेद।

आई० ए० — इंडियन ऐंटिक्वेरी।

ई० आइ० — एपिग्राफिया इंडिका।

ऋ० वे० — ऋग्वेद, सायण भाष्य सहित संपादित, 4 खंड, पूना, 1933-46।

एक्स० — फिलिप नेरी जेवियर, वास्क्वेजो हिस्तारिको दस कम्यूनिददेस दस अल्दियस दास कान्सेल्होस इल्हास, साल्सीत ए बार्देज, द्वितीय संस्करण, 3 खंड, वस्तोरा, 1903-1907।

एपि० कर्ण० — एपिग्राफिया कर्नाटिका, लूइस राइस द्वारा संपादित और अनूदित।

ए० बी० ओ० आर० आई० — ऐनल्स आफ द भंडारकर ओरिएंटल इंस्टिट्यूट, पूना।

एम०	जी० एम० मोरीस : एम$_1$—द कदंब कुल, बंबई, 1931, एम$_2$—नोट्स ग्रान द प्री—कदंब हिस्टरी ग्राफ गोग्रा (ग्रनूदित, 5 म इंडि० हिस्ट० काग्रेस, 1941, पृ० 164-174), एम$_3$—ए फारगाटेन चैप्टर इन द हिस्टरी ग्राफ द कोंकण (भारत कौमुदी, फेस्तस्ख्रिफत—राधा कमल मुखर्जी, इलाहाबाद 1945, पृ० 471-475)
क० स० सा०	सोमदेव का कथासरित्सागर, संपा० दुर्गा प्रसाद ग्रौर के० पी० परब, चतुर्थ संस्करण, एन० एस० पी०, 1930, इसका एन० एम० पेंजर की टीका सहित, जी० एच० टानी द्वारा किया गया 10 जिल्दो वाला ग्रंग्रेजी ग्रनुवाद (लंदन, 1924) ग्रनुक्रमणिका के रूप मे उपयोगी है ग्रौर टानी पेंजर के रूप मे उद्धृत किया जाता है।
गजेटियर	गजेटियर ग्राफ द बबे प्रेजिडेंसी, 25 खंड, बंबई, 1880-1901।
गी०/गीता	भ० गी०।
जा०	पाली जातक कथाएं, ग्रध्याय 3 मे इनका निर्देश संख्या-क्रमानुसार किया गया है।
जात०	जातक, भाष्य सहित, संपा० व्ही० फाउसबोल, 6 खड, खंड 7 ग्रनुक्रमणिका (डी० ऐंडरसेन के साथ), लंदन, 1877-1897।
जी० सी०	जे० गर्सन द कुन्हा : द कोकणी लेंग्वेज एंड लिटरेचर, बबई, 1881।
जे० ग्रार० ए० एस०	जर्नल ग्राफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी, लंदन।
जे० ए० ग्रो० एस०	जर्नल ग्राफ द ग्रमेरिकन ग्रोरिएंटल सोसाइटी।
जे०बी०बी०ग्रार० ए० एम०	जर्नल ग्राफ द एशियाटिक सोसाइटी, बंबे, पूर्वनाम बबे ब्राच ग्राफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी।
ज्ञा०	ज्ञानेश्वरी, बंबई राज्य का शासकीय संस्करण, जिसका निर्देश ग्रध्याय 1 में किया गया है।
दी० नि०	दीघ निकाय, पी० टी० एस०, 2 खंड, लंदन 1890, 1893, मराठी ग्रनुवाद : सी० व्ही० राजवाडे, (1) बड़ौदा 1918, (2) बबई 1932 : हिंदी ग्रनुवाद राहुल सांकृत्यायन ग्रौर जगदीश कश्यप, सारनाथ (बनारस), 1936।
पाणिनि	पाणिनि की ग्रष्टाध्यायी ग्रौर शब्दानुक्रमणिका, एस० पाठक ग्रौर एस० चितराव, पूना 1934।
पेरिप्लस	डब्ल्यू. एच० शाफ द्वारा ग्रनूदित पेरिप्लस ग्राफ द एरि-

	ग्रीग्रन सी, पहली सदी के एक सौदागर की हिंदमहासागर में यात्रा और व्यापार (न्यूयार्क, 1912)।
बृ०	वराहमिहिर की बृहत्संहिता, मूल और अनुवाद, व्ही० सुब्रह्मण्य शास्त्री और एम० रामकृष्ण भट्ट, बंगलौर 1947।
बृ० उप०	बृहदारण्यक उपनिषद्, एन०एस०पी० बंबई 1932।
भ० गी०	भगवद्गीता।
म० नि०	मज्झिम निकाय, पी०टी०एस०, 3 खंड, लंदन 1888-1902, अनुवाद चामर्स, 2 खंड, लंदन 1926-7, हिंदी अनुवाद राहुल साकृत्यायन, सारनाथ (बनारस), 1933।
मनु०	मनुस्मृति, नवम संस्करण, कुल्लूक-भाष्य सहित, एन०एस०पी० 1933। मेधातिथि के भाष्य के साथ, संपा० गंगानाथ झा, 3 खंड, कलकत्ता 1932-1939। अनुवादक, जी० बुहलर, एस० बी० ई० 25, 1886।
महाभा०	महाभारत, संपादक—व्ही० एल० सुकंठकर एवं अन्य, पूना 1933।
मृच्छ	शूद्रक का मृच्छकटिकम्, संपा० के० पी० परब, संशोधित (अष्टम संस्करण) एन० आर० आचार्य, एन०एस०पी० 1950। इसका ए० डब्ल्यू० राइडर द्वारा किया गया अनुवाद एच० ओ० एस० 9 आकर्षक है।
राज०	कल्हण की राजतरंगिणी, काश्मीर के राजाओं का इतिवृत्त, अनुवादक, एम० ए० स्टीन, 2 खंड, लंदन 1900।
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण, अनुवादक, जे० एगेलिंग, एस०बी०ई० 12, 26, 41, 43, 44, 1882-1900।
स० ख०	स्कंद पुराण का सह्याद्रि खंड, संपा० जे० गर्सन द कुन्हा, बंबई 1877।
सु० नि०	सुत्त-निपात, संपादक—व्ही० फाउसबोले, लंदन 1885, डी० ऐंडर्सन और एच० स्मिथ द्वारा संशोधित, लंदन 1913।

अनुक्रम

प्रस्तावना 1

भगवद्गीता के सामाजिक और आर्थिक पक्ष 14

किस वर्ग के लिए ?, एक विशिष्ट क्षेपक, प्रयोजन की पूर्ति के लिए अपर्याप्त; कृष्ण का आविर्भाव क्यों ? संश्लेषण कब संपन्न होता है ?; भक्ति की सामाजिक उपयोगिता

उर्वशी और पुरुरवा 49

कालिदास द्वारा विषय का प्रतिपादन; आधुनिक व्याख्याएं; कथा के विभिन्न पाठ; ऋग्वेद 10-95 की टीका; उर्वशी की सहचरियां; ऋग्वेद में उषा; आर्य या आर्य-पूर्व ?; जन्म और मृत्यु की देवियां

चतुष्पथ पर : मातृदेवी-पूजास्थलों का विवेचन 98

समस्यामा; तृकाएं (मातृदेवियां); क्षेत्रीय शोधकार्य से प्राप्त जानकारी; आदिक (पावन स्थान) पथ; व्यापार मार्ग; जातक; चारुदत्त द्वारा बलि प्रदान

बढ़ते चरण : पश्चिमी दक्कन पठार के प्रागितिहास का संधान 132

दक्षिण में प्रागितिहास का अंत; पूजा-प्रव्रजन, देवियां और महापापाण; पूजा-प्रव्रजन : देवगण, लघुपापाण-पथ; अधित्यकावासी और उपत्यका-वासी; उत्तरकालीन विकास; कृषि की ओर

गोआ के पुराने विजित क्षेत्रों में ग्राम-समुदाय 185

इतिहास बनाम स्कंद पुराण; भूमि और लोग; आर्थिक स्थिति; जनता की विषम जातीयता (अर्थात पंचमेल आबादी); सामंत काल; कर की वृद्धि; समुदाय की संरचना ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रस्तावना

इन निबंधों की एक सामान्य विशेषता यह है कि ये साहित्यिक प्रमाण और क्षेत्रीय शोधकार्य दोनों को मिलाकर किए गए अध्ययन पर आधारित हैं। देशभक्ति के उत्साह में वास्तविकता को नजरअंदाज करने वाले भारतीय आलोचक यह देखकर झुंझलाएंगे कि मैंने उन बातों पर विशेष बल दिया है जो उपेक्षित रही हैं। प्रचलित अंधविश्वास के निरनंद दलदल में धंसने के लिए भारतीय दर्शन की खूबसूरत कमलिनी को अनदेखा क्यों किया जाए। कमलिनी के सौंदर्य को कोई भी सराहेगा किंतु उस भौतिक प्रक्रिया को, जिसके द्वारा कीचड़ और गंदगी से बाहर आ कमलिनी प्रस्फुटित होती है, खोजने के लिए वैज्ञानिक प्रयत्नों की आवश्यकता है।

विकास की यह प्रक्रिया केवल उन दार्शनिक पद्धतियों के अध्ययन से स्पष्ट नहीं हो सकती जो भारत में पहले प्रचलित थीं। शंकराचार्य, उनके पहले के बौद्ध और बाद के वैष्णव, सबों ने विश्वास के दो अलग-अलग स्तर कायम कर दिए थे : उच्च स्तर और निम्न स्तर। उच्च स्तर हर तरह से आदर्श और आध्यात्मिक था जहां पर मनुष्य की आत्मा कल्पित पूर्णता का शिखर चूम सकती थी। निम्न स्तर रोज-रोज की कर्मकांडी कुप्रथाओं के अनुष्ठान में ही आनंद मनाने वाले साधारण लोगों का स्तर था। कर्मकांडी विधियों में साधारण लोगों के साथ आदर्शवादी दार्शनिक भी शामिल होता था, लेकिन वहीं तक, जहां तक उसका शास्त्र वास्तविकता के गंदे स्पर्श से बचा रहे। यहां विचार और आदर्श शाश्वतकाल से रहे हैं। सांसारिक जीवन उस ऊंचाई पर जिसका सचमुच महत्व है, कभी नहीं पहुंच सका है।

1. दुनिया में जितने धार्मिक विश्वास प्रचलित हैं उन सबमें उनके आदिम तत्व बचे रह गए हैं। 'भगवान, आज की रोटी दो' यह प्रार्थना दुनिया की अधिकांश

आबादी के लिए काफी महत्वपूर्ण है। उत्तर पाषाणकाल के पहले रोटी जैसी कोई चीज थी ही नही, इसलिए यह असंभव है कि यह प्रार्थना उस काल से पहले की हो। वैसे ही, यह भी असंभव है कि ईश्वर से प्रार्थना की भावना, पशुचारणकाल से पहले अन्न संग्रहकाल मे लोगों के मन में आई हो क्योंकि उस समय मातृदेवी पूजी जाती थी। ईसाई धर्म पर इस बात से कोई खास आंच नहीं आती कि दैनिक प्रार्थना की शुरुआत उत्तर पाषाणकाल में हुई। रूसो और स्वच्छंदतावादियों के साथ उलटी धारा में बह जाना उतना ही आसान है जितना आदिम अंधविश्वासों को तिरस्कार की दृष्टि से देखना। रूसो और स्वच्छंदतावादियो ने उलटी बातें कही हैं। वे मानते थे कि मनुष्य जब प्राकृत अवस्था मे था तब शिक्षित समाज के अनेक गलत विश्वासों और कृष्ट कोटि के कार्यों से मुक्त था। इसे गलत ठहराने के लिए किसी फ्रेजर या मैलिनोव्स्की की जरूरत नही। क्योंकि यहा हमारा उद्देश्य तो कुछ पौराणिक कथाओं और कर्मकांड की आदिम जड़ों का पता लगाना है जो सभ्यता के प्रारंभ और वस्तुतः आज तक भी बची रह गई हैं। चूंकि समकालीन भारतीय समाज में प्रायः प्रत्येक ऐतिहासिक युग के चिह्न सुरक्षित किसी न किसी रूप मे हैं, इसलिए यहा यह काम बहुत कठिन नही है। ऐसे विश्लेषण के अभाव में भारतीय इतिहास को मजाक की सीमा तक विकृत किया गया है और भारतीय संस्कृति के बारे में गलतफहमी पैदा हुई है। सूक्ष्म धर्मचिंतन से, अथवा इस प्रकार के झूठे दावों से कि हम स्थूल भौतिकवाद से बहुत ऊपर उठे हुए हैं, इस ऐतिहासिक क्षति की पूर्ति असंभव है।

भारत मे जो सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से सबसे ज्यादा पिछड़े हुए हैं, उन लोगों के धार्मिक अनुष्ठानों से यह मालूम होता है कि लोगो के खास-खास समूह उत्पादन करने वाले उच्चतर समाज मे कैसे प्रवेश पा गए। सामान्यतः यह बात समाज के ऊंची श्रेणी के समूहों पर भी लागू होती है। जाति और धर्म से युक्त, आदिम अनुष्ठानों के बचे हुए अंश खास-खास समूह को संगठित रखे हुए हैं। उनसे उस समूह के बारे में भी जानकारी होती है जो दूसरे समूहों की तुलना मे अधिक मिश्रित और संगठित हैं। आर्थिक स्थिति बदलने से जाति ही नहीं, कभी-कभी संप्रदाय तक बदल गए हैं। यह बात हाल-हाल तक होती रही है। यह एक विचारणीय समस्या है कि ऐसा क्यों होता है कि संप्रदाय कभी तो आपस मे घुलमिल जाते हैं और कभी ऐसा होना असंभव हो जाता है। निश्चय ही इस प्रश्न का उत्तर शंकर और रामानुज के उच्च स्तर के दार्शनिक चिंतन मे नही मिल सकता। क्योंकि इसका वहां कोई अस्तित्व नही है। बात यह है कि संप्रदाय आपस में नही टकराते, टकराते हैं संप्रदाय को माननेवाले लोग, जो कि एक-दूसरे से सहमत नहीं हो पाते। समाज मे शंकर और रामानुज के अनुयायी एक-दूसरे से बुरी तरह टकराते रहे। उनके सिद्धांतों मे जो सूक्ष्म अंतर है उसके आधार पर वे शारीरिक हिंसा को उचित नही ठहरा सकते। इन दोनो संप्रदायो को अलगाने वाला जो सूक्ष्म शास्त्रीय विवेचन है वह वाकई सिरदर्द पैदा करने वाला है, लेकिन इसका मतलब यह नही कि उसमें ऐसी बातें भी है

कि कोई उनको लेकर के सिरफुड़ोबल पर उतर आए।

शिव कई तरीकों से पूजे जाने के क्रम में पत्थर से बढ़कर धीरे-धीरे कुछ लोगों के लिए सबसे बड़े देवता हो गए। एक अवस्था थी जब शिव के समान स्तर वाले देवताओं को अनेक प्रकार की मातृदेवियों के साथ जो पहले प्रधान देवता थी कमोवेश संघर्ष करना पड़ा। मोहनजोदड़ो की मुहरों में जिस नंगे त्रिमुख देवता (तीन मुंह वाले) की छाप मिली है (चित्र-1), बहुत संभव है कि यह आधुनिक शिव का मूल रूप हो। लेकिन उसमें फर्क यह है कि वह देवता अपने मुकुट पर भैंसे के सींग धारण किए हुए हैं। यह सिर्फ संयोग की बात नही हो सकती कि इस ग्राम्य महिष-देवता म्हसोबा को महिषासुर से अभिन्न भी समझा गया है: महिषासुर, जिसका मर्दन करके पार्वती ने महिषासुर-मर्दिनी की उपाधि पाई (चित्र-2)। इन निबंधों में से एक में बताया गया है कि योगेश्वरी के रूप में पार्वती समय-समय पर म्हसोबा के तुल्य एक देवता को ब्याही गई जिनका रूप कुछ-कुछ शिव-भैरव से मिलता दीख पड़ता है। इससे कालीघाट की चित्रकारी तथा दूसरी मूर्तियों पर कुछ प्रकाश पड़ेगा, जिनमें काली के रूप मे पार्वती को शिव का धरती पर पड़ा हुआ शरीर, संभवतः उनका मृत शरीर, पददलित करते

1. सिंधु की मुहर पर त्रिमूर्ति देवता

2. महिषासुर मर्दिनी
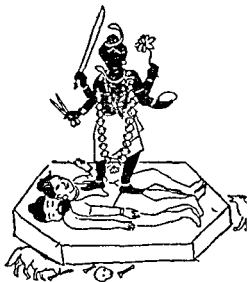
3 मृत शिव को पददलित करती हुई पार्वती, इससे शिव युवा रूप मे पुन. जीवित हो गए।

हुए दिखलाया गया है (चित्र-3)। पार्वती के जीवनदायक पांवों के प्रभाव से शिव फिर जी उठे, यह स्पष्टतः बाद में जोड़ा गया एक क्षेपक है। इसका उद्देश्य है उस संघर्ष की भयानकता को समाप्त करना, और यह एक ऐसा तथ्य है जिसे हम नकार नही सकते। शिव ने पार्वती से विवाह कर लिया और इस प्रकार उनके साथ जुड़े रह गए, फिर भी, ऐसा माना जाता है कि बाद मे पार्वती ने शिव को पांसे के

4. शिव और उनकी गृहस्थी (शिव पञ्चायतन)

वाई की 18वीं शताब्दी (पेशवा काल) के चित्र से। मुख्य आकृतियां शिव गणेश, पार्वती और स्कन्द की है। सहगामी जो मूलत पिशाच थे दरबारी और सेवक बन गए हैं। सोपानों पर शिव का बैल (नंदी) तथा गणेश का चूहा है, स्कन्द का वाहन मोर यहां चित्रित नही है।

खेल में हराकर उन्हें नंगा कर दिया। शिव के संगी-साथी हैं : नंदी, फणधारी सांप, तरह-तरह के भूत-पिशाच और हाथी के सिर वाले गणेश और छ: मुह वाले स्कन्द (चित्र-4)। ध्यान देने की बात यह है कि पार्वती के गर्भ से उत्पन्न पुत्र शिव का औरस पुत्र नही था। इसलिए उन्होंने उसका सिर काट डाला। पौराणिक कथा के अनुसार, बाद मे उसमे हाथी का सिर जोड़ दिया गया। उसी प्रकार, स्कंद शिव के वीर्य से उत्पन्न तो था लेकिन पार्वती के गर्भ से नही। शिव को बारीक सिद्धातो की ऊंचाई पर पहुचाकर हम जटिल मूर्ति विद्या और हास्यास्पद रूप से उलझी हुई पुराण कथाओं की व्याख्या नही कर सकते। अगर हम उस ओर ध्यान दें कि शिव एक ब्रह्मांड नर्तक है (चित्र-5) और अधिकाश आदिम अनुष्ठानो में, जोकि उर्वरता के लिए संपन्न होते थे, जनजाति के चिकित्सक या ओझा का नाचना जरूरी होता

है, तो बात साफ हो जाती है। इसके लिए हम ले ट्राय फेरे (चित्र-6) या फ्रांसीसी पाषाणकाल के ब्लोटिन का मिलान मध्य काल के नाचते हुए शिव-नटराज और भैंसे के सींग वाले सिंधु घाटी के शिव से करना है। कभी-कभी हाथी के मुख वाले गणेश भी नर्तक के रूप में (चित्र-7) दिखाई देते हैं। क्या यूरोप के हिमयुगीन नर्तक (चित्र-8) से, जो एक विशाल मुखौटा पहने रहता है और अपनी बांहों से हाथी के दांतों का अनुकरण करता है, उनका बिलकुल ही कोई संबंध नही है? क्या ऐसे नर्तकों की सहायता से यह बात समझाई नही जा सकती कि क्यो गणेश के बारे मे ऐसा ख्याल है कि उनके एक ही दांत है? भारतीय जनजाति का नर्तक दो

5. शिव, नटराज के रूप में

6. मुखौटाधारी नर्तक का फ्रांसीसी, हिमयुगीन कंदरा चित्र (ले ट्राय फेरे)

7. नाचते हुए गणेश

बांहों से सूंड और दोनों दांतों का अनुकरण करने में असमर्थ था। एक हाथ पर पहाड़ उठाए हुए बंदर के मुह वाले हनुमान का कूदना-फांदना (चित्र-9) वैसा ही है, जैसा

किसी नाचते हुए शक्तिशाली जंगली व्यक्ति का कूदना-फांदना। हनुमत का अर्थ है ठुड्डी वाला। यह मनुष्य की एक ऐसी शारीरिक विशेषता है जो बंदर में नहीं पाई जाती। दक्षिण कोंकण के होली जैसे वसंतोत्सव पर हनुमान के रूप में नर्तक आवेश में ऊंची छलांग लगाते हैं। ये बातें ऐसी नहीं हैं जिनसे शिव को मूल ब्रह्मांड तत्व और उनके नृत्य को संपूर्ण विश्व को प्रेरणा मानने वालों को कोई ठेस पहुंचे। ये ऐसे लोग हैं जिन्होंने आदिम मनुष्य की मूर्ति अपने मन से निकालकर भले नहीं फेंकी हो, किंतु उसकी संकुचित विचारधारा से ऊपर उठने का प्रयत्न अवश्य किया है।

8. हिमयुगीन काल का भीमकाय मर्कट 9. हनुमान

2. संसार के और बहुत से भाग ऐसी अवस्थाओं से गुजरे हैं। यूरोप और ब्रिटिश द्वीपों के बाद अमरीका, ये भी ऐसे ही भाग हैं। समकालीन अमरीका ने भी बहुत से ऐसे विश्वासों को बनाए रखा है, जिनसे हमारे मन में भारत के अतीत की याद ताजा हो जाती है। पश्चिम का इतिहास बताता है कि यहां ऐसे परिवर्तन के पीछे कहीं ज्यादा जोर दिया जा रहा है। राबर्ट ग्रेव्स ने अपनी 'व्हाइट गॉडेस' शीर्षक कविता में इसी बात की ओर संकेत किया है :

Swordsman of the narrow lips,
Narrow hips and murderous mind
Fenced with chariots and ships,
By your jaculators hailed
The mailed wonder of mankind,
Far to westward have you sailed.

You who, capped with lunar gold
Like an old and savage dunce,
Let the central hearth go cold
Grinned, and left us here your sword
Warden of sick fields that once
Sprouted of their own accord.

वीरता और आगे चलकर प्रेम, बल्कि हिंसा और काम, यही वे तत्व हैं जिन पर संपूर्ण यूरोप की सांस्कृतिक और साहित्यिक परंपरा आधारित है। इसके विपरीत, भारतीय परंपरा मे धर्म और प्रेम (या अंधविश्वास और काम) का समन्वय हुआ है। ईलियड भी महाभारत की तरह एक युद्ध महाकाव्य है। वर्तमान महाभारत में कथा का मुख्यसूत्र छोटी-छोटी कथाओं-उपाख्यानों मे खो गया है। ये छोटी-छोटी कथाएं पुरोहितों के वाग्जाल अथवा दार्शनिको के उपदेशों में युद्ध की कथा को तिरोहित कर देती हैं। अभी महाभारत जिस रूप में मिलता है, उसका न तो कोई आकार है और न ही उसमे कोई क्रम है। यूनानी वीरों ने भी दार्शनिक प्रवचन किए थे। प्राइअम के अरक्षित बेटे से, जो अंगूर के बाग मे घूमते समय पकड़ लिया जाता है, अकिल्लीज कहता है :

Far better than thou was Patroclus; he could not choase but die ?
Seest not thcu how goodly and fair and tall am I ?
A princely father begat me, a goddess mother bore;
Yet my death and the o'ermastering doom are hard by the door.
It shall hap in the dawn or the eventide or at the noon of the day
That someone shall take my life, even mine, in the midst of the fray.

यह एक स्पष्ट दर्शन है, जिसमे न दया है, न भय और न हिचक। इसीसे अकिल्लीज इत्मीनान से उस निर्दोप नौजवान का गला काट सका। लड़ाई के मैदान मे भारतीयों में भी बड़े से बड़ा जुल्म करने की प्रथा क्यों न प्रचलित रही हो किंतु यह न तो भारतीय परंपरा के अनुकूल है और न भारतीय योद्धा वर्ग की रीति के, इस विषय में यूरोपीय सूरमा बेओवुल्फ की दृष्टि एकदम स्पष्ट थी। लड़ाई के मैदान में धर्म और अधर्म का विचार कैसा? इसीलिए वह जब भी तलवार उठाता था तो पूरा पिशाच बन जाता था। शांसों-द-रोलां का सैनिक इतिहास अब इतिहास न रहकर पुराण हो गया है, पर ईसाई धर्म के लिए उसका महत्व वैसा नही है जैसा हिंदू धर्म के लिए भगवद्गीता सहित महाभारत का है। पुल पर होरेशस, ग्रेटिटर-दस्ट्रोग, हियरवार्ड-द-वेक और बस्सी-द-ऐम्वायस बहादुरी मे इनकी तुलना भारतीय महाकाव्य के कर्ण, भीष्म और अभिमन्यु जैसे पात्रो से भले कर ली जाए, पर चरित्रनिर्माण की दृष्टि से ये इनसे एकदम भिन्न है। यूरोप के वीरो का

पराक्रम सिर्फ अपने लिए है, जबकि भारतीय वीरों का पराक्रम शिव और अशिव शक्तियों से संबद्ध है। इसलिए भारतीय वीर प्रतीक बना दिए गए हैं। सामंत काल के अंत में कैरोलिजियन-चक्र मे प्रेमकथा का एक नया तत्व जुड़ गया। प्रेम और पराक्रम का सयोग राजस्थान की प्रसिद्ध रासो वीरगाथाओं में भी है, लेकिन इन दोनों मे जमीन-आसमान का फर्क है। महाभारत की कथा विकृति का प्रभाव पृथ्वीराज रासो पर भी पडा। पश्चिम की क्रूरता से भरी हुई परपरा पर जिन्हे खेद है, वे जरा इस तथ्य को भी देखें कि यूनानी सती प्रथा तो ग्रीक इतिहास के प्रभातकाल में ही लुप्त हो गई थी, जबकि भारत मे विधवाओं को जिंदा जला डालने की प्रथा को जोरदार समर्थन मध्यकाल और सामतकाल में मिला। भारतीय दर्शन की बेहतरीन बातें तो उन दिनों भी यहा मौजूद थी, लेकिन आचरण से उनका कोई संबध नही था।

अकिलीज नामक व्यक्ति यूनान मे कास्य युग मे हुआ अवश्य था, भले ही उसने होमर द्वारा वर्णित कार्य किए हो या नही। उसकी कहानी की युद्ध संबंधी छिटपुट घटनाओं से इतिहास की कुछ झलक मिल सकती है, पर उसकी वीरगाथा कोई प्रामाणिक इतिहास नही है। दो उदाहरण काफी है। इंग्लैंड की भूमि। सन 1265 के अगस्त का एक सर्द दिन। अर्ल साइमन-ड-मौटफार्ट दुश्मनों से घिर जाता है। वह देखता है कि राजकुमार एडवर्ड की सेना घेरा बनाकर बढती चली आ रही है और समझ जाता है कि उसके दिन अब लद गए। अचानक उसके मुंह से निकल पडता है : 'किस तरह ये दुष्ट बढे आ रहे है!' उसके बाद वह एक आह के साथ कहता है : 'इन्होने मुझी से यह सीखा था!' यह एक व्यक्तिगत त्रासदी है जिससे इतिहास की कोई छिपी बात जाहिर नही होती। तथ्य यह है कि यह दर्दीली उक्ति कहने वाले व्यक्ति ने पार्लियामेंट की स्थापना की थी, और अब उसकी मृत्यु से यह साबित होना था कि उसी पार्लियामेंट से अब यह मतलब सधने वाला नही है कि इंग्लैंड का राजा अपने वैरियो के हाथ का कठपुतली बना रहे। लेकिन इस तथ्य का प्रतिपादन खुद हम लोगों को ही अन्यान्य स्रोतों के सहारे करना पडेगा। ईपमाइनाडस के अंतिम शब्दों पर ध्यान दें तो हमारी बात और स्पष्ट हो जाएगी। मेंटीनीइया की घमासान लड़ाई में ठीक जीत के समय घायल होकर गिरने पर उस बहादुर ने चाहा कि बाकी लड़ाई के संचालन का भार किसी दूसरे को सौंप दे। उसने आदेश दिया : 'डीओफेंटस को बुलाओ।' उसे उत्तर मिला : 'वह लड़ते हुए काम आ चुका है।' उसने फिर कहा : 'आइयोलेंडस को बुलाओ।' उसे फिर उत्तर मिला : 'वह भी मर चुका है।' आखिरी सांस छोड़ते हुए उस जनरल ने कहा : 'तब तुम दुश्मन से जरूर सुलह कर लो।' उसने छाती में धंसे हुए बाण की नोक को बाहर निकाला और दम तोड दिया। लड़ाई के मैदान में, क्या दोस्त और क्या दुश्मन, सबके सब हक्का-बक्का रह गए। पूरी ब्वायशोशियन सेना मे तीसरा ऐसा कोई व्यक्ति नही था जो बचे-खुचे दुश्मनों का सफाया करने के लिए लड़ाई का संचालन कर पाता। यूनान के संपूर्ण इतिहास में इन शब्दों से बढ़कर करुणापूर्ण कोई उक्ति शायद ही मिले। कारण यह है कि इन शब्दों

मे यूनान के उन छोटे-छोटे नगर-राज्यों की व्यथा व्यक्त हुई है जो एक भयानक दुर्भाग्य से ग्रस्त थे। उन्हे न तो शांति के साथ एक-दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए रहना मंजूर था, न बाहरी आक्रमण को रोकने के लिए संगठित होना। जब किसी लड़ाई में मकदूनिया की सेना का कोई जत्था थीब्ज की सेना का सफाया कर डालता था तब किस साहस से सिल्ला की सेना की छोटी सी टुकड़ी बवंडर की भांति हैल्लास का हुलिया बिगाड़ देती थी और किस तरह मम्मीयस घृणा के भाव से कोरिंथ को बिलकुल रौंद डालता था—पुराने दिनो की ये सारी स्मृतिया मरते दम निकले ईपमाईनाडस के उपरोक्त शब्दों में प्रतिबिंबित हो उठी हैं।

3. यूरोपीय हिमयुग के चित्रों और कुछ देवताओं के आधुनिक भारतीय अंकनो में समानता होने का मतलब यह नहीं है कि इनमे सीधा वंशगत संबंध है। नाना
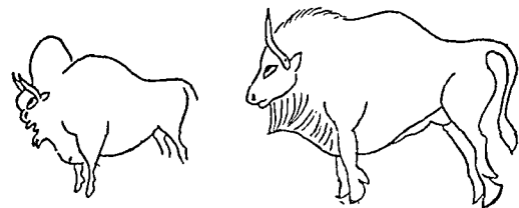
10. औरगनेसियनकालीन रेखाचित्र फलक जिनसे पूरे आकार का प्रतिचित्र बना लिया जाता था; इसका आकारमान लगभग 3 1/2" है।

प्रकार के सिद्धांतो की चर्चा करने के बदले मैं सिर्फ यह कहना चाहूंगा कि समान ढंग से जीवन बिताने वाले लोग समान पंथ या पूजापद्धतियां भी निकाल लेते हैं। उदाहरण के लिए, हमारे पास ऐसे अनेक रेखाचित्र-फलक हैं जिनके आधार पर औरिगनैसियन फ्रांस मे (चित्र-10) गुफाओं में चित्र बनाने वाले कलाकार लोग

पशुओं का पूरे आकार का चित्र बनाते थे। हूबहू उसी का दुहरा अंकन उर्वरता बढ़ाने अथवा आखेट में सफलता पाने के लिए किया जाता था। कर्मकांड में इस पुनरावृत्ति का महत्व बाद के काल में भी बना रहा है। इसके लिए सिंधु घाटी में लगभग रेखाचित्र-फलक जितनी बड़ी एक छापेवाली मुहर काम में लाई जाती थी। उस पर मुख्यतः किसी पशु की आकृति बनी होती थी। शुरू में मिट्टी पर मुहर से छाप लगाने का कोई धार्मिक अर्थ था। बेलन के आकार वाली धार्मिक मुहरें मेसोपोटामिया में प्राप्त हुई हैं। सिंधु घाटी की अनेक मुहरों में कोई छाप नहीं है। ये संभवतः वाणिज्य में पार्सल के काम में लाई जाती रही हैं। मुहर लगा देने से पार्सल की रक्षा इसलिए हो जाती थी कि उसके साथ धार्मिक भावना जुड़ जाती थी। यह तो बहुत बाद में जाकर समझा गया, जबकि समाज भरपूर विकसित हो चुका था कि मुहर की अविकलता का मतलब है पार्सल का अक्षुण्ण रहना। !
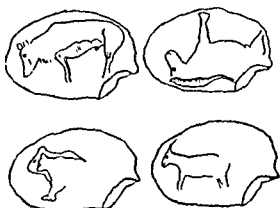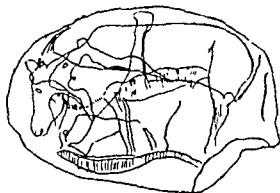
11. यूरोप के अनेक रूप हिमयुगीन रेखाचित्र फलक

इनमें से कुछ रेखाचित्र-फलक ऐसे हैं कि पत्थर के एक छोटे से टुकड़े पर अनेक रेखाचित्र आंक दिए गए हैं (चित्र-11)। इनमें प्रयुक्त रेखांकन के विकास पर गौर करें तो स्पष्ट हो जाएगा कि अनेक प्रकार की काल्पनिक संकर आकृतियों (हाइब्रिड) और असंगत कल्पनाओं का आविर्भाव इन रेखाचित्रों के तालमेल का ही परिणाम है। अनेक प्रकार के गणचिह्नों (टोटेम) के साथ मनुष्य समूहों का तालमेल तो इस विषय में निश्चय ही और भी सहायक हुआ होगा। एक सिंधु मुहर (चित्र-12) पर अंकित नर-व्याघ्र (मनुष्य और बाघ की मिश्रित आकृति), जो कि विष्णु के अवतार नरसिंह (चित्र-1.8) का प्रारंभिक रूप हो सकता है, इसी (सम्मरण की) प्रेरणा की देन है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की मुहरों में ऐसी बहुत सी संकर

आकृतिया प्राप्त हुई हैं। इससे साबित होता है कि आकृतियों के सम्मिश्रण की रीति उन दिनो बहुत प्रचलित थी। दक्षिण की गज-सिंह (हाथी और सिंह की मिश्रित) आकृति (याली) भी इसी चित्रसंकरण युग की रचना है। तमिलनाडु मे आजकल इसका धार्मिक अभिप्राय यह बतलाया जाता है कि नरसिंहावतार जब नियंत्रण से बाहर हो गया तब अपने इस विकराल रूप का दमन करने के लिए स्वयं विष्णु को 'याली' के रूप मे अवतार लेना पड़ा। हेनरी फ्रैंकफर्ट की एक जमदेत-नस्र मुहर पर गज-वृषभ अथवा वृष-गज की विचित्राकृति तो देखने को मिली ही थी। इससे इस बात का सबूत मिलता है कि अत्यंत प्राचीन काल मे मेसोपोटामिया और सिंधु की संस्कृतियों में घनिष्ठ संबंध था। शायद लोग भी एक ही स्तर के थे। मेरे विचार से अर्धनारीश्वर (चित्र 13) मे दो देवताओं को इस तरह मिला दिया गया है कि दोनो के प्रति श्रद्धा प्रकट की जाए। इसमें संदेह नहीं कि शिव का पार्वती से विवाह बाद की घटना है। यह उस युग की घटना है, जब समाज विशेष में विवाह एक उत्तम संस्कार बन चुका था और उसे आमतौर पर मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। इस व्याख्या मे दो दोषो से बचा गया है: पुराणकथा को अकारण ऐतिहासिक सत्य सिद्ध करने से और रहस्यवादियो या धर्मशास्त्रियों की तरह वास्तविकता को नजरअंदाज करने से।

12. सिंधु मुहर पर नर-व्याघ्र

भारत लंबे अरसे तक एक उपनिवेश के रूप मे अधीनस्यता का अपमान झेलता आया है जिसकी स्मृति का तीव्र दंशन आज भी बरकरार है। अतः कुछ अंशो मे इस कारण से भी संभव है कि भारतीय बुद्धिजीवियों को आदिम मूल के भीतर से भारतीय धर्मदर्शन के उद्‌भव की बात स्वीकार्य न हो और वे इस सत्य का सामना न करना चाहें कि इस देश में आदिम विश्वास अभी भी बचे हुए हैं। लेकिन असली कठिनाई तो इस बात को न समझ पाने मे है कि आदिम अनुष्ठान जब पहले-पहल प्रचलित हुए थे, तब उनका उद्देश्य एकदम भिन्न था। होली जैसे वसंतोत्सव को ही लीजिए, जो अब कानून और जनता दोनों की दृष्टि मे उच्छृंखलतापूर्ण और अश्लील समझा जाता है। खोज की जाए तो इसका स्रोत आदिम जंगलीपन मे ढूंढ़ निकाला जा सकता है। फिर भी, ऐसे जमाने में, जबकि जीवित रहने के लिए बहुत कम आहार प्राप्त होता था और अन्न इकट्‌ठा करना एक आम रिवाज था, बच्चे पैदा करने के लिए काफी उत्तेजना की आवश्यकता थी। जाति को जिलाए रखने के लिए ही अश्लीलता को स्वीकार किया गया था। लेकिन मूल उत्सव

13. उभयलिंगी अर्धनारीश्वर शिव-पार्वती प्रतिमा

का रूप कभी विकृत नही रहा। हा, तब उसका रूप विकृत जरूर हो गया, जब खेती के लिए कठिन परिश्रम और नियमित आहार आवश्यक हो गया और उसी के अनुसार मनुष्य की प्रवृत्ति तथा यौन व्यवहार में भी परिवर्तन हुआ। उसी तरह, उपनिषदों की पहेलिया भी, जिनमे रहस्यवाद और दर्शन की अधिकता है, सरोवर पर आने वालों से यज्ञों द्वारा पूछी गई पहेलियों से महज एक सीढी ऊपर की चीज हैं। प्राचीन काल मे ऐसी पहेलियों का गलत उत्तर देने वालो का वध कर दिया जाता था। इस यज्ञ अथवा उनके प्रतिनिधि मनुष्य एक भयकर अभिशाप के समान थे, जैसाकि पालि के धर्मग्रंथ से साबित होता है।

अगुत्तर निकाय के पंचक निपात मे कहा है कि आजकल की मधुरा (मथुरा) पर्यटकभिक्खुओ के लिए पाच विकट परीक्षाए रखती है : ऊबड-खाबड सड़कें, अत्यधिक धूल, खूखार कुत्ते, निर्दयी यज्ञ और अकाल। ये पांचों बातें भिक्खुओ के लिए, जो कि आजकल के भिखारियों के नही बल्कि अन्न इकट्ठा करने वालों की परंपरा के प्रतिनिधि थे, बहुत ही क्लेशकर रही होगी। अंत में मैं उन लोगों से, जिन्हे गणचिह्न वाले बंदर नर्तक हनुमान के संबंध मे मेरी व्याख्या पसंद नही है, यह निवेदन करना चाहूंगा कि वे जरा दसवी से बारहवी सदी के कुछ कनारी सामंतों के विचित्र खानदानी दावे पर गौर करें। पुराणो से तो इनके संबध मे कई ऊंची वशावलिया प्राप्त थी, फिर भी, ये अपने इस दावे पर अडे रहे कि वे रामायण के बंदरों के राजा वालि के वंशज हैं (ई० आइ० 13.186; एपि० कर्ण० 4, वाइ० एल० 25; आइ० ए० 1901. 110, 260)। निश्चय ही आदिम अंधविश्वास उतना बुरा नही था, जितना बुरा आज के समृद्ध समाज का आर्थिक दर्शन है जिसकी प्रेरणा से आज भूखी दुनिया में फालतू अन्न और आलू नष्ट कर दिया जाता है। इसी तरह, आज का राजनीतिक दर्शन एटम बम के प्रयोग को ही समस्या को सुलझाने का सबसे बड़ा साधन मानता है।

इन निबंधो का उद्देश्य फैसला करना नही बल्कि अपनी बुद्धि के अनुसार विषय का विश्लेषण करना है। सिद्धांत बनाने के पहले इस देश के प्रत्येक भाग में अनुसंधान के लिए और भी क्षेत्रकार्य करने की जरूरत है। मेरा यह कार्य, त्रुटियों के बावजूद, इसी की शुरुआत है।

इस पुस्तक का चौथा अध्याय अन्यत्र प्रकाशित नही हुआ है। विद लघु पाषाणो, कर्हा-भीमा पणढरी, पूना जिले के महापाषाणो, और बौद्ध गुफाओ के रेडियो कार्बनकाल निर्धारण की नई खोजें यहां पहली बार प्रकाशित की गई हैं। आवश्यक क्षेत्रीय शोधकार्य मे मुझे बहुतो से सहयोग मिला। खासकर डी० एस० चावड़ा और वी० एन० सीसोदिया ने मेरी बड़ी मदद की, मेरे लिए परिवहन की व्यवस्था की, जिसकी सख्त जरूरत थी। क्षेत्र में हमारे साथ आ मिले सर्वश्री पी० फैंकलिन, जी० सोन्थीमर, एस० तरुहर और टी० यमजकी। बहुसख्यक ग्रामीणो ने, जो अज्ञात ही रह जाएगें, अगर खुशी-खुशी जानकारी न दी होती तो कोई काम सिद्ध न हो पाता। अगर कभी ऐसा हो कि सबद्ध क्षेत्र में मोटरगाड़ियो, फोटोग्राफिक गैजिटो (जुगतों), टेपरेकार्डरो, चल प्रयोगशालाओ, सांडेज

उपकरणो और हैलिकाप्टरवाहित सर्वेक्षण उपस्करो सहित अभियान किया जाए तो वहाँ से और भी ज्यादा जानकारी हासिल की जा सकेगी।

पुस्तक के शेष अंश मे कई निबंध हैं जिन्हें पुन: प्रकाशनार्थ थोड़ा परिष्कृत कर दिया गया है। अध्याय-1 इंक्वाइरी-2 (1959) मे, और संशोधित रूप मे जे० ई० एस० एच० ओ०, जिल्द 4, 1960 मे प्रकाशित हुआ था। अध्याय 2 : 'जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बाबे,' जिल्द 27, 1951, पृष्ठ 1-30 मे, कुछ परिवर्धन सहित और सचित्र 'इंडियन स्टडीज पास्ट एंड प्रेजेंट,' जिल्द-1, स० 1, अक्टूबर, 1959, पृष्ठ 141-175 मे। अध्याय-3 · जे० आर० ए० एस०, 1960, पृष्ठ 17-31 और 135-144 मे। अध्याय 5 'जर्नल आफ द यूनिवर्सिटी आफ बाबे', 1947, जिल्द 15, भाग-4, पृष्ठ 63-78 मे। मे इन जर्नलों (पत्रिकाओ) के सपादको के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करता हू । चित्र, अधिकांशत मेरी पुत्री मीरा कोसांबी ने बनाए हैं। और, बी० मैलिनोव्स्की, एच० ओबरमेयर, एच० ब्रेउइल तथा एच० फ्रैंकफर्ट जैसे महामनीषियो का, और सबसे बढ़कर कार्ल मार्क्स का मैं कितना ऋणी हू, इसका पाठको को स्वय पता चल जाएगा।

भगवद्गीता के सामाजिक और आर्थिक पक्ष

भगवद्गीता, अर्थात भगवान का गीत, प्रसिद्ध भारतीय महाकाव्य 'महाभारत'[1] का एक अंग है। इसके 18 अध्यायों में संजय द्वारा वर्णित वह संवाद है जो पांडव वीर अर्जुन और उनके यदुवंशी सारथी, विष्णु के आठवें अवतार, श्रीकृष्ण के बीच हुआ था। वास्तविक युद्ध शुरू होने जा रहा है कि अचानक अर्जुन को यह सोचकर विराग हो जाता है कि उसे अपने भाई-बंधुओं का वध करना होगा। अर्जुन को उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण अपने दार्शनिक प्रवचन से उसकी एक-एक शंका का समाधान कर देते हैं और अंततः अर्जुन अंतर्द्वंद्व से मुक्त होकर इस महासंहारकारी युद्ध में पूरे मन से भाग लेने को तैयार हो जाता है। गीता ने ऐसे बहुतेरे लोगों को आकृष्ट किया है जिनकी मनोवृत्ति एक-दूसरे से तथा अर्जुन से बिलकुल भिन्न थी। गीता को भगवद्वचन समझा जाता है और इसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न अभिरुचिवालों ने ऐसे निराले ढंग से की है कि लगता है, मूलवस्तु ही कुछ ऐसी है जो आंतरिक भेद को मिटाने के बजाय ज्यादा शंकाएं और खंडित व्यक्तित्व पैदा करती है। वह नीति दर्शन अवश्य ही अत्यंत संदिग्ध है जिसकी व्याख्या विभिन्न समाजों में विकसित हुए दिमागों ने इतने विभिन्न रूपों में की हो। उसकी मौलिक मान्यता क्या रह जाती है, अगर उसका अर्थ इतना लचीला है? फिर भी, यह पुस्तक (गीता) उपयोगी तो है ही।

जिस तरह का वर्णन मिलता है, अगर महाभारत का युद्ध सचमुच ही उतने बड़े पैमाने पर लड़ा गया हो, तो दिल्ली और थानेश्वर के बीच के मैदान में 18 दिन के उस महायुद्ध में लगभग 50 लाख योद्धा एक-दूसरे से लड़ते हुए खेत रहे, लगभग 1,30,000 रथ (अश्वों सहित), उतने ही हाथी और उनके तिगुने घोड़े काम में लाए गए। इसका मतलब हुआ है कि योद्धा रूप में कम से कम उतने ही लश्करी और परि-

चारक भी रहे होंगे। इतनी बड़ी सेना तब तक नहीं जुटाई जा सकती थी जब तक कुल आबादी 20 करोड़ की न हो। भारतीय जनसंख्या ब्रिटिश काल आने तक भी इस हद को नहीं पहुंची थी। सच तो यह है कि हल-फल तथा कृषि औजारों के लिए भरपूर और सस्ता लोहा सुलभ हुए बिना इतनी बड़ी आबादी असंभव थी। निश्चय ही, ईसा पूर्व छठी शताब्दी से पहले, भारतीय किसानों को पर्याप्त लोहा उपलब्ध नहीं था। सबसे बडा सेना शिविर, जिसके विषय में प्रमाण प्राप्त है, चंद्रगुप्त मौर्य का था जिसमें 4,00,000 सैनिक थे। ज्ञातव्य है कि चंद्रगुप्त मौर्य के अधिकार मे नव-विकसित गंगा घाटी वाला अतिरिक्त क्षेत्र भी था। महाभारत में जो पत्ति, गुल्म, इत्यादि सामरिक इकाइयों का उल्लेख मिलता है वे वस्तुतः सार्थक तो मौर्यकाल के बाद ही हो पाईं। योद्धा लोग रथ पर सवार होकर धनुप-बाण से युद्ध करते थे, मानो बहुसंख्यक अश्वारोही (घुड़सवार) सेना का अस्तित्व ही नही था। प्राचीन भारतीय युद्ध में अश्वारोही सेना का आविर्भाव अपेक्षाकृत बाद मे हुआ और इसने सामरिक रथों को निकम्मा साबित कर दिया, जैसा कि पंजाब में सिकंदर ने किया था।

प्राचीन होमर शैली की गाथाओं के समान, यह महाकाव्य विजेताओं के दरबार में गाई जानेवाली विरुदावली के रूप में शुरू हुआ है। विलाप पर संभवतः विडंबना का झीना पर्दा पड़ा हुआ है। हारे हुए कौरवों का नाम (कुरु धम्म जातक जैसे) उपाख्यान में शेष रह गया कि साधुता और सच्चरित्रता मे वे अद्वितीय थे। कृष्ण नारायण का तो प्रथम संबद्ध वीरगाथा मे भी कही कोई स्थान नहीं है। पाठकों को अगर इसमे संदेह हो तो वे वर्तमान महाभारत के अंतिम सर्ग पढ़ जाएं। पाडवों को अंत मे अपमानपूर्ण बुढ़ापा झेलना पड़ता है और वन-विजन में उनकी मृत्यु हो जाती है। उनके शत्रुओं को स्वर्गप्राप्ति तो इस तरह हो जाती है मानो यह उनका अधिकार हो, लेकिन पाडव वीर, अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर के दीर्घ और सुदृढ़ प्रयास के पश्चात ही, यातनामय नरक से स्वर्ग में पहुंचाए जाते हैं। सरसरी निगाह से देखने पर भी साफ जाहिर है कि यह स्वर्ग वही पुराना देवलोक है, इंद्र और यम का, कृष्ण नारायण इसके अधिपति नहीं बल्कि एक कोने मे घुसे पड़े नगण्य व्यक्तित्व है।

दीघ निकाय (दी० नि० 32) और ऐतरेय ब्राह्मण (ऐ० ब्रा-8. 14, 8. 23) मे जिन पवित्र और अजेय उत्तर कुरुओं के पौराणिक आदर्श चरितों का उल्लेख है। उनको और दिल्ली-मेरठ के पास के निवासी इतिहासकालीन कुरुओं को एक नही समझ लेना चाहिए। बुद्ध ने अपने कई उपदेश कुरुभूमि स्थित कम्मास दम्म नामक बस्ती मे दिए थे (मज्झिम निकाय 10, 75, 106) हालांकि ऐसा प्रतीत होता है कि कुरुओं की राजधानी थुल्लकोट्ठित मे थी (म० नि० 82)। जहां किसी अज्ञात, छोटे से जनजातीय कुरु सरदार का निवास था। संभवतः यह सरदार विजेता पांडवों का वंशज था जिनकी बडाई में महाभारत महाकाव्य ने आसमान-जमीन के कुलावे एक कर दिए हैं। यह नगण्य राज्य या तो क्रमशः लुप्त हो गया या यह भी उन्ही कबीला समूहों में था जिन्हें पंजाब में सिकंदर के धावे के कुछ वर्ष पूर्व, मगधराज महापद्म

नंद ने (कबीला समूहों) एक-एक कर नष्ट कर दिया। ईसा पूर्व 470 मे विनष्ट कर दिए गए लिच्छवि और मल्ल नामक स्वल्पतंत्रों के समान इस लघु राज्य का भी, वर्ग-व्यवस्थायुक्त पूर्णांग राज्य नहीं बल्कि कबीले (या जनजाति) के रूप में, अर्थशास्त्र के ग्यारहवें ग्रंथ मे उल्लेख मिलता है। जहा तक नारायण की बात है, यह ज्ञातव्य है कि मगलाचरण का वह प्रसिद्ध प्रारंभिक श्लोक नारायणं नमस्कृत्य, जो वर्तमान संपूर्ण महाभारत को एक वैष्णव ग्रथ बना देता है, वा० सि० सुकथंकर द्वारा 1933 मे संपादित पाठ मे नही है, उसे बाद मे घुसेड़ा गया क्षेपक मानकर हटा दिया गया है।

किस वर्ग के लिए ?

गीता ने बहुतेरे महापुरुषों को अत्यंत प्रभावित किया है जैसे, महात्मा गांधी, बा० ग० तिलक, 13वी सदी के महाराष्ट्री सुधारक ज्ञानेश्वर, उनसे पूर्व के वैष्णव आचार्य रामानुज और उनसे भी पूर्व के शंकर[3]। यद्यपि भारत को ब्रिटिश शासन से मुक्ति दिलाने के लिए प्रचंड युद्ध तो श्री तिलक और महात्माजी दोनो ने किया, फिर भी, गीता से इन दोनों ने निश्चय ही एक सी कर्मप्रेरणा नही ग्रहण की। अरविंद घोष, भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम से विरत होकर गीता के एकाग्र अध्ययन मे लग गए। लोकमान्य तिलक को गीता के ज्ञानेश्वरी भाष्य का ज्ञान था तो सही, किंतु उनका गीता रहस्य उस भाष्य पर आधारित नही है। स्वयं ज्ञानेश्वर ने भी अपने स्वतंत्र भाष्य मे न तो गीता के शंकर भाष्य का अनुसरण किया न रामानुज का ही। परंपरा-नुसार वे तो नाथ संप्रदाय के थे। शंकर के उदय के साथ पूर्ववत शैवों की बढती-चढ़ती हो गई। उन लोगो के साथ वैष्णवो का जो तीव्र विवाद हुआ उसे रामानुज द्वारा प्रतिपादित वैष्णव मत ने एक सुरक्षित आधार पर प्रतिष्ठित कर दिया। तब, प्रश्न यह उठता है कि शकर भी क्यों भगवद्गीता की ओर उन्मुख हुए।

ऐसी कौन सी सर्वमान्य बात थी जिससे इन विशिष्ट विचारको को भगवद्-गीता का आश्रय ग्रहण करना पड गया, जबकि सामान्यजन इससे कटे रहे, यहां तक कि उनके अपने वर्ग के भी सामान्यजन को इसकी कोई जरूरत महसूस नही हुई ? ये सभी विचारक हिंदू थे और इत्मीनान की जिंदगी बिताने वाले वर्ग के थे। गीता के प्रति इनका ऐसा झुकाव गौर करने की बात है क्योंकि जब हम इनके मुका-बले मे जनसाधारण वर्ग से आए हुए कवि उपदेशकों को देखते हैं तो पाते है कि उनका काम तो गीता का आश्रय लिए बिना ही बडे मजे मे चल गया। बनारस के जुलाहे कबीर को देखिए, जिनके अनुयायी हिंदू भी थे और मुसलमान भी, कितनी सरल भाषा का प्रयोग किया है, पर उपदेश कितना गहरा। तुकाराम को गीता का ज्ञान ज्ञानेश्वरी के जरिए हासिल हो चुका था लेकिन उनकी विष्णु उपासना का अपना ढग था, वे इंद्रायणी और पावना नदियो के संगम के समीप स्थित प्राचीन (बौद्ध और प्राकृतिक) गुफाओं मे बैठकर ईश्वर का ध्यान तथा समकालीन समाज विषयक चिंतन किया करते थे। जयदेव कृत गीत-गोविंद, जो इतनी संगीतात्मक और ऐसी उत्कृष्ट

कोटि की ललित साहित्यिक कृति है (और जो कृष्णभक्ति धारा की प्रेमतरंग और रहस्यलीला के आवेग से पूर्ण है), तथा चैतन्य द्वारा प्रवर्तित वैष्णव भक्ति आंदोलन, जो बंगीय कृषक समाज को अपने प्रेम-प्रवाह में बहा ले गया, इन दोनों में से एक की भी स्थापना गीता की आधारशिला पर नहीं हुई। सिखों के गुरु ग्रंथ साहब में संगृहीत विभिन्न वचनावलियों में जयदेव के श्लोक और महाराष्ट्रीय नामदेव के छंद तो हैं लेकिन उसने सीधे गीता से कोई भी सारभूत ज्ञान ग्रहण किया है इसका पता मुझे नहीं। आलंदी में प्रचलित ब्राह्मण-विश्वास का विरोध करने के कारण, ज्ञानेश्वर को लगभग 1290 ई० में भाग कर, रामचंद्र यादव के राज्यातर्गत गोदावरी के दक्षिण तट पर शरण लेनी पड़ी जहां उन्होंने आम जनता की भाषा में अपने प्रसिद्ध भाष्य की रचना की।

शंकर और रामानुज ने कौन सा ऐतिहासिक कार्य किया या उसके लिए प्रेरित किया, इसका पता हमें नहीं के बराबर है। इसी तरह, हमें तिलक के बारे में भी कोई जानकारी नहीं होती अगर सिर्फ उनका गीतारहस्य बच रहा होता। बहरहाल, लगभग 800 ई० में शंकर किसी न किसी रूप में सक्रिय अवश्य थे जिसका परिणाम हुआ (जैसा कि परंपरा कहती है) कि बहुत से बौद्ध मठ उजड़ गए। हिंदू अब सामान्यतः ऐसा मानते हैं कि शंकर को ऐसी सफलता सिर्फ अपनी तीव्र तर्कशक्ति और विवादकुशलता से प्राप्त हुई। शंकर रचित ग्रंथावली से, और उसमें सिद्धांत खंडन के क्रम में उन्होंने बौद्धमत को जिस रूप में प्रस्तुत किया है उससे, बस एक बात साफ जाहिर होती है कि उन्हें गौतम बुद्ध के मूल उपदेशों की जरा भी जानकारी नहीं थी। बहरहाल, मठों में प्रचलित बौद्धमत भ्रष्ट होकर लामावाद में परिणत हो गया था तथा बौद्धों के आश्रम वैभवशाली विहार बन गए थे जिनके भारी खर्चीलेपन से देश की अर्थव्यवस्था बहुत ज्यादा पीड़ित हो उठी थी। जो साक्ष्य हमारे सामने है उससे यह निष्कर्ष निकालना उचित प्रतीत होता है कि शंकर की सक्रियता से बौद्ध मठों (या विहारों) को उजाड़ देने की प्रेरणा प्राप्त हुई तथा रामानुज की क्रियाशीलता से उन समृद्धतर सामंतों के विरोध को बल मिला जिनकी शिवोपासना जनमानस में दमनकारी भूमि लगान के साथ जुड़ी थी। अन्यथा, इस प्रश्न का समाधान मिलना मुश्किल है कि उग्र स्मार्त-वैष्णव कुलवैर में समृद्धतर अभिजातिवर्गीय जमींदारों ने क्यों शिव को चुना एवं अपेक्षाकृत गरीब और निम्नवर्गीय लोगों ने बहुतायत से विष्णु को। अगर कहा जाए कि ये लोग विभिन्न धर्मदर्शन के चलते इस तरह लड़ पड़े तो यह विश्वास के योग्य बात नहीं है। शंकर ने उपनिषदों के भीतर से ज्ञान के दो अलग-अलग स्तर, उच्च और निम्न, खोज निकाले। इसके आधार पर हिंदू विश्वासों, समस्त उपकरणों को, चाहे उनका अर्थ कुछ भी रहा हो, उन्होंने निम्नतर पर रखा उन्हें मान्यता दी किंतु ज्ञान के उच्चस्तर में उन्हें कोई वास्तविकता नहीं दिखी। 'क या तो ख है या ख नहीं है' शंकर का तर्क इस तर्क-वाक्य के पीछे छिपे सत्य को नकारने से शुरू होता है।—मृत्यु होने पर आत्मा जब शरीर से मुक्त होती है तब वह

परब्रह्म मे विलीन हो जाती है, उससे पृथक उसका कोई अस्तित्व नही रह जाता। रामानुज का मत है कि यदि एक परब्रह्म की सत्ता है, जिससे सब कुछ उत्पन्न हुआ है, तो व्यष्टि आत्माओ एवं भौतिक द्रव्य (जड वस्तु) की भी अपनी-अपनी सत्ता है, और प्राणांत होने पर आत्मा परब्रह्म मे विलीन नही हो जाती बल्कि अपना आनंदमय अस्तित्व कायम रखती है। यह अवस्था भक्ति अर्थात ईश्वर मे आस्था और निष्ठा, द्वारा प्राप्त है। इस बात की कल्पना करना भी असंभव लगता है कि इन बारीक विचारों के खंडन-मंडन में उपस्थिति किए गए तर्कों से आम जनता आकृष्ट हो गई होगी और महज विशिष्टाद्वैत अथवा कट्टर द्वैतवाद की भावना ने लोगों को पागल बनाया होगा ? फिर पागलपन से भरे संघर्ष यहा हुए और सदियो तक होते रहे। साथ ही साथ, यहां यह भी हुआ कि संघर्षरत दोनों में से किसी भी पक्ष को गोमांस-भक्षी मुसलमान अधिपतियों की निष्ठा सहित सेवा करने पर कोई आपत्ति नही हुई। उन्होंने जब ब्राह्मणों को रौंद डाला तो कहीं कोई खेद या प्रतिशोध का भाव प्रकट नही किया गया और मंदिरों को अपवित्र कर डाला तो उन्हें किसी दैवी प्रकोप का भाजन नहीं होना पड़ा।

इससे निश्चित रूप से हम जिस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं वह यह है : अगर कोई सिद्ध करने पर तुल जाए तो वर्गव्यवस्था की प्रामाणिक सत्ता को नकारे बिना, वह गीता से वस्तुत कोई भी अर्थ निकाल सकता है। गीता ही ऐसा धर्मग्रंथ है जिससे, मान्य ब्राह्मण कर्मकांड का तिरस्कार किए बिना, किसी सामाजिक कार्रवाइयो के लिए प्रेरणा और औचित्य प्राप्त किया जा सकता था जो तत्कालीन ब्राह्मणों के आश्रयदाता शासकवर्ग की एक शाखा को किसी हद तक अप्रिय थी। ऊपर उल्लिखित प्रत्येक स्थिति से यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसी सामाजिक कार्यवाही महज वैयक्तिक अवसरवादिता नही थी। अब देखना यह है कि इस ग्रथ की ऐसी बेजोड प्रतिष्ठा क्यो कर प्राप्त हुई।

एक विशिष्ट क्षेपक

साफ जाहिर है कि भगवद्गीता उच्च-वर्गों के लिए ब्राह्मणो द्वारा, और उन्ही के द्वारा दूसरों के लिए भी गाई गई है। स्वय कृष्ण ने कहा है (गीता 9 32) : 'उनके लिए जो मेरी शरण मे आते है, भले ही वे पापयोनिवाले क्यो न हों, जैसे, स्त्रिया, वैश्य और शूद्र...।' तात्पर्य यह है कि सभी स्त्रिया और श्रमजीवी तथा उत्पादी वर्गों के सभी पुरुष अपने जन्म से ही कलुषित है, लेकिन वे भी उस ईश्वर में, जो अपनी मर्जी से उन्हे ऐसी नीच योनि मे गिरा देता है, निष्ठा रखकर अगले जन्म मे मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। यही क्यों गीता मे तो यह भी कहा गया है कि, ऐसे भेदभाव की सृष्टि स्वयं ईश्वर ने ही की है (गीता-4-13) : 'चातुर्वर्ण्यंमया सृष्टं (अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारो वर्णों के रूप मे मनुष्य जाति का वर्ग विभाजन मैंने ही किया है) *यह उद्घोषणा महान उपलब्धियों की सूची में है।*

निस्संदेह, सिद्धांत शाश्वत[3] नही होते हैं। नीतिशास्त्र का आविर्भाव तभी होता है जब उससे किसी सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति होती है। अन्न उत्पादन करने वाले समाज का (अन्न संग्रह करने वाले जनजातीय दलों के परस्पर विरोधी समुदायों से भिन्न) प्रारंभ तो बाद में और सुनिश्चित ऐतिहासिक काल में हुआ, अतः *जिन सिद्धांतों के सहारे यह व्यवस्था विकास की किसी निश्चित स्थिति में* काम कर सकती है वे सिद्धांत अनादिकाल से चले आ रहे हों यह असंभव है। गीता प्रत्येक पूर्ववर्ती सिद्धांत को बिना उसका नामोल्लेख या विश्लेषण किए, उत्कृष्ट और सहानुभूतिपूर्ण ढंग से उपस्थापित करती है और इसके बाद, जब अर्जुन पूछते हैं कि 'तव क्यों आप मुझे ऐसा घिनौना और प्रतिकूल कार्य करने को कहते हैं ?' तो बड़े कौशल मे दूसरे सिद्धांत पर उतर आती है। इस प्रकार, हमारे सामने ऐसी बहुतेरी विचार-धाराओं का अद्भुत सिंहावलोकन-संश्लेषण प्रस्तुत होता है जो कई बातों में परस्पर विरोधी थी। गीत मे छिपी इस असंगति को कभी प्रकाश में नही लाया गया है, जितने भी विचार हैं, सब बस एक ही दिव्य चित्त के पहलू हैं। प्रत्येक मत या संप्रदाय में जो सर्वोत्तम है उसे इस प्रकार ले लिया गया है मानो वह परम प्रभु से प्राप्त हुआ हो। यहां वह खंडन-मंडन कतई नही है जो कि तर्कप्रिय भारतीय दर्शन का विशेष लक्षण है, सिर्फ मीमांसकों के प्रिय विषय वैदिक कर्मकांड की यहा भरपूर निंदा की गई, है। इसमे उपनिषदों का भी बिना नामोल्लेख के ही सही, अच्छा निरूपण हुआ है, हालांकि भक्ति का बीज सिर्फ श्वेताश्वतर उपनिषद में मौजूद है और दीर्घ जन्म-जन्मातर-क्रम से पूर्णता की प्राप्ति वाला सिद्धांत तो किसी में नही है। कर्मफलन तो विशेष रूप से बौद्ध दर्शन है। बौद्धमत के बिना गीता, 2.55-72 (महात्मा गांधी के आश्रम मे प्रार्थना के रूप मे प्रतिदिन पाठ्य) का निरूपण संभव ही नही होता। गीता के 2-72 और 5-25 मे उल्लिखित ब्रह्मनिर्वाण बौद्धमतानुसार कर्मफल से मुक्ति की आदर्श अवस्था है। इसी प्रकार हम लोग सांख्य और मीमांसा जैसी अन्य अनिर्दिष्ट विचारधाराओं से लेकर पूर्व वेदांत तक खोज निकाल सकते हैं (देखें गीता-15-15, जिसकी पुष्टि गीता 13-4 से होती है जिसमें ब्रह्मसूत्र का हवाला दिया गया है)। इसके सहारे हम गीता का रचना काल सन 150 और 350 ई० के बीच मे कही निर्धारित कर सकते हैं, अधिक संभावना है कि 150 की अपेक्षा 350 ई० के निकटतर यदि भक्ति के अभिनव प्रयोग को छोड़ दें तो, बाकी सभी विचार पुराने तो हैं, मौलिक नही। गीता की भाषा उत्कृष्ट शास्त्रीय संस्कृत है जिसका प्रयोग गुप्तकाल से बहुत पूर्व का नही हो सकता, हालांकि त्रिष्टुभ छंदों मे कही-कही अनियमितता (गीत 8-10घ, 8-11ख, 15-3क, इत्यादि) भी देखने में आती है, जो संपूर्ण महाभारत की एक विशेषता है। गीता के रचना काल के कुछ ही समय बाद जो उत्कृष्ट गुप्तकाल आता है उस काल की संस्कृत का प्रयोग यदि गीता में हुआ होता तो इसकी छंदोरचना मे अधिक सावधानी बरती गई होती।

बहरहाल, यह तो ज्ञात ही है कि उपर्युक्त कालावधि में महाभारत तथा

पुराणों मे बहुत अधिक संसोधन-परिवर्धन[1] किया गया। खासकर महाभारत तो ब्राह्मणों के अधिकार मे था ही, जो भृगु कुल के थे, उन्होंने गुप्तकाल के उत्कर्ष के पूर्व तक, इसे परिवर्धित करके लगभग इसके वर्तमान आकार का कर दिया। (हालांकि परिवर्धन का यह सिलसिला आगे भी जारी रहा)। किसी खास पूजापद्धति को ब्राह्मण धर्म में मिला लेने के लिए, पुराण का भी लेखन अथवा पुनर्लेखन होता रहा। ज्ञात रूप से मुख्य पुराणसमूह के अंतिम संशोधित संस्करण में भी गुप्त लोगों का उल्लेख फैजाबाद और प्रयाग के बीच के स्थानीय राजाओं के रूप मे है।[5] यह प्रसंग गीता से पूरी तरह मेल खाता है। ऐतिहासिक उल्लेख की दृष्टि से देखा जाए तो गीता जैसे ग्रंथ का उल्लेख पहली बार ह्वेन सांग[6] ने सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में किया है। ह्वेन सांग ने एक ब्राह्मण का हवाला दिया है जिसने अपने राजा के आदेशानुसार इस तरह का एक ग्रंथ युद्ध को बढ़ावा देने के लिए रचा था (जिसे उस समय एक पुरातन ग्रंथ माना जाता था)। यह तथ्य तो सामने है ही कि आश्वलायन गृह्य सूत्र के समय मे, जिसमे भारत और महाभारत[7] दोनों का निर्देश है, महाभारत के दो पाठ विद्यमान थे। वर्तमान भारत प्रस्तावना मे बहुत कुछ वही वार्ता ऐसे ढंग से दुहराई गई है जिसमे यह जाहिर हो जाता है कि पुराना 24 हजार श्लोकों वाला भारत उस समय भी प्रचलित था जिस समय बड़ेवाले पाठ को प्रवर्तित किया गया। यह बतलाने की पूरी कोशिश की गई कि इन दोनो पाठों के रचयिता महान व्याख्याता व्यास ही हैं जो प्रायः प्रत्येक पुराण के भी स्रष्टा कहे जाते है। एक बात जो इस संपूर्ण समष्टि में और इससे संशोधित ब्राह्मणों की दृष्टि से समान रूप से पुनीत मानी जाती है वह है 18 की संख्या, जो विशेष रूप से पवित्र और ग्रहण करने योग्य मानी जाती थी। यद्यपि प्रधान ऋषियों की संख्या तो सात ही है तथापि ब्राह्मणों[8] के मुख्य गोत्र (कुल-समूह) 18 हैं, इन 18 गोत्रों में से अनेक का (जैसे, केवल भार्गव और केवल आंगिरस का) किसी युक्तिसगत व्यवस्था में समावेश दुष्कर है। इसी तरह, मुख्य पुराण 18 हैं, और महाभारत मे 18 पर्व (प्रकरण) हैं, हालांकि पहले उसमें 100 प्रकरण थे, जैसा कि प्रस्तावना से विदित होता है। महाभारत की लड़ाई भी 18 दिन तक 18 अक्षौहिणियों के बीच चली। मार्के की बात है कि गीता मे भी 18 ही अध्याय है। पुरातन भारत महाकाव्य में ऐसी ही किंतु इससे छोटे रूप मे गीता का होना असंभाव्य है। रही भी होगी तो युद्ध को बढ़ावा देने वाली कोई वार्त्ता होगी, जैसा गीता 2-37 में वस्तुत. सन्निविष्ट है : 'या तो मरकर स्वर्ग प्राप्त होगा या जीतकर पृथ्वी को भोगेगा, इस लिए, हे कुंतीपुत्र, युद्ध के लिए कृतनिश्चय होकर खड़ा हो जा।' ये पंक्तियां उस मौके पर खूब सटीक बैठती है। प्रार्थनाओ, मत्रों, चारण-गीतों, उद्घोषणाओं और सेनापति या राजा के भाषण से इस प्रकार युद्ध के पूर्व प्रेरित और प्रोत्साहित करने का रिवाज तो सब जगह सब समय रहा है (परम व्यावहारिक अर्थशास्त्र ने भी 10-3 मे इसका समर्थन किया है)। किंतु, जब युद्ध के शख दोनों पक्ष से बज चुके थे और दो विशाल सेनाएं एक दूसरे से टकराने के लिए दृढता से कूच कर चुकी थी, तब तीन घंटे का

यह नीति-दर्शन विषयक जटिल प्रवचन अत्यंत असंभव प्रतीत होता है। हां, सिर्फ उस ब्राह्मण को यह असंभव नहीं जान पड़ेगा जो सार्वजनिक युद्ध की ऐसी परिस्थिति में भी अपनी नीति को लोकप्रिय युद्ध-गीत में छंदोबद्ध करने को तुला बैठा हो।

दो टूक कहा जाए तो गीता की अपनी जो विलक्षण भूलभूत त्रुटि है, अर्थात असंगति में संगति की प्रतीति कराने का कौशल, वही उसकी उपयोगिता का हेतु भी है। भगवान कृष्ण ने वारंवार अहिंसा के माहात्म्य पर बल दिया है तथापि उनका संपूर्ण प्रवचन युद्ध को बढ़ावा देनेवाला ही है। गीता 2-19 में और उसके परवर्ती श्लोकों मे बताया गया है कि आत्मा न मरती है न मारी जाती है, आत्मा पुराने शरीर को त्यागकर नए शरीर को उसी प्रकार धारण करती है जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नए वस्त्रों को धारण करता है, इस आत्मा को न तो शस्त्रादि काट सकते हैं, न आग जला सकती है, न पानी भिगो सकता है, न हवा सुखा सकती है। गीता, अध्याय 11 मे भयभीत अर्जुन देखता है कि दोनों पक्ष के समस्त योद्धागण विश्वरूप विष्णु—कृष्ण के विकराल दाढ़ों वाले अनगिनत मुखों मे प्रवेश करते हैं और निगले जाने या चूर-चूर होने वाले है। निष्कर्ष ऐसे दर्शन और प्रदर्शन का क्या है यह तो विश्वरूप भगवान ने स्वयं ही इस प्रकार कहा है (गीता, 11-33) कि युद्धक्षेत्र में उपस्थित ये सारे शूरवीर तो मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं, अत: हे अर्जुन, तू ऐसे संहार के लिए बस निमित्तमात्र हो जा और शत्रुओं को जीतकर धनधान्य से संपन्न राज्य का भोग कर। इसी तरह, गीता में यद्यपि यज्ञ का तिरस्कार या उपहास किया गया है तथापि अध्याय 3 के श्लोक 14 में कहा गया है कि यज्ञ से वृष्टि होती है जिसके बिना अन्न तथा जीवन संभव नहीं है। यह चपल अवसरवादिता इस संपूर्ण ग्रंथ का विशिष्ट लक्षण है। अतः अगर इतने-इतने लोग गीता के प्रेमी और उसके प्रभाव से अभिभूत हैं तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। एक बार जहां यह मान लिया गया कि भौतिक जगत घोर भ्रम है, माया है, फिर तो द्वैध की ही दुनिया रह जाती है जहां एक साथ दो परस्पर विरोधी विचार विश्वास के पालने में पलते रहते हैं।

स्पष्टतः गीता एक नई रचना है, प्राचीन पाठ मे अपेक्षाकृत संक्षिप्त रूप में दिए हुए किसी धर्मोपदेश का विस्तार नहीं। आगे मैं यह दिखाऊंगा कि यह नई गीता अपनी रचना के बाद कई सदियों तक प्रभावहीन ही बनी रही।

प्रयोजन की पूर्ति के लिए अपर्याप्त

श्रोता के रूप मे निम्नतर वर्गों के लोग आवश्यक थे, और प्राचीन युद्ध की वीरगाथाएं उन्हें आकर्षित करती रहीं। इससे यह हुआ कि ब्राह्मण लोग जिस किसी सिद्धांत को जोड़ लेना चाहते थे उसे सन्निविष्ट कर लेने के लिए पुराणों के पुनर्लेखन या पुरातन पथों के समर्थन में जाली नए पुराण रच लेने से भी अच्छा और सबसे सुविधाजनक साधन महाकाव्य ही बन गया। प्राकृत भाषाएं तो बहुसंख्यक प्रादेशिक भाषाओं के रूप में टूट-बिखर रही थी, अतः अभिव्यक्ति के लिए सुगम संस्कृत भाषा ही सुविधाजनक

थी। उच्च वर्ग ने भी संस्कृत का अधिकाधिक उपयोग करना आरंभ कर दिया था। कुशाण और सातवाहन शिलालेख उस समय भिक्षुओं और व्यापारियों में प्रचलित देश-भाषा में ही हैं। किंतु, 150 से, एक नए प्रकार का सरदार (रूद्रदामन के समान सम्भवतः विदेशज) ऐतिहासिक मंच पर आता है जो अपनी उपलब्धियों के विषय में यहां तक कि संस्कृत-ज्ञान के बारे में भी, अलंकृत संस्कृत में शेखी बघारता है।[9] भगवान बुद्ध ने आदेश दिया था कि जनसामान्य की भाषा का व्यवहार किया जाए, लेकिन बौद्ध लोग इसकी उपेक्षा करने लगे थे, उन्होंने भी संस्कृत को अपना लिया। श्रेष्ठ संस्कृत साहित्य का उत्कर्ष-काल तो धार्मिक भाव प्रधान नाटकों और काव्य की रचना से आरंभ हुआ, जैसे, अश्वघोष[10] कृत नाटक और काव्य। एक संस्कृतानुरागी कुलीन वर्ग, साथ ही संस्कृतज्ञ पुरोहितवर्ग भी, उस समय विद्यमान था।

अगर कोई आख्यान या घटना कहीं क्षेपक[11] करके जोड़ दी गई तो इस पर किसी को आपत्ति हो ही कैसे सकती थी ? आखिर, महाभारत एक कथा ही तो है ! संजय ने धृतराष्ट्र से जो कहा था उसे ही व्यास ने जनमेजय को सुनाया और व्यास के इस प्रवचन को उग्रश्रवस् नामक चारण ने नैमिषारण्य में एकत्रित ऋषि-मुनियों को गाकर सुनाया। ब्राह्मणगण गीता के फल-निष्कर्ष से असंतुष्ट थे न कि उसकी प्रामाणिकता से। इसीका परिणाम है अनुगीता,[12] जो 14वें सर्ग (अश्वमेध पर्व) में एक विशिष्ट उत्तर कथा के रूप में है। अर्जुन स्वीकार करता है कि युद्ध आरंभ होने के पूर्व जो भी दिव्य उपदेश दिए गए थे वे सब विस्मृत हो गए और इसीलिए वह एक बार और प्रवचन के लिए प्रार्थना करता है। कृष्ण उत्तर देते हैं कि उनके लिए भी यह असंभव है कि उस समय उन्होंने जो उपदेश दिया था उसे फिर अपनी स्मृति से दुहरा सकें। इस तरह, यहां पूरा प्रयास किया गया कि पुनरुक्ति न होने पावे। बहरहाल, एवज में एक दूसरी बिलकुल घटिया गीता प्रस्तुत की गई जिसमें बस ब्राह्मणवाद और ब्राह्मणों का गुणानुवाद किया गया है। पहली गीता से इसकी तुलना जरा भी नहीं की जा सकती, और अब इसे कोई पढ़ता भी नहीं है, लेकिन जिन पाखंडियों ने इसे इस तरह घुसेड़ दिया उन्हें उस समय ऐसा करना जरूरी जान पड़ा था।

दूसरे, गीता अभी जिस रूप में है, इसका अंशमात्र भी समझ सकने के लिए अगर कोई क्षत्रिय आसन्न संग्राम के क्षण में अपने मन को इतनी देर तक युद्ध से विरत कर लेता है तो उसे इससे भला क्या सहायता मिल सकती है ? अस्तु। सीधी सीख जो इससे मिलती है, यह है : 'कर्त्तव्य का तकाजा हो तो मार डाल अपने भाई को, बिलकुल अनासक्त भाव से। जब तक मुझ में तेरी निष्ठा है, तेरे सभी गुनाह माफ हैं।' भारत के इतिहास को देखते हैं तो बराबर यही पाते हैं कि गद्दी के लिए न सिर्फ भाई-भाई बल्कि पिता और पुत्र तक बेहिचक, बिना किसी ईश्वरीय प्रेरणा या मार्ग-दर्शन के मरणांतक युद्ध करते रहे हैं। इंद्र ने अपने पिता को उठाकर पटक दिया, चूर-चूर कर दिया (ऋग्वेद 4-18-12)। ब्राह्मण वामदेव ने इस करतूत को कमाल का काम कहा है। मगधराज अजातशत्रु ने, गद्दी हड़पने के लिए अपने पिता बिंबसार को—

बंदी बना लिया और तब उस बूढ़े को कारागृह में ही मरवा डाला। तो भी, बौद्धों[13] और जैनियों ने, और बृहदारण्यक उपनिषद (2-1) ने भी, ऐसे सपूत को (जो भारत के प्रथम महान साम्राज्य का संस्थापक बना) बुद्धिमान और सुयोग्य राजा कहा है। अर्थशास्त्र के एक अध्याय (अर्थ० 1-17-18) में यह बताया गया है कि ऐसे महत्त्वाकांक्षी युवराज के विरुद्ध क्या-क्या सावधानी वरतनी चाहिए, और फिर दूसरे ही अध्याय में यह बताया गया है कि ऐसा युवराज अगर गद्दी पाने को बेकरार हो तो किस तरह उक्त उपायों को वह मात दे सकता है। कुरुक्षेत्र में कृष्ण ने तो खुद ही यादवों की सेना को इशारा कर दिया, जो उनके अपने लोग थे और विरोधी दलों मे लड रहे थे। पुराण बताता है कि सभी यादव आपस में लडते हुए अंततः कट मरे। इसके पूर्व, कृष्ण ने अपने मामा कंस को मार डाला था। इस कथा को एक नया और विशिष्ट अर्थगौरव प्राप्त हो जाता है जब हम इस तथ्य पर गौर करते हैं कि मातृ-अधिकार के अधीन यह व्यवस्था है कि पुराने सरदार की बहन के बेटे को ही नया सरदार होने का हक होता है।

तीसरे, महाभारत के कृष्ण वास्तव में कोई नैतिक सिद्धांत प्रस्तुत करने योग्य बिलकुल नहीं हैं। यह काम तो है भीष्म का जो इस महाकाव्य के परमादरणीय पात्र हैं और जिन्होंने राजधर्म, आपद्धर्म तथा मोक्षधर्म, नीति के इन तीन महत्वपूर्ण अंगों पर प्रवचन किया है जो महाभारत के सबसे बड़े पर्व शांतिपर्व में समाविष्ट हैं। प्रतिशासक (रीजेंट) के रूप मे उन्होंने उस गद्दी को संभाला जिस पर बैठने के अपने हक को उन्होंने स्वेच्छा से छोड़ दिया था। अपने निर्विवाद शीलनिष्ठ दीर्घ जीवनपर्यंत वे दुर्धर्ष पराक्रम और अनुपम वीरोचित मान के साथ जिए। उनके विरुद्ध आलोचना बस एक ही बात को लेकर की जा सकती है कि, मरणासन्न साही के समान, शरशय्या पर पड़े, बाणविद्ध अवस्था में भी वे कितने वाचाल हैं। तथापि, साधुता का उपदेश दे सकने की उत्कृष्ट क्षमता भीष्म में ही है। किंतु कृष्ण ? युद्ध के बीच जब भी कोई संकट की घड़ी आई तब उन्होंने ऐसे-ऐसे कुटिलतम उपाय के प्रयोग की सलाह देकर अपने पक्ष को विजयी बनाया जो दूसरा कोई सोच भी नहीं सकता था। भीष्म का वध करने के लिए नपुंसक शिखंडी को ढाल बनाया गया, यह सोचकर कि भीष्म उस क्लीव पर अस्त्र तो चलाएंगे ही नही। द्रोण का सफाया करने के लिए जानबूझकर उनके पुत्र की मृत्यु की झूठी खबर फैलाकर उन्हें स्तब्ध कर दिया गया। कर्ण को भी, वीरोचित आचरण के सर्वथा विरुद्ध, तब मार गिराया गया जब वह रथ से उतरा हुआ और निरस्त्र था। दुर्योधन को भी, अनुचित और कपटपूर्ण गदा-प्रहार से उसकी जांघ तोड़कर मार-मारकर ढेर कर दिया गया। इसी तरह और भी बहुतेरे अन्याय किए गए। और जब ऐसे पातकों के लिए कृष्ण पर दोषारोपण किया गया तब उन्होंने क्या सफाई दी, यह शल्यपर्व के अंत में देखिए, साफ कह दिया कि बिना ऐसे छल-कपट के अमुक व्यक्ति मारा ही नही जा सकता था, अन्यथा विजय हो ही नही सकती थी। अर्थशास्त्र मे जिस विश्वासघात का निरूपण किया गया है यह भगवद्गीता के व्याख्याता

1.1 जल पर सोए हुए नारायण

1.2 अपने जलवेष्टित कक्ष में ईअ-एन्की, मेसोपोटामियाई मुहर का अंकन

1.4 मेसोपोटामियाई गोल मुहर पर मत्स्य पुरुष तथा मत्स्य नारी

1.9 वामन

1.3 विष्णु का मत्स्यावतार,

1.5 कच्छप अवतार

पूजाओं से है। इस मत्स्य के प्रतिरूप (चित्र 1.4) मेसोपोटामिया मे मिले हैं। नारायण की लीला का एक अंश कृष्ण ने गीता मे संपन्न किया है, और वह है विश्वरूप दर्शन जिसमे यह दिखाया गया है कि संपूर्ण विश्व उनमे ही अंतर्विष्ट है और वही यहा की प्रत्येक जाति (स्पीशीज) में सर्वोत्तम का प्रतिनिधित्व करते है। गीता, 10-11 में जो दिया हुआ है उससे तो हममें से अधिकाश लोग परिचित ही हैं, किंतु इसी पाठ का कृष्णोल्लेखरहित मूलरूप महाभारत 3-186, 39-112 मे मिलता है, जिससे जाहिर होता है कि सर्वव्यापक नारायण की कल्पना बहुत पहले ही की जा चुकी थी।

1.6. वराह अवतार

1.7 वारा अवतार

1.8 नरसिंह

1.10 परशुराम

1.11 राम

1.12 कृष्ण

1.13 बुद्ध

1.14 कल्की, भावी अवतार

ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध किंतु उत्तरवर्ती सूक्त (ऋ० वे० 10-125) में वाणी की दैवी वाग अम्भृणी ने इस प्रकार घोषणा की है : 'मैं ही रूद्र का धनुष टानती हूँ, मैं ही सोम हूं और समस्त सर्वोत्तम का सार हूं ।' दुष्कर्मों का पाप जिसे कदापि नहीं लगता ऐसा आद्य देवता तो उपनिषदों का इंद्र ही है जो प्रतर्दन दैवोदासी से कहता

है : 'तू एकमात्र मुझे ही जान, मैं वस्तुतः इसी को मनुष्य का परम श्रेय मानता हूं कि वह मुझे जाने। मैंने त्रिशिर त्वाष्ट्र को मार डाला, अरूमंघ तापसों को भेडियों के आगे डाल दिया, और बहुतेरी संधियों को भंग कर स्वर्ग में प्रह्लादीयों को, अंतरिक्ष मे पौलोमों को तथा पृथ्वी पर कालकांजो को पूर्णतया विनष्ट कर दिया। इसके बावजूद, मैं तब ऐसा था कि तनिक भी कभी न क्लांत हुआ न विफल ही। अतः जो *मुझे जानता है उसकी दुनिया उसके किसी भी कृत्य से नही बिगडती,* आप अपनी माता के वध, अपने पिता के वध, लूट, भ्रूणहत्या, अथवा किसी भी पापकर्म से वह विवर्ण नही होता, उसका रंग फीका नही पड़ता है' (कौशीतकी ब्राह्मण उपनिषद 3.2)। *बहुतेरी संधियों को भग करने की बात, अर्थशास्त्र के अनुसार राजा का* सामान्य व्यवहार है, हालाकि उस ग्रंथ मे ऐसा वर्णन है कि प्राचीन काल मे वाचिक संधि भी अलघ्य मानी जाती थी (अर्थ 7.17)। यद्यपि इंद्र ने ये सारे घोर कर्म वैदिक परंपरा मे ही किए, तथापि उस परंपरा के बल पर उन्होंने अपने को भक्ति के प्रयोजनार्थ परमाराध्य कही भी घोषित नहीं किया है, पाप और भक्ति की धारणाएं वैदिक नही हैं। कोई भी वैदिक देवता ऐसा परिपूर्ण मोक्ष प्रदान करने मे समर्थ नही है जैसा कि गीता (18 66) मे कहा गया है : '(अन्य) सारी धार्मिक आस्थाओं, विधियों और अनुष्ठानो को त्यागकर एक मेरी ही शरण मे आ, मैं तुझे संपूर्ण पापो से मुक्त कर दूंगा, सोच मत कर।' कृष्ण ऐसी उद्घोषणा कर सके, किंतु इंद्र नही, इसका कारण यह है कि वह प्राचीनतर देवता (इंद्र) स्पष्टतः अपरिवर्त्य वैदिक सूक्तों से घिरा हुआ तथा अग्निहोत्री रूपी वैदिक यज्ञ-कर्मकाड से आवद्ध था। वह प्रतिमान था ऐसे बर्बर आर्य युद्धनायक का जो अपने अनुचरो के साथ मदमत्त होकर उन्हें युद्ध मे विजयी बना सकता था। उसका रंग बेतरह फीका पड़ गया बौद्धमत के आविर्भाव से, जिसने यज्ञ को सीधे नकार दिया और नैतिकता तथा सामाजिक न्याय के विषय मे पूर्णतः अभिनव धारणा उपस्थित कर दी। कांस्य युग समाज का वह ग्राम्य रूप, जिससे इंद्र अटूट रूप से संबद्ध था, लाभकर नही रह गया था।

कृष्ण, बल्कि अनेक कृष्णो में कोई ऐसे विरोध का प्रतीक या प्रतिनिधि स्वरूप था। इंद्र से उनकी शत्रुता का आख्यान, जो ऋग्वेद[16] मे आया है, उस ऐतिहासिक संघर्ष का द्योतक है जो प्राक्आर्यों ने लुटेरे आर्यों से किया था। चमड़ी का रंग काला होना कोई अलंध्य बाधा नही थी क्योंकि कृष्ण आंगिरस नामक एक वैदिक ऋषि भी हो गए हैं। यदु लोग भी वैदिक जन ही थे, लेकिन कोई कृष्ण उनसे संबद्ध थे ऐसा नही प्रतीत होता, हालाकि युद्धवदी बनाए गए यदु का जिक्र हुआ है। छादोग्य उपनिषद 3.17.1-7 मे एक देवकी पुत्र कृष्ण का उल्लेख है जिन्हे घोर आगिरस ने कुछ नैतिक साधना की शिक्षा प्रदान की थी। महानुभावों ने सादीपनि को कृष्ण का गुरु माना है। कुछ ने उनके गुरुओं की सूची मे क्रोधी दुर्वासा को भी शामिल कर लिया है। कंस को मारनेवाले पहलवान कृष्ण अखाडे मे किसी को भी पछाड सकते थे। मुमकिन है *यह वही कृष्ण हो जिन्होंने मथुरा मे यमुना नदी मे उपद्रव मचाने वाले*

बहुशिरस्क नाग कालिय (चित्र-1.15) को पदमर्दित किया था। स्वभावतः, जिन यूनानियों ने सिकंदर के आक्रमण के समय भारत में कृष्णपूजा प्रचलित देखी उन्होंने कृष्ण को अपने हेराक्लीज से अभिन्न समझ लिया।

कृष्ण कथा की एक बात, जो भारतीय परंपरा मे बेमिसाल है और जो भारतीयो के लिए अभी तक एक पहेली ही बनी हुई है, यूनानियो के लिए सहज सुबोध रही होगी। यह बात है ईश्वरावतार श्रीकृष्ण के मारे जाने की। कृष्ण भी अकिल्लीज-प्रभृति कांस्ययुगीन वीरो की तरह ही मारे गए, उनकी ऐडी में एक तीर जा लगा जिससे उनकी मृत्यु हो गई। जिसने उन्हे इस प्रकार बाणविद्ध किया था उसका नाम था जरा, जिसे अनेक वृत्तांतों मे कृष्ण का सौतेला भाई कहा गया है। इससे जाहिर होता है कि वह उस परमपावन राजा का ऐसा प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी था जिसे अपने बड भाई को मार देना पड़ा। पश्चात्तापपूर्ण उस प्राणघाती को स्वयं कृष्ण यह कहकर सात्वना प्रदान करते हैं कि इसमें तुम्हारा कोई दोष नही, मेरा ही समय पूरा हो गया, परमपावन राजा की इहलीला समाप्त हुई। अनुमान किया जा सकता है कि इंद्र ने, और शायद कृष्ण ने भी, जो मूल अक्षम्य पाप किया वह था मातृसत्तात्मक प्रथा का अतिक्रमण। यह एक ऐसा पाप था जिसकी प्राचीतर समाज मे कल्पना तक नही की जा सकती थी, लेकिन यह करके भी वे विजय गर्व से जीते रहे, और तब, इस महापाप के आगे अन्य सारे पाप तुच्छ और नगण्य हो गए। निश्चय ही गोकुल, जहां कृष्ण का लालन-पालन हुआ था, एक पितृसत्तात्मक पशु-पालक समुदाय के रूप मे रहा होगा। लेकिन वृंदावन, जहां उन्होंने अपनी लीलाएं की, एक मातृदेवी का पवित्र स्थान था जो एक वृंद की देवी थी जिसका प्रतीक है तुलसी का पौधा। कृष्ण को उस देवी से विवाह करना पडा और उससे कृष्ण का विवाह तो अब भी हर साल रचाया मनाया जाता है, हालांकि कृष्ण की पत्नियों की सामान्य सूची मे उसका नाम नही गिनाया जाता। प्रारभ मे इसका मतलब था उस देवी की प्रतिनिधि

1.15 कृष्ण द्वारा कालिय मर्दन

स्वरूप पुजारिन से धार्मिक विवाह और पुरुष (वर) की वार्षिक बलि। चूंकि कृष्ण की वार्षिक बलि के बारे में कोई पुराणकथा नही है आख्यान सिर्फ इस बात को लेकर है कि उन्होने पति के प्रतिस्थानी का काम किया इसलिए ऐसा जान पड़ता है कि उस आदिम रिवाज को कृष्ण ने तोड दिया, जैसाकि हेराक्लीज और थीसियस ने किया।

मेसोपोटामिया की एक प्राचीनतर नक्काशी (चित्र-1.16) मे हेराक्लीज को बहुफणी सर्प (हाइड्रा) का शिरश्छेदन करते हुए दिखाया गया है। किंतु, इससे कही अधिक अर्थवान और महत्वपूर्ण है कृष्ण द्वारा कालिय नाग का दमन। नाग सरक्षक देवता और सभवत उस स्थान का आदिम उपास्य पदार्थ था। कृष्ण द्वारा कालिय का वध न होकर पदमर्दन वैसा ही चरित है जैसा महिषासुरमर्दिनी का, और इससे

1 16 सप्तशिरस्क सर्प का शिरच्छेदन; मेसोपोटामियाई मुहर का अकन,

यह साफ जाहिर होता है कि नागपूजा बाद मे भी चलती रही। ऐसी पूजा पद्धतिया आज भी प्रचलित हैं, जैसे, मणि नाग की पूजा, जो उड़ीसा के पास सदियो से होती चली आ रही है। नीलमत नाग, जिस पर ब्राह्मणो ने एक विशेष पुराण[18] ही रच दिया, कश्मीर का आदिम देवता था। उसी तरह एक था नाग श्रीकंठ, जिससे थानेसर के राजा पुष्यभूति को द्वंद्व युद्ध करना पड़ा। इस तरह के स्थानीय संरक्षक नागों का जिक्र दसवी सदी की रचना नवसाहसांक चरित तक हुआ है। अतः ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में भी बहुसंख्यक भारतीय जन हमारे वीरनायक के अनुयायी थे। परवर्ती शुंग काल आते-आते उन्हे भगवत (भगवान) कहा जाने लगा जो मूलत: बुद्ध की उपाधि थी। भिलसा के समीपवर्ती स्तंभ के लेख से पता चलता है कि हीलिओडोरस[19] नामक यूनानी राजदूत अपना धर्म परिवर्तन करके इस पंथ का अनुयायी हो गया था। पाणिनि का एक सूत्र है, (पाणिनि, 4-3-98, जिसकी व्याख्या भाष्यकार पंतजलि ने की है) जिसका आशय है कि न तो कृष्ण न अर्जुन ही क्षत्रिय रूप मे गण्य थे, अतः इससे स्पष्ट है कि कृष्ण का उद्भव प्राक आर्य जन समाज मे हुआ था। किंतु कृष्ण हैं अत्यंत पुरातन क्योंकि एकमात्र वही ऐसे देवता है जो सुदर्शन चक्र जैसा विलक्षण अस्त्र धारण करते हैं। इस विशिष्ट आयुध का उल्लेख वेदों में नही है, और इसका चलन युद्ध के आविर्भाव काल से बहुत पहले ही समाप्त हो गया था। इसकी ऐतिहासिकता सिर्फ मिर्जापुर के गुफा चित्रो (चित्र-1.17) से अनुप्रमाणित है जिनमे धावा

करते हुए अश्वरथी (स्पष्टत. प्रस्तर युगीन आदिवासी कलाकारों के शत्रु) चित्रित हैं जिनमें से एक इस तरह का चक्र प्रक्षिप्त करने को उद्यत है। यह घटना और इसकी चित्रकारी मजे में ईसापूर्व 800[19] के आसपास की मानी जा सकती है क्योंकि तब तक यह कृष्ण स्वयं आदिवासी न रहकर देवदूतों में गिने जाने लगे थे।

पंजाब के होशियारपुर में एक सिक्का (चित्र 1-18) मिला था जो संप्रति ब्रिटिश म्यूजियम (संग्रहालय) में है। इस एकमात्र सिक्के से यह प्रमाणित होता है कि वृष्णि नामक ऐतिहासिक जनजाति दूसरी सदी के आसपास वस्तुतः विद्यमान थी। जब कृष्ण के लोग जरासंध के भय से मथुरा से पलायित हो गए (महाभारत 2-13. 47-49 और 2. 13. 65) तब उन्होंने पश्चिम की ओर भागकर द्वारका नामक नया पर्वत रुद्ध नगर बसाया। अधिक संभावना है कि यह नगर अर्वाचीन अफगानिस्तान के दरवाज के निकट रहा हो न कि काठियावाड़ बंदरगाह के। बौद्ध महामायूरी मंत्र (लगभग तीसरी
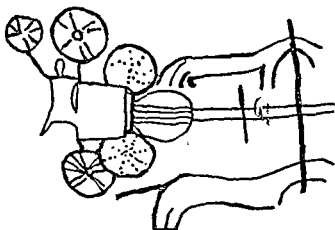
1.17 मिर्जापुर की एक गुफा में चक्र फेंकने वाला रथी

सदी) में विष्णु को जिस द्वारका का संरक्षक यक्ष कहा गया है (सिल्वा लेवि, जर्नल एशियाटिके 1915-19-138, संस्कृत मूल पाठ की 13वीं पंक्ति) वह अनुमानतः यह दरवाज शहर ही है। ज्ञातव्य है कि यहां विष्णु का नामोल्लेख हुआ है न कि कृष्ण का। जहां तक दाक्षिणात्य यादवों की बात है, उनका संबंध कृष्ण भगवान से जोड़ते हुए जिन ब्राह्मणों ने कूटरचनापूर्वक वंशावली तैयार की उसमें उनका उद्देश्य इससे अधिक और कुछ नहीं था कि एक स्थानीय कुल के सरदारों को आसपास की आबादी से श्रेष्ठ सिद्ध किया जाए।

आखिरी बात यह कि इसमें, जैसा कि गीता-4. 7[21] में कहा गया है, ईश्वरावतार विषयक उपयोगी पक्ष भी समाहित है। बहुतेरे आद्यपूर्व ऐतिहासिक कृष्ण तथा प्रचलित पुनर्जन्म विश्वास, इन दोनों के समन्वय से अवतार संभव हो गया। इससे विपत्तिग्रस्त भक्त को परलोकगत होने पर मुक्ति प्राप्ति की प्रत्याशा के समान, यह आशा करने की गुंजाइश हो गई कि इहलोक में अत्याचार से उसका उद्धार करने के लिए भगवान नया अवतार ग्रहण करने वाले हैं।
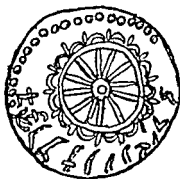
1 18 क, 1.18 ख कृषि जनजातीय सिक्का (प्रभिवर्द्धित)

संश्लेपण कब संपन्न होता है ?

विष्णु नारायण के अवतारों की भाति, विभिन्न कृष्णों ने बहुत सी भिन्न-भिन्न पूजाओं को, उनमे से एक को भी ध्वस्त या क्षतिग्रस्त किए बिना अथवा विरोधी बनाए बिना, मिलाकर एक कर दिया। नटखट और प्यारे बालगोपाल कृष्ण उस कृष्ण से भिन्न नहीं हैं जो बहुत-सी स्त्रियो का असाधारण पौरुषसंपन्न पति था। उसकी 'पत्नियां' मूलत. स्वाधिकारसपन्न स्थानीय मातृदेवियां थीं। इस 'पति' ने अधिकार को आसानी से पितृसत्तात्मक जीवन् मे बदल दिया और मूल पूजा पद्धतियों को निम्न स्तर पर गौण रूप से प्रचलित रहने दिया। इसका ज्वलंत उदाहरण शिव और पार्वती का विवाह है जिसकी अनुपूर्ति हुई उभयलिंगी अर्धनारीश्वर से [आधा अग शिव, आधा अंग पार्वती (चित्र-13), ताकि कोई विलगाव न होने पावे]। महिषासुर (म्हसोबा), यह दानव जो प्राचीन काल में स्वयंभू (आत्म-निर्भर) देवी द्वारा मारा गया था, उस देवी के मंदिर के पास आज भी यदा-कदा पूजा जाता है (जैसे, पूना में पार्वती पहाड़ी[22] की तराई में)। कही (जैसे, वीर मे) हम उसे एक देवी (जोगूबाई) मे विवाहित हुआ पाते हैं, जो अब दुर्गा के बरावर मानी जाती है, जबकि उसी तरह जानी-मानी जाने वाली एक दूसरी देवी (तुकाई) को समीपवर्ती टीले पर महिषासुरमर्दन करते हुए दिखाया गया है। दूर-दूर तक फैली हुई नागपूजा को इस प्रकार आत्मसात कर लिया गया कि नाग को शिव का गलहार, विष्णु की वितान-शय्या जिस पर वे क्षीरसागर

1.19 ले ट्राय फेरेगुफा मे डाइएब्लोटिन

में चिरशयन विहार करते हैं, और गणेश का भी कर-भूषण बना दिया गया। नंदी की पीठ पर शिव की सवारी की कल्पना के बहुत पहले, पाषाण युग में ही नंदी पूजा लोक प्रचलित थी। हमारे जटिल प्रतिमाशास्त्र के हवाले से और देव परिवारों के अध्ययन से यह सूची और भी विस्तृत की जा सकती है। हाथी का सिर और आदमी का धड़ होने से गणेश यूरोपी गुफाओं में हिमयुगीन मानवों द्वारा चित्रित (चित्र 1.19) भूतसाधकों तथा डाइएब्लोटिनों की तुलना में आ जाते हैं।

यह भारतीय चरित्र के अनुरूप है और, जैसा कि हम कह चुके हैं, गीतादर्शन में यही भाव प्रतिफलित हुआ है। वैदिक यज्ञ के सिवा और किसी भी पूर्ववर्ती सिद्धांत पर जोर-जबरदस्ती नहीं की गई। गंभीर और सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन करने में समर्थ बड़ी ही सूक्ष्म बुद्धि से, प्रत्येक सिद्धांत के सारतत्व को ग्रहण कर लिया गया है और सभी मतों को उनके अंतर्विरोधों को उभारे बिना, बड़ी ही कुशलता एवं साहित्यिक निपुणता से समन्वित करके भक्ति द्वारा सुदृढ़ कर दिया गया है। ज्ञातव्य है कि भारतीय चरित्र सदैव ऐसा सहिष्णु नहीं था। ऐसे जमाने गुजरे हैं जब लोग सिद्धांत, धार्मिक अनुष्ठान और पूजा को लेकर एक दूसरे से लड़ पड़े हैं। कन्नौज के सम्राट हर्ष शीलादित्य (लगभग 600-640 ई०) बौद्ध धर्म में पूरी श्रद्धा रखते हुए भी बड़े मजे में गौरी, महेश्वर शिव और सूर्य की उपासना करते थे।[23] उनके शत्रु नरेंद्रगुप्त शशांक ने बंगाल से मगध पर धावा कर दिया, गया में बोधिवृक्ष को काट डाला, और जहां कहीं पाया बौद्ध संस्थाओं को ध्वस्त कर दिया। भेद क्या था? क्यों इन दोनों धर्मों का संश्लेषण, जिसे हर्ष के अतिरिक्त अन्य लोगों ने आचरित किया था (जो कि साहित्यिक संदर्भों में द्रष्टव्य है), सफल नहीं हो सका?

मेरा कहना है कि इसके पीछे आर्थिक कारण थे। प्रतिमाओं में बहुत सी उपयोगी धातु रुद्ध हो गई थी। गुप्त युग के बाद मठों और मंदिरों में द्रव्य का संग्रह बेतरह होने लगा, उसके प्रतिस्थापन या प्रतिपूर्ति के लिए उन्होंने उत्पादन को न तो किसी प्रकार बढ़ाया न बढ़ावा ही दिया। अत., भारतीय इतिहास में परम कट्टर मूर्ति-भंजक के रूप में आविर्भाव हुआ हर्ष नामक एक दूसरे राजा का (1089-1101 ई०) जिसने कश्मीर की चार को छोड़ कर बाकी सारी मूर्तियों[24] को तोड़ डाला। यह ध्वंसकार्य देवोत्पाटननायक नामक एक विशेष मंत्री के अधीन व्यवस्थित रूप से संपन्न किया गया और खूबी यह कि इसके लिए धर्मदर्शन की आड़ जरा भी नहीं ली गई, हालांकि ऐसा कारण अनायास उपस्थित किया जा सकता था। यह कश्मीरी राजा संस्कृति का प्रेमी और संस्कृत साहित्य तथा कला का संरक्षक बना रहा। संभवत: उसने गीता भी पढ़ी थी। लेकिन उसे, स्थानीय सामंतों के डामर समूह से घोर युद्ध करने के लिए निधि की जरूरत थी। यह विशेष विजय अभियान सफल हुआ अवश्य, लेकिन इससे सामंतशाही की जड़ें और भी ज्यादा मजबूत हो गई।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बाहरी ढांचे की चूलें बैठाना तभी संभव हो सकता है जबकि भीतरी भेद बहुत बड़े न हों। अतः पूर्व गुप्तकाल में जबकि

शक्तिशाली केंद्रीय सरकार को विकासशील ग्राम व्यवस्था से नया धनागम होने लगा था, गीता का रचा जाना युक्तियुक्त ही था। व्यापार पुनः बढ़ती पर था, और बहुत से संप्रदायों को प्रचुर आर्थिक सहायता उपलब्ध थी। हर्ष शीलादित्य के समय तक स्थिति बिल्कुल बदल गई थी हालांकि मठों को पर्याप्त उदारतापूर्ण बहुतेरे दान उस समय भी प्राप्त थे। गांवों की अर्थव्यवस्था ऐसी थी कि वे लगभग स्वतः पूर्ण और आत्मनिर्भर थे। अतिकेंद्रीकृत किंतु व्यापार-विरत राज्य द्वारा करवसूली लाभकर बात नहीं रह गई थी क्योंकि प्रतिव्यक्ति वस्तु उत्पादन और नकदी व्यापार मंदी पर थे।[25] यह एक ऐसा तथ्य है जो तत्कालीन कुरूप सिक्कों से पूरी तरह प्रमाणित है। कुषाण सातवाहन काल में सोना, चांदी, रत्न इत्यादि के सामंती और मठ सास्थिक अंबार के बावजूद उस काल का मूल्यवान संकेंद्रित विलास वस्तु व्यापार सापेक्ष ह्रास को प्राप्त हो गया था। पटना जैसे किसी जमाने के आलीशान शहर जो उत्पादन की दृष्टि से

1.20 हरिहर

अनावश्यक हो गए थे, छीजकर ऐसे खंडहरों वाले ग्राम भर रह गए थे जिन्हें लोग महज दैवी लीला का परिणाम मानने लगे थे। सबके गुजर-बसर भर सब कुछ सुलभ

नहीं था, एक न एक समूह को तंगहाली झेलने की लाचारी थी। इसका एक उदाहरण है संयुक्त हरिहरि पूजाविधि (जिसमें ऐसी प्रतिमा पूजी जाती है जिसका आधा भाग शिव है और आधा विष्णु (चित्र 1.20), जो कुछ काल तक प्रचलित रही, लेकिन 11वीं सदी के बाद अधिक नहीं चल पाई। हरि और हर के उपासकों के अपने हित एक दूसरे से बहुत भिन्न थे, जिसका नतीजा हुआ कि इस संयुक्त उपासना की जगह स्मार्त वैष्णव संघर्ष ने ले ली। बाद में जब मुगलकाल सुख-समृद्धि के शिखर पर आया तब अकबर ने दीन-ए-इलाही के रूप में एक संश्लिष्ट धर्म की कल्पना की किंतु औरंगजेब को अपने समय में घटते हुए राजस्व को बढ़ाने के लिए और कुछ न सूझा तो धार्मिक अत्याचार पर उतर आया और काफिरों (हिंदुओं) पर जजिया कर लगा दिया।

सारांश यह कि गीता की रचना ऐसे ही काल में संभव थी जबकि उसका लिखा जाना समय के लिहाज से निहायत जरूरी नहीं था। शंकर को देखिए, उनको तो धर्मशास्त्रीय संविवाद को लेकर गहन खंडन-मंडन के अखाड़े में उतरते ही बना। सभी मतों के प्रति उदार दृष्टि रखने और सबको एक में विलीन कर देने का मतलब ही है कि उत्पादन साधन संबंधी संकट बहुत तीव्र नहीं है। उक्त संकट जब गंभीर हो जाता है, अधिक उत्पादन की मात्रा जब इतनी नहीं होती कि सबके लिए पर्याप्त हो सके, और संश्लेषण पद्धति जब उत्पादन बढ़ाने में सहायक नहीं होती, तब विलयन और सहिष्णुता, दोनों असंभव हो जाते हैं। देवों को देवियों से ब्याह देना प्राचीन काल में कारगर इस कारण से हुआ कि इस उपाय से, मातृसत्तात्मक और पितृसत्तात्मक संपत्तियों के बीच के भेद मिट जाने से, संयुक्त समाज द्वारा उत्पादन बहुत अधिक होने लगा। आदिम देवताओं को शिव अथवा विष्णु के परिवार में आत्मसात कर लेने से यह सुविधा हुई कि अन्न संग्रहणशील आदिवासी लोग अपेक्षाकृत बहुत बड़े अन्नोत्पादी समाज में समाविष्ट हो गए। अगर ऐसा नहीं हुआ होता तो वे या तो समूल नष्ट हो गए होते या गुलाम बना लिए जाते। और, इन दोनों में से प्रत्येक दशा में हिंसा का प्रयोग तो होता ही और समकालीन उत्पादन पर भी बड़ा प्रभाव पड़ता। जिन वैदिक आर्यों ने खुल्लमखुल्ला बल का प्रयोग किया था उन्हें, अंततोगत्वा, आदिवासी लोगों से पुनर्मिलाप करना ही पड़ा। गीता शासकवर्ग के कतिपय दलों में मेल-मिलाप कराने में सहायक हो सकती थी। इसकी भीतरी असंगतियों से किसी असाधारण सुधारक को ऐसी प्रेरणा भले प्राप्त हो सकती थी कि वह उच्च वर्गों को इस प्रकार प्रभावित करे कि वे नए लोगों को अपने में शामिल कर लें और इस तरह एक नई हकीकत को मान लें। लेकिन, इसके लिए यह शायद संभव नहीं था कि उत्पादन के साधनों में कोई मौलिक परिवर्तन ला सके, और उसी तरह, वास्तविकता की मूल पकड़ और तर्कसंगति का लिहाज न रखने के कारण, यह भी इसके लिए असंभव ही था कि भारतीय समाज की आधारभूत समस्याओं के प्रति स्वस्थ और युक्तिसंगत दृष्टि पैदा कर सके

भक्ति की सामाजिक उपयोगिता

किंतु गीता में एक नवीनता अवश्य थी, और वह थी भक्ति, जो कि बाद मे आनेवाले युग की आवश्यकताओं के हूबहू अनुरूप थी। इस ग्रंथ की रचना चाहे जिसने भी की हो, भक्ति का औचित्य उसके सामने था, क्योंकि यही एकमात्र ऐसा मार्ग है जिसमे सब प्रकार की विचारधाराएं एक ही दिव्य स्रोत से निकाली जा सकती हैं। अनुगीता जैसी बिलकुल नीरस पुस्तक की माग अपने युग मे क्या थी, यह हम देख चुके हैं। जाहिर है कि वह रचना अपने समय के लिए पर्याप्त नही हो पाई। लेकिन, जब महान केंद्रित वैयक्तिक साम्राज्य, हर्ष का साम्राज्य जिनमे अंतिम था, समाप्त होने लगे, तब कायम होने वाले नए राज्य को ऊपर से नीचे तक स्वरूपत: सामंती होना लाजिमी था। पूर्ण विकसित सामंतवाद का सारतत्व है वैयक्तिक निष्ठा की शृंखला जो अनुजीवी (आश्रित व्यक्ति) को सरदार से, असामी को मालिक से, और सामत को सम्राट मे बांधे रखती है। यह निष्ठा भावनात्मक न होकर, उत्पादन के साधन और संबंधों के रूप मे, एक विश्वसनीय आधार बात थी। इसका मतलब था कि भूस्वामित्व, सैनिक सेवा, कर संग्रहण और स्थानीय उपज का वस्तुओं में संपरिवर्तन, इन सबके माध्यम प्रभावशाली धनीमानी हो। निस्सदेह यह पद्धति ईसवी छठी सदी की समाप्ति के पूर्व सभव नही थी। सकेत शब्द[26] है सामत, जो अतत. 532 तक पड़ोसी शासक का द्योतक था किंतु ईसवी 592 तक जागीरदार सामंत के अर्थ में चलने लगा था। ये नए सामत राजा के प्रति स्वयं उत्तरदायी थे और कर सग्रहण तंत्र के अग थे। मनुस्मृति के अनुसार, राजा के कोई सामंत नही होते थे, उसे हर बात की व्यवस्था या तो सीधे आप करनी पड़ती थी या ऐसे ऐजेंटों के जरिए जिनकी कोई स्वतंत्र हैसियत नही थी। निचले स्तर से सामतवाद के और अधिक विकास का अर्थ था ग्राम स्तर पर जनता का ऐसा वर्ग जिसे भूमि पर विशेष अधिकार प्राप्त था (खेती का, दखल का या पुश्तैनी मिल्कीयत का) और इस वर्ग का काम कर सग्रहण सेवा के साथ-साथ विशेष सशस्त्र सेवा भी था। इस प्रकार के समाज और उसके राज्य को साथ बाध रखने के लिए सर्वोत्तम धर्म वह है जो भक्ति, अर्थात, वैयक्तिक निष्ठा पर जोर दे, भले ही भक्ति जिसके प्रति को जाए उसमे स्पष्टत. दोष क्यो न दिखाई दे।

अनगिनत ऐसे मध्यकालीन अनगढ 'वीर' पाषाण[27] मिले है जो युद्ध से, प्राय स्थानीय पशु छापामारी मे, ऐसे व्यक्ति की मृत्यु के स्मारक है जो साधारण ग्रामीणो से ऊंची हैसियत वाला था। प्राचीनतर काल मे, निरस्त्रीकृत गावो का सरक्षण स्थानीय रूप से रखे गए गुल्म का कर्तव्य था। किंतु अब, आयुध धारण करने का अधिकार (जिसके साथ यह बाध्यता लगी हुई होती थी कि युद्ध का आह्वान होने पर मालिक की तरफ से लड़ना ही होगा) गांव-गाव बिखरे हुए एक चुने हुए वर्ग के लोगों मे ही वितरित होने लगा था। बहुत से शिलालेखों मे गाव सामंतो की प्रशस्ति अंकित है जिन्होंने अपने राजा के कल्याणार्थ किसी मूर्ति के सामने अपना सिर अर्पित कर दिया। अनेक पुरालेखों से जाहिर है कि अमुक-अमुक स्थानीय योद्धा ने अपने सरदार की

मृत्यु के पश्चात प्राणधारण न करने का दृढ़ संकल्प कर लिया था।[28] मार्को पोलो[29] ने 13वीं सदी के पांड्यों के विषय में लिखा है कि वे लोग राजा के शव के साथ ही भस्मीभूत हो जाने के लिए राजा की चिता मे वस्तुतः कूद पडते थे। यह भक्ति भाव के खूब अनुकूल पड़ता है। है तो यह आचरण क्रूर और बर्बर ही, लेकिन कोई जंगली जनजातीय सरदार भी, जब तक कि उसका कबीला किसी अपसामान्य विषम स्थिति मे न पड़ जाए, अनुयायियों से इस तरह की निष्ठा न तो पाने की आशा रख सकता था न पा सकता था।

सामंतवादी विचारधारा में भक्ति का स्थान परम महत्व का था क्योंकि यह उसकी आधारभूत आवश्यकता थी, फिर भी, सबको इसके सुफल समान रूप से सुलभ नही थे। 12वी सदी आते-आते, सामंतिक कराधान (टैक्स) का भार कृषक वर्ग को बहुत ही अखरने लगा था क्योंकि उन्हे न केवल विलासमय राजप्रासाद के लिए बल्कि उसी के प्रतिरूप और वैसे ही समृद्ध तथा कहीं अधिक अलंकृत मंदिर के लिए भी अपने गाढे पसीने की कमाई कर के रूप में देनी पडती थी। ब्राह्मणवाद निश्चित रूप से चोटी पर आ गया था जैसाकि उस समय के दो विशाल संग्रहों, कृत्यकल्पतरु, जिसके रचयिता हैं भट्ट लक्ष्मीधर (कन्नौज के गोविंदचंद्र गढ़वाल के मंत्री, लगभग 1150 ई०), और एक सदी बाद रची गई वैसी ही एक दूसरी कृति, हेमाद्रि की चतुर्वर्गचितामणि से जाहिर है। हेमाद्रि, देवगिरि (दौलताबाद) के अंतिम यादवों के अधीन, वित्तमंत्री (महा करणाधिप) थे। उनके बारे मे वर्णन है वे कि प्रमुख संगणक (गणकाग्रणी) थे। आयु निर्धारण में सहायक कतिपय सारणियां हेमाद्रि के नाम से आज भी विद्यमान हैं। यह नाम, मराठी परपरा मे, संवर्धित खाद्यान्न के रूप मे सामान्यतः प्रयुक्त बाजरी से, घसीट मोडी वर्णमाला से, और ऐसे अनेक दृढ़ संधियुत गारारहित यादव मंदिरों से भी (गलती से) जुड गया है जो कि शताब्दियों पूर्व निर्मित किए गए थे और जो अनुपम अनुपात एवं संतुलन वाले छोटे-छोटे देवमंदिरों से विकसित होते-होते 12वी सदी तक विपुल, बेडौल, सुसंपन्न इमारतों में परिणत हो गए थे। किंतु हेमाद्रि की उक्त महान कृति अर्थशास्त्र, आईन-ए-अकबरी अथवा भारतीय व्यवहार विधिसंग्रह जैसी न होकर प्रायः बिलकुल ही उन ब्राह्मण संस्कारों और धार्मिक अनुष्ठानों (कर्मकांड) से संबद्ध है जिन्हें पुराणों तथा अन्य मान्य धर्मग्रंथों से लेकर संहिताबद्ध कर दिया गया है। प्रकाशित रूप मे जो सात जिल्दें है उनमें शायद 3/5 हिस्सा मूल ग्रंथ का है। उसमे किसी देवता विशेष, चांद्र तिथि, अतिचार (पाप), उत्सव, पूजा, पर्व या अवसर विशेष के लिए जो विशेष संस्कार विहित हैं उनका दसवां हिस्सा भी अगर कोई व्यक्ति पूरा करे तो उसे और कुछ कर सकने के लिए समय ही नही बचेगा। एक अंधविश्वासी, आरामतलब वर्ग के प्रमाण ग्रंथ के रूप मे दूसरी ऐसी कोई कृति नही है जो इसकी तुलना में रखी जा सके। लक्ष्मीधर के संग्रह मे विधिशास्त्र विषयक एक प्रकरण सुरक्षित है जिसमे बताया गया है कि व्यवहार मे सामान्य विधि चलती थी और निर्णय आधारित होते थे प्रत्येक जाति,

'चोखा मेना' एक अछूत था, उस बेचारे बूढ़े को बेगार में पकड़कर मंगलवेढे नगर की दीवार के निर्माण में लगा दिया गया, और वही, दीवार के ढह जाने से, उस गरीब की मृत्यु हो गई। एकनाथ (चित्र 1.22) पैठण ब्राह्मण थे। ज्ञानेश्वरी जिस रूप में अभी मिलती है उसे (1590 में), और इसी तरह बहुत सी ललित मराठी कविताओं को भी, प्रस्तुत करने का श्रेय उन्हीं को है। अस्पृश्यता के अभद्रतम बंधनों को तोड़ फेंकने के लिए उन्होंने जबरदस्त कोशिश की, बहुत ही कष्ट उठाया। इन संतों मे सबसे महान हुए 16वीं सदी के कुणबी (किसान और बनिया) तुकाराम (चित्र 1.23)। क्या नही झेलना पड़ा उन्हें ? कराल अकाल, समकालीन लोकगीतकारों की निरंतर ईर्ष्या और ब्राह्मणों की तिरस्कारपूर्ण घृणा। अंततः बेचारे ने नदी मे जल-समाधि ले ली। ये सभी लोग एक ऐसे व्यापक आंदोलन के प्रतिनिधि थे जिसकी शाखें उनके

1.22 एकनाथ 1.23 तुकाराम

अपने-अपने प्रदेश और भाषा से निकलकर दूर-दूर तक फैल गई थी। सामान्यतः उनका जीवन बहुत कष्ट में बीता जिससे जाहिर है कि वे विरोध-पक्ष मे ही रहे, कभी भी शक्ति और सत्तावालों को रिझाने के लिए, कवियों की कला नही अपनाई, जैसा कि ब्राह्मणों ने किया, जो बराबर ही धनिकों के पिट्ठू बने रहे, लेकिन जब फायदा होता देखा, तब इन संतो के स्वर में स्वर मिलाने से भी परहेज नही किया।

जाहिर है कि मराठों ने और उसी तरह बाद में सिखों ने भी, वास्तविक सैनिक शक्ति अपनी सरलतर, कम जातिग्रस्त, और कम विषम जीवन-प्रणाली से प्राप्त की थी। पूर्वकालीन सुप्रतिष्ठित मराठा सेनानी चन्द्रराव मोरे, भोंसले, और जाधव तो कुलीन परिवारों से आए थे, इनमें भी जाधव तो देवगिरि के यादव सम्राटों के साथ, और उनकी मारफत संभवतः स्वयं श्रीकृष्ण के साथ भी, रिश्तेदारी का दावा कर सकते थे, किंतु, शिंदे और गायकवाड जैसे उत्तरकालीन मराठा सेनानी (जनरल) तो अपेक्षाकृत हीन परिवारों से ही आए थे। उसी तरह, मल्हार राव होल्कर धंगर गड़रिया जाति का था, असाधारण पराक्रम ने ही उसे इतना ऊंचे उठा दिया अन्यथा,

सामान्यत:, उसे सेनानी (जनरल), उपराज (ड्यूक), और अंततः राजा की पद-प्रतिष्ठा तक कदापि नही पहुंचने दिया जाता। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें से कुछ का संबंध प्राचीन 'वार्करी' प्रथा से है, जैसे, मराठा सेनाओं का ध्वज भगवा झंडा। बडवे ब्राह्मण पुरोहितो के प्रभाव तथा पेशवा-काल के प्रबल ब्राह्मणवाद के बावजूद, वार्करी तीर्थयात्री लोग यात्रा के दौरान जात-पांत के भेद-भाव और आचार-विचार का कम ही खयाल रखते थे। लेकिन, यह सुधार और इसके लिए संघर्ष सामंतवाद के खिलाफ सुलक्षित रूप से कभी चलाया ही नही गया। अत. उसकी सफलता का मतलब ही था सामंती संरक्षण, और, एक लोकतंत्रात्मक आदोलन को विजय और लुटपाट की दारुण दिशा मे मोड देने के कारण, अंतत: सामंती अपकर्ष।

समेकित गीता दर्शन नूतन मार्ग के लिए अवकाश तो दे सकता था, लेकिन सामाजिक गतिरोध की अंधी गली से निस्तार के लिए आवश्यक विश्लेषणात्मक साधन कदापि नही। ज्ञानेश्वर के जीवन और दु.खात लोकयात्रा से यह वात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है। उन्होने गीता के दैवी संदेश का शब्दानुवाद न करके उसके अर्थ और सारतत्व को अपने शब्दों मे प्रस्तुत किया, ऐसे शब्दो मे जो मराठा किसान के भी पल्ले पड सके। गीता-मूल पर उनकी सबसे लंबी टीका गीता के 13वें अध्याय में 'क्षत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोग' पर, और खासकर गी० 13-7 पर (जहा उन्होंने ज्ञा०-13-314-338 मे स्वयं इस बात के लिए क्षमायाचना की है कि वे मूल से बहुत दूर चले गए है) तथा गी०-13-11 पर है। पूर्वकथित मे (ज्ञा०-13-218-224), उन्होने वृष्टिकारी याज्ञिको की कटु आलोचना की है, फिर भी, ज्ञा० 3-134-5 मे, इन्ही यज्ञो को उन्होंने वैसा ही ठीक और आवश्यक माना है जैसे उनके दिव्य आदर्श (कृष्ण) ने, और पुनः दोनों ने (गी० 18-5 ज्ञा० 18-149-152) हमे ताकीद की है कि यज्ञ का परित्याग कदापि नही करना चाहिए क्योकि यह भी उसी तरह अत्याज्य है जैसे दान और तप। ज्ञा० 13-812-822 मे मिश्रित अंधविश्वास को दमघोटू असंगतियों पर विशद प्रकाश डाला गया है: 'देहाती किसान, सुविधानुसार, एक के बाद दूसरी पूजा-पद्धति को चलाता है। यह उस धर्मोपदेशक का अनुयायी बन जाता है जो तत्समय परम प्रभावशाली जान पडता है और उसके गूढ सिद्धात एवं विधि को सीख लेता है। वह जीवितो पर तो क्रूर दृष्टि रखता है मगर जड़ पत्थरो और प्रतिमाओ पर प्रबल आस्था, और तब भी ईमानदारी इन दोनों में से एक के भी प्रति नही बरतता। वह मेरी (कृष्ण की) प्रतिमा बनाकर घर के कोने मे स्थापित करता है और तब किसी देवता आदि के दर्शनार्थ तीर्थाटन को निकल जाता है। वह प्रतिदिन मेरी प्रार्थना करता है लेकिन आवश्यकता पड़ने पर अपने कुल देवता को भी पूजता है, और खास-खास मांगलिक अवसर पर अन्य देवताओं को भी। वह पूजा-प्रतिष्ठा तो मेरी करता है मगर मन्नतें औरों की मानता है, और बरसी के दिन पित्तरों का श्राद्ध-तर्पण करता है। एकादशी के दिन वह देवपूजन करता है तो, वैसे ही, पंचमी के दिन नागपूजा। गणेश चतुर्थी के दिन वह एकमात्र गणेश की पूजा करता है, और चतुर्दशी के दिन उसकी प्रार्थना इस

प्रकार मुखर होती है : 'मां, दुर्गे, मैं एकमात्र तुम्हारा ही हूं'—नवरात्र वह चंडी पाठ करता है, रविवार को दरिद्रनारायण भोज का आयोजन, और सोमवार को बेलफल लेकर शिवलिंग पर चढ़ाने जाता है। इस प्रकार वह नगरद्वार पर पतुरिया की भांति बराबर प्रार्थना ही करता रहता है, एकक्षण भी विश्राम नहीं लेता।' किंतु ज्ञानेश्वर के समय के समाज में ऐसी सर्वग्राही उदार पूजा सभी स्तरों पर आम रूप से प्रचलित थी, यहां तक कि ऐसे सर्वोच्चवर्गीय लोगों में भी जिनके लिए लक्ष्मीधर और हेमाद्रि ने अपने विशाल सार-संग्रह रचे थे। भाष्यकार ने उस हद तक एक अत्याचारी उच्च-वर्ग की वृद्धि के विरुद्ध, परोक्ष रूप से ही सही, आपत्ति प्रकट की है। ज्ञानेश्वर का भाष्य बिलकुल मौलिक है और इसके जरिए उन्होंने गीता सिद्धांत को एक अद्भुत आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया है (ज्ञा० 9-460-470) : 'क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र और अछूत, इनका अपना-अपना पृथक अस्तित्व तभी तक है जब तक उन्होंने मुझे प्राप्त नहीं किया है, उसी तरह, जिस तरह पूर्व या पश्चिम से आने वाली नदियां अपना-अपना नाम तभी तक धारण करती हैं, जब तक वे समुद्र में मिल नहीं जातीं। जो कोई, चाहे जिस भी प्रयोजन से, मुझमें मन लगता है, वह मेरे भगवत-स्वरूप को ही प्राप्त हो जाता है, जैसे, जो लोहा पारस पत्थर पर प्रहार करता है वह उसके संसर्ग से स्वर्ण में बदल जाता है। अतः गोपियों ने विषयासक्ति से, कंस ने भय से, शिशुपाल ने अमिट घृणा से, वसुदेव और यादवों ने रिश्तेदारी से, और नारद, ध्रुव, अक्रूर, शुक तथा सनतकुमार ने भक्ति से अपने-अपने भाव से इन सबने मुझे प्राप्त कर लिया। मैं ही वह अंतिम आश्रय हूं जहां सबके सब ठीक या गलत रास्ते से, भक्ति से, वासना या पवित्र प्रेम से अथवा शत्रुता से पहुंचते हैं।' असहिष्णु अनन्य भक्ति का ऐसा सौम्य उदात्तीकरण न तो गी० 9-32 में देखने में आता है (जिस पर यह ललित टीका की गई है) न मूलतः क्रूर कृष्ण-कथा में। तथापि, ठीक इसके बाद वाले श्लोक की टीका में टीकाकार ने ब्राह्मणों को साक्षात भूदेव कहकर उनकी प्रशस्ति की है। उनके सम-कालीन ब्राह्मणों ने उनका बहिष्कार कर दिया था। इसके बावजूद वे ब्राह्मणों के वैदिक ज्ञान को, जो कि दीक्षितों को छोड़कर बाकी सब के लिए बाजाब्ता वर्जित था, प्राप्त करने के प्रयास से कभी विमुख नहीं हुए। और यह बहिष्कार निस्संदेह एक मुख्य कारण रहा होगा जिससे प्रेरित होकर उन्होंने गीता को मराठी में रूपांतरित करने का निश्चय किया। और इस तरह, उन्होंने अपने ग्रंथ में उन आंतरिक असंग-तियों को समाविष्ट कर लिया जिन्हें वे अपने समय के समाज में देख पाए किंतु गीता में ढूंढ़ने में असफल रहे। और इसीलिए, उन असंगतियों के समाधान की दिशा में वे कोई आंदोलन नहीं चला सके। यद्यपि दैहिक अमरता और गूढ़ आध्यात्मिक सिद्धि के मार्ग-स्वरूप योग में उन्हें निपुणता प्राप्त थी। (तुलना करें गी० 6-13-15 पर ज्ञा०) तथापि आत्महत्या के सिवा उनके लिए कोई चारा नहीं रह गया। उनकी निराशा का एक दूसरा कारण यह भी रहा होगा कि मुस्लिमों ने अचानक वार करके बहुत से सुसंपन्न मंदिरों को उजाड़ डाला और देवतागण चुप ताकते रह गए। उसी तरह,

यादव राज्य भी उजड़ गया, उसे बचाने के लिए कोई कृष्णावतार नहीं हुआ।

गीता और वर्तमान युग

अलाउद्दीन खिलजी के फरमान से और मुसलमानों की विजय के परिणामस्वरूप भारी खिराज का भुगतान लागू हो जाने से मुख्य सामाजिक समस्या को जबरन एक नए ही धरातल पर धर दिया गया। इसके चलते और भी कारगर तौर पर कर संग्रहण की आवश्यकता प्रबल हो गई, और इसका परिणाम हुआ कि एक नए, शक्तिशाली और दक्षतर सामंतवाद को बल मिल गया। कुछ आशावादियों का खयाल है कि दीनतर वर्गों को तो फायदा ही हो गया क्योंकि अलाउद्दीन सिर्फ धनिकों से ही धन ऐंठता था, जिन्हें शक्तिहीन बना दिया गया था। यह अनुदार दृष्टि जान-बूझकर इस बात का जिक्र नहीं करती कि दोआबों में भी (जो सीधे प्रशासित होते थे), कृषक वर्ग पर पहले से लदे हुए भारों में से एक भी कम नहीं हुआ। उनके पावने एक दूसरी ही एजेंसी से वसूल किए जाते थे, हालांकि यह सही है कि कुछ समय के लिए उच्चतर हिंदू वर्गों को नए-नए कर लगाने से रोक दिया गया। लेकिन सूबों को तो इतनी भी राहत सुलभ नहीं थी क्योंकि दिल्ली सल्तनत यह जानने की तकलीफ उठाए बिना कि प्रांतीय धनी-मानी लोग खिराज की वसूली किस प्रकार करते हैं तथा उसके अतिरिक्त और कितना झपट लेते हैं, विजित क्षेत्रों से खिराज बड़ी कड़ाई से लिया करती थी। स्थानीय सैन्य शक्ति को यद्यपि इस हद तक क्षीण कर दिया गया था कि शाही सेना को उससे कोई खतरा नहीं रह गया था, फिर भी, बल प्रयोग का उसका रवैया राजस्व संग्रहण रूपी उसके मुख्य प्रयोजन की पूर्ति के लिए बिल्कुल पर्याप्त था। खिराज का भुगतान वस्तुतः होता हो या नहीं मगर कर लगाने और जबरन वसूल करने का सिलसिला तो लगातार जोर ही पकड़ता गया, यहां तक कि उन क्षेत्रों में भी जो कि ला-खिराज थे। कर की फाजिल वसूली करनेवाला वर्ग क्रमशः ज्यादा हिस्सा रोक रखने लगा जिसका नतीजा हुआ कि राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति अतीत की बात बनकर रह गई, उन गुजरे दिनों की, जब व्यापार एवं नवीन कृषि उत्पादन को सामंतवाद का प्रश्रय और प्रोत्साहन प्राप्त था। बाद में यह संकट और उग्र हो गया, और इसे दूर किया एक दूसरी विदेशी विजय ने, जिसके उपरांत उत्पादन का एक बिल्कुल दूसरा ही ढंग, बुर्जुआ पूंजीवादी तरीका चल पड़ा। आधुनिक स्वाधीनता आंदोलन ने उत्पादन के तरीके का विरोध नहीं किया, इसने सिर्फ यह आग्रह किया कि सत्ता नव विकसित भारतीय बुर्जुआ (मध्य वर्ग) के हाथ में आवे।

आधुनिक जीवन विज्ञान और स्वतंत्रता पर आधारित है। अर्थात आधुनिक उत्पादन अंततोगत्वा *भौतिक वास्तविकता के ठीक-ठीक बोध (विज्ञान)* तथा आवश्यकता की पहचान व स्वीकृति (स्वतंत्रता) पर निर्भर है। पुराणकथा मनमोहक चाहे जितनी भी हो, विज्ञान नहीं है। यह भी संभव है कि ऐसी कथाओं में पुराकाल की कोई प्राकृतिक घटना या प्रक्रिया वस्तुतः चित्रित की गई हो, लेकिन यह नहीं भूलना

चाहिए कि यह वर्णन ऐसे युग की चीज है जब मनुष्य ने प्रकृति के रहस्यों का अन्वेषण या जड़ वस्तु के अनंत गुण धर्मों का उद्घाटन करना नही सीखा था। धर्म किसी पुराण कथा को सिद्धांत का जामा पहना देता है। विज्ञान को धर्म की जरूरत है। यह कहावत सिर्फ इस बात की भोंडी वकालत है कि वैज्ञानिक को, और जो उसके आविष्कारों का उपयोग करते हैं उन्हें, सामाजिक नीति आचार का लिहाज जरूर रखना चाहिए। मेरा विचार है कि घोर अंधविश्वास के बीच दबे हुए किसी नैतिक सिद्धांत और व्यवहार के उद्धार के लिए गीता या बाइबिल का गंभीर शोध करने की कोई जरूरत नही। हां, सौंदर्य दृष्टि से रस लेना हो तो इन ग्रंथों का पाठ आज भी अवश्य किया जा सकता है। इन ग्रंथों को लेकर जो लोग बड़े-बड़े दावे करते हैं वे प्रायः दूसरों के विचारों को पूर्वग्रह दूषित करने का और मानवीय प्रगति में बाधा डालने का प्रयास करते हैं क्यों कि उनके दावे सत्याभास मात्र है।

आध्यात्मिक तल पर व्यक्तिगत पूर्णता की प्राप्ति तब बहुत आसान हो जाती है यदि पहले हर व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति उस पैमाने पर हो जाए जिसे तत्कालीन समाज ने समुचित[30] माना है। तात्पर्य यह कि पाप का प्रधान मूल सामाजिक है। सामाजिक पाप के मूल कारण अब मानवीय दृष्टि से ओझल नही हैं। उनका उपचार धर्म दर्शन में नही, समाजवाद में है, जिसका मतलब है योजनाबद्ध प्रयोग से प्राप्त तर्कसंगत निष्कर्ष पर आधारित आधुनिक विज्ञान को, स्वयं समाज के निर्माण में प्रयुक्त करना। आधुनिक उत्पादन में विज्ञान ही आधारभूत है, इसके सिवा अन्य कोई भी उत्पादन का साधन दिखाई नही देता जो मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। फिर, यह भी है कि भौतिक आवश्यताओं की पूर्ति तो, सभी लोगों की, निश्चय ही की जा सकेगी, बशर्ते उत्पादन के संबंध उसमें बाधक न हों।

अध्याय 1 संबंधी टिप्पणियां

निम्नलिखित संकेताक्षर प्रयुक्त हुए हैं

गी०—भगवद्गीता; ला०—ज्ञानेश्वरी; महा०—महाभारत, उप—उपनिषद; ऋ० वे०—ऋग्वेद; जे० बी० बी० आर० ए० एस०—जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी; बांबे (पूर्वनाम बांबे ब्रांच आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी), ए० बी० ओ० आर० आई—ऐनल्स आफ द भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना; अर्थ-कौटिल्य का अर्थशास्त्र, जे० आर० ए० एस—जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी, लंदन। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के लिए, भारतीय इतिहास के अध्ययन की भूमिका (इंट्रोडक्शन टु द स्टडी आफ इंडियन हिस्ट्री) नामक मेरी अपनी कृति, विस्तृत विवरण दिए बिना, काम में लाई गई है।

1. महाभा० 6-23-40, पूना संस्करण, स्वर्गीय व्ही० एस० सुकठकर के संपादनत्व में उपक्रमित, जिनके निदेशाधीन आदि, सभा, आरण्यक, उद्योग और विराट पर्व पूरे किए गए। बाद वाली जिल्दें कम संतोषप्रद हैं, और यह संस्करण अभी तक पूरा नहीं हुआ है। खासकर गीता के संबंध में, शेष संस्करण के लिए स्वीकृत मानक के विरुद्ध वे पाठ रखे गए हैं जो शंकर कृत माने जाते हैं। गीता

के बहुतेरे उपयोगी अनुवाद उपलब्ध हैं जिनमे एफ० एडगर्टन (हारवर्ड ओरिएंटल सीरीज), के० टी०
तैलग (सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट) और एम० राधाकृष्णन (लदन 1948) विशेष उल्लेखनीय है।

2 आर० जी, भडारकर कृत वैष्णविज्म, शैविज्म, एंड माइनर रिलिजस सिस्टम्स (मूलत
1913 मे ग्रुड्सि डी० इडो-आरियेन फिलालाजी यू आल्टरटुम्सकु हे मे प्रकाशित, पुनः 1929 में पूना
से उनके रचना सग्रह की जिल्द 4 मे प्रकाशित)। इसमे सक्षेप मे यह बताया गया है कि क्लासिकल
और मध्यकाल मे गीता के सिद्धात का क्या प्रभाव था, लेकिन ऐतिहासिक परिस्थिति का कोई हवाला
नही दिया गया है, वस्तुत वह उस समय ज्ञात थी ही नही। इस सिद्धात का स्वय भडारकर पर जो
प्रभाव पडा उसका परिणाम हुआ कि एक छोटा-सा सुधारवादी आंदोलन, प्रार्थना समाज (ब्राह्म समाज
की एक शाखा) चल पडा, जिसमे श्री भडारकर प्रमुख व्यक्ति थे, और विधवा विवाह को समर्थन
मिला, जो उस समय कम से कम 85% जनता मे भले ही प्रचलित था किंतु ब्राह्मणो मे बिलकुल
नही सपूर्ण भारत के लिए बोलने की कोशिश मे वे वस्तुत एक बहुत सीमित वर्ग का ही प्रतिनिधित्व
कर रहे थे, लेकिन यह बात न तो उनके ध्यान मे आई न इस विषय को लेकर उनके समय के अन्य
सुधारको को ही सूझी। फिर भी, विचार के क्षेत्र में यह जो परिवर्तन हुआ कि जाति की जगह वर्ग
पर जोर दिया जाने लगा, यह एक महत्त्वपूर्ण और अवश्यभावी बात थी।

3 विशेषत, धर्म को सिद्धात का, अथवा यहा तक कि अखिल समाज के लिए एक सार्वभौम
नियम का, नया अर्थ बौद्धमत ने ही दिया था, जो कि गीता के समय के बाद तक भी अस्वीकृत ही
रहा। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति 8.41 मे कहा गया है, 'राजा को अवश्य ही प्रत्येक जाति, जनपद:
श्रेणी और कुल के धर्म (विधि नियम) के विषय मे पूछताछ करनी चाहिए, और तभी स्वधर्म
(अपना विधिक निर्णय) व्यक्त करना चाहिए।' गीता को लेकर जो इतनी उलझन बनी हुई है वह बहुत
कुछ तथ्य की ओर वृहत् सामाजिक समूहो के वास्तविक रिवाजों की जानकारी न होने तथा ब्राह्मण-
लेख्यो को ही अखिल भारतीय समाज के प्रतिनिधि रूप मे ग्रहण करने की वजह से है।

4 मानक निदेश ग्रथ है एफ० ई० पार्जिटर कृत 'द पुराण टेक्स्ट द डिनेस्टीज आफ द कलि
एज' (आक्सफोर्ड, 1913)। कुछ सिद्धात विवादास्पद हैं क्योकि उनका प्रतिवाद किया गया है,
उदा०, जे० आर० ए० एस० मे ए० बी० कीथ की समीक्षा, तो भी, यह कृति जीवित है और पुराणो
मे प्राप्य ऐतिहासिक सारवस्तु को सक्षेप मे प्रस्तुत करने की वजह से इसने यथोचित ख्याति भी
पाई है।

5. इसका अनुवाद एस० बील० कृत 'बुद्धिस्ट रेकर्डस आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड', (लदन 1884,
जिल्द 1, पृष्ठ 184-186) मे प्रस्तुत है। उसमे पृष्ठ 185 पर गीता 2.37 का समतुल्य वक्तव्य
दिया गया है, और एक अन्यथा विकृत विवरण मे धर्मक्षेत्र में हुए एक महायुद्ध का सुस्पष्ट उल्लेख है,
जहा की धरती अस्थियो से अभी तक धवलित है।

6. व्ही० एस० सुकठकर : 'द नल एपिसोड एड द रामायण इन फेस्ट्सक्रिफ्ट', एफ० डब्ल्यू०
थामस, पृ० 294-303, विशेषत पृ० 302, जहा वह इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि इन दोनो
विवरणो के घेरे मे वर्तमान रामायण समाविष्ट है। यह निबध उनके मेमोरियल एडिशन (स्मृति
ग्रंथ) (पूना, 1944), पृ० 406-415 मे पुनर्मुद्रित है। स्फीति (विस्तारण) की प्रक्रिया के सबध

मे, देखें उनका एपिक स्टडीज-6, और जे० ए० ओ० ए० 69-110-117 मे 'पर्वसग्रह' पर मेरी टिप्पणिया, भीष्मपर्व और गीता के 745 श्लोको के लिए, वही, 71. 21-25 द्रष्टव्य।

7. जे० ब्रू : द अर्ली ब्राह्मनिक्ल सिस्टम आफ गोत्र एड प्रवर (कैंब्रिज, 1953), पृ० 27 मे कहा गया है कि हिरण्यकेशी सत्यसाढ ने केवल आगिरसो को तो बिलकुल छोड़ ही दिया है, लेकिन उनके विचार से यह एक आकस्मिक छूट है। इतनी बड़ी चूक हो जाए यह अति असभाव्य प्रतीत होता है। जे० ए० ओ० एस० 73-202-208 मे प्रकाशित मेरी समीक्षा को गलती से विवाद मान लिया गया, जबकि मेरा जोर इस बात पर था कि गोत्र विषयक सैद्धातिक रचनाओ को स्वतत्र सप्रेक्षण से मिलाकर जाच लेना चाहिए। उदाहरणार्थ, मयूरा के ब्राह्मी उत्कीर्ण लेखो मे उल्लिखित सेग्र व (शैग्रव) गोत्र का किसी भी किताब मे कोई जिक्र नही है। इससे भी कही आश्चर्यजनक है असख्य स्थानीय ब्राह्मण-समूहो का अस्तित्व, जिनकी सिद्धातानुवर्तिता को कभी परखा नही गया है। महाराष्ट्र के नगरवासी लोग ब्राह्मणो को मुख्यत सारस्वत, चित्पावन, देशस्थ और कर्हाडा समूहों का मानते हैं। यथा प्रकाशित बाबे प्रात की 1941 की जनगणना की जाति सारिणयो से जाहिर होता है कि इकट्ठे इन सभी प्रवर्गों के ब्राह्मणो से अन्य ब्राह्मणो की संख्या अधिक है, और यह कि यद्यपि ग्रथ और सिद्धात उक्त प्रमुख समूहों के हाथ मे है तथापि सामान्यतः प्रबल तो स्थानीय ब्राह्मण-समूह ही हैं। भृगु लोग विशेषत महाभारतीय (विस्तारण) से, सबद्ध हैं जैसा कि श्री व्ही० एस० सुकठकर द्वारा उनके गौरव ग्रथ एपिक स्टडीज-6 (ए० बी० ओ० आर० आई० 18-1-76, मेमो० एडि० 1-278-337) मे प्रमाणित किया जा चुका है। यह ज्ञातव्य है कि भार्गव विस्तारण नारायणीय विस्तारण के विरोध में न होकर उससे स्वतत्र रूप मे हुई थी, और भार्गव विस्तारण जब क्रमशः क्षीण हो गया तब भी नारायणीय विस्तारण जारी रहा। यहा तक कि महाभारत का प्रसिद्ध मगलाचरण का श्लोक है, नारायण नमस्कृत्य—जो कि प्रचलित संस्करणो में देखने को मिलता है, शुद्ध पाठ मे छोड़ दिया गया है। फिर भी अधिकाश खास भार्गव विस्तारण या अतिशयोक्तिया (जैसे, परशुराम पर अकारण जोर) बाद मे कायम रह ही गई है। गीता 10-25 मे भगवान ने अपने को महर्षियो मे भृगु कहा है (महर्षीणाम् भृगुरहम्), हालाकि वैदिक परपरा में भृगु का कोई स्थान नही है, और आगे चलकर भी नगण्य ही रहा।

8. एपिग्राफिया इ डिका, 8.36 एवं आगे।

9. अश्वघोष कृत 'बुद्धिचरित' और सौंदरनदा' अब तक विद्यमान हैं, और उनके सुभाषितो का तो कहना ही क्या, जो उनके नाम से कविता सग्रहो मे बिखरे पड़े हैं। 'सारिपुत्र' प्रकरण नामक नाटक के खंडो को, जो केंद्रीय एशिया के घासवाले मैदानो मे प्राप्त हुए हैं, एच० लूडस ने क्रमविन्यस्त किया है। यह, या इसी नाम का कोई दूसरा नाटक, फाहियान के समय मे गुप्त साम्राज्य के केंद्रस्थल मे भाडे के अभिनेताओ द्वारा अभिनीत हुआ था। इसी ग्रन्थ तरह के नाटक भी मौगल्लान और कस्सप के धर्मपरिवर्तन (बौद्ध धर्म मे दीक्षित होने) के समय खेले गए थे। ज्ञातव्य है कि ये तीनो अनुयायी और स्वयं अश्वघोष भी ब्राह्मण ही थे।

10. महाभा० के रचयिताओ ने इसमे सब कुछ समाहित कर लेने की अपनी कामना उद्घोषित की है। महाभा० 1.1-2 के अनुसार, यह कृति क्रमश: इतिहास, पुराण उपनिषद् और वेद है, और वेद चतुष्टय (चारो वेदो के समूह) से बढ़कर है। कवियो के लिए तो यह कथावस्तुओ का

भडार ही है। महाभा० 1 56-33 में यह गर्वोक्ति की गई है : यद् इहास्ति तद् अंयत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्) अर्थात, जो यहा है, सभव है, अन्यत्र हो, लेकिन जो यहा नही है, शायद ही और कही मिले।

11 के० टी० तैलग द्वारा अनूदित, टिप्पणी-1 द्रष्टव्य। एक उत्तरगीता भी है, जो पर्याप्त आधुनिक एवं अप्रामाणिकृति है।

12 यह दीघनकाय का द्वितीय सुत्त है, जो बाद मे रचे गए मिलिदप हो, राजा मिलिंद (मिनादर) की प्रश्नावली, के लिए कई दृष्टियों से आदर्शस्वरूप रहा है।

13. एक प्रेस-साक्षात्कार मे श्री चक्रवर्ती राजगोपालचारी ने ऐसा स्पष्ट रूप से कहा था।

14. मूल पूजा विषयक एकमात्र प्रकाशित पुस्तक, जिसका मुझे पता चल सका है, बगला मे रामेश्वर भट्टाचार्य कृत 'सत्यपीरेर कथा' है (सपा०—श्री नरेंद्रनाथ गुप्त कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1930)।

15. इस कडिका (पैराग्राफ) और अगली कडिका की विषयवस्तु 'अवतार समन्वय और भगवद्गीता के सभव स्रोत' (अवतार सिंक्रेटिज्म एड पार्सेबिल सोर्सेजा आफ द भगवद्गीता) शीर्षक मेरे एक निबध मे विस्तार से विवेचित है, जो जे० बी० बी० आर० ए० एस० जिल्द 24-25 (1948-49), पृष्ठ 121-134 मे प्रकाशित है।

16 ऋग्वेद 8-96- 13-14, किंतु कोई-कोई इसे सोम आख्यान के रूपक का अंग मानकर इसकी रहस्यात्मक व्याख्या करते हैं। परपरागत अर्थ यह है कि कृष्ण एक असुर था, अर्थात, अनार्य और अशुमती नदी के तट पर इन्द्र से युद्ध एक तथ्य था, न कि किसी अन्य बात का प्रतीक।

17. सपा०, के० डी० ब्रोस, लीडेन, 1936। इस विशिष्ट नाग पूजा को बौद्ध भिक्खुओं ने (राजतरगिणी 1. 17-8) बौद्ध आचार्य नागार्जुन के समय मे वस्तुत. समाप्त कर दिया था जबकि ब्राह्मणगण असहाय भी कर दिए गए थे। इसका प्रतिविधान ब्राह्मणो ने नीलमतपुराण (राज० 1. 182-6) रचकर किया, जैसा कि कल्हण ने प्रसगत. उल्लेख किया है।

18 ए० बी० ओ० आर० आई०, 1. 59-66, जे० आर० ए० एस० 1909. 1055-5. 1087-93 1910 813-5, 815-7।

19. देखें, जे० आर० ए० एस० 1960,17-31, 135-144 अथवा इस पुस्तक का अध्याय 4, गुफा चित्रकारी के सबध मे (मूलत. जिसका पता चलाया कार्लील ने), मैन, 85-1958 मे श्रीमती बी० आलचिन का लेख सं० 207 प्लेट एम० (पृष्ठ 153-55) द्रष्टव्य।

20 प्रसगाधीन आश्वासन सुस्पष्ट है : 'जब-जब धर्म का पतन और अधर्म का उत्थान होता है, तब-तब मैं अपने को अवतार रूप में सृजित करता हू।' अगले श्लोक मे यह उद्घोषित किया गया है कि भगवान सज्जनों के परित्राण, दुर्जनो के विनाश तथा धर्म के सस्थापन के लिए युग-युग मे सशरीर प्रकट होते हैं। इस बात पर और जोर देने की जरूरत नही कि महाभारत काल मे क्षेमतलब अवतार ग्रहण ने एक सर्वतोभद्र अवतार को नाहक ही बरबाद कर दिया, दरअसल उसकी जबरदस्त जरूरत तो और कही थी।

21. यह पूजा पार्वतीग्राम के सस्थापन के समय की है अत. यह पेशवा मदिर से पुरानी

है जो उस देवी के नाम पर बना जिसने महिषासुर का वध किया। तुल० बबे गजेटियर, जिल्द 18, भाग-3 (पूना जिला), पृ० 388।

22. जे० मैरिंगर और एच० जी० बैंडी कृत 'आर्ट इन दि आइस एज', ह्यूजो ओबरमेयर के अनुकरण मे (लदन 1953), विशेषत: चित्र 30, 31, 70 (मुखौटा सहित और बाहें भी गज के दातो के अनुकरण की मुद्रा मे), 142, 143 और शायद 166।

23. यह हर्ष के उत्कीर्ण लेखो (शिलालेखो) मे द्रष्टव्य है (उदा० एपिग्राफिया इडिका 7. 155-60), उनके 'नागानद' नामक बौद्ध नाटक के आरभ मे गौरी के प्रति मगलाचरण के छद हर्षचरित मे बाण कृत वर्णन एव ह्वेनसाग का विवरण (बील 1. 323, स्तूप, विहार, भव्य महेश्वर मदिर और सूर्य मदिर, ये सब कन्नौज के समीप एक दूसरे के सन्निकट अवस्थित थे, और सदैव इन सब मे पूजा करने वालो की भीड लगी रहती थी)।

24. कश्मीर के हर्ष की मूर्तिभजकता के सबध मे, देखें राजतरगिणी, 7. 1080-1098। इसके पूर्ववर्ती राजाओ की भी यही प्रवृत्ति थी, लेकिन वे इतने कट्टर नही थे, जयापीड 8वी सदी मे (राज० 631-3, 638-9) और शकरवर्मन (5. 168-70) 883-903 ई० मे।

25. गुप्तकाल के सोने के सिक्के प्रभावोत्पादक तो हैं किंतु सामान्य व्यवहारोपयोगी नही। उनके चादी के सिक्के मौर्य पूर्व आहात मुद्रा(पचमार्क्ड) सिक्को की तुलना मे बेतरह घटिया हैं, और निधि रूप मे भी दुर्लभ ही हैं। हर्ष का सिर्फ एक चादी का सिक्का उपलब्ध है, किंतु वह भी सदिग्ध ही है। चीनी यात्री फाह्यिान और ह्वेनसाग ने दावे के साथ यह कहा है कि अधिकाश सौदा वस्तु विनिमय के रूप मे ही होता था, और कौडिया भी काम मे लाई जाती थी, लेकिन करेंसी (चलमुद्रा) का चलन बहुत कम था। मदिरो और मठो मे तथा सामतो (रईसो, जागीरदारो) के यहां धन का ढेर लगा रहा, लेकिन सपत्ति के या वाणिज्य (वाणिज्य वस्तुओ) के परिचालनार्थ उन्होने कुछ नही किया।

26. इसे 'इकानामिक एड सोशल हिस्टरी आफ द ओरिएट' (लीडेन) के लिए जर्नल मे मे प्रकाशनार्थ प्रस्तुत सामती व्यापार चार्टर विषयक मेरे एक लेख मे विवेचित किया गया है। मालवा के यशोधर्मन ने सामत का प्रयोग पड़ौसी शासक के अर्थ मे किया है, किंतु विष्णुषेण (एक मैत्रक राजा) द्वारा 592 ई० में जारी किए गए एक चार्टर (सनद या अधिकार पत्र) मे सामत का प्रयोग जिस अर्थ मे हुआ है वह जागीरदार का ही द्योतक हो सकता है।

27. निम्न उद्भृत (बैंस रिलीफ) नक्काशी वाले वीर-पाषाण महाराष्ट्र और दक्षिण मे, सर्वत्र, प्राय किसी भी पुराने ग्राम मे मिल जाते हैं। पूना के निकट खडकवासला स्थित राष्ट्रीय रक्षा अकादमी सग्रहालय मे ऐसे पत्थरों का अच्छा सग्रह है। ऐसा प्रतीत होता है कि निम्नतम फलको की अनेक नक्काशियो एक जोड़ा बैल के सिर पशु-लुटेरो को रोकने मे हुई मृत्यु के प्रतीकस्वरूप हैं। उद्भृत चित्रो मे कथा का विकास क्रमश: ऊपर की हुआ है जहा, शायद एक सती के साथ, अंत्येष्टि और स्वर्गमन के अकित हैं, उद्भृत शिलापट्ट के शीर्ष को समान्यत एक अत्येष्टि कलश की शक्ल मे गढ़ा है, जोकि बौद्ध काल से ही प्रचलित है। उत्कीर्ण-लेखो के लिए, एक जिल्द भी पर्याप्त है (जैसे, एपिग्राफिया कर्नाटिका-10) : कोलार 79, युद्ध मे मारे गए सामत के लिए जागीरदान (लगभग 890 ई०); कोलार 226 (लगभग 950 ई०), पशु लुटेरो से युद्ध करते हुए मारे गए योद्धा की

वीरगति के उपलक्ष्य मे क्षेत्रदान; कोलार 232 (756 ई०), कोलार 233 (81 5ई०), मुल्बागल 92, (780 ई०,) मुल्वागल(93, 970 ई०), आदि। प्रत्येक के लिए वीर उद्भृत प्रस्तुत।'

28. लघु उत्कीर्णलेखो से, जो गाग उत्कीर्ण लेखो की अपेक्षा कम प्रसिद्ध हैं, यह जाहिर होता है कि यह प्रथा कितनी व्यापक थी ? उदा० एपि० कर्नाटिका से, गोरिबिदनूर 73 (लगभग 900 ई०), ग्राम प्रहरी ने अपने सिर की बलि दे दी, चितामणि 31 (1050 ई०), जब ग्राम के ओडेय दिवगत हुए तब उनके सेवक ने अपना सिर कटा लिया—और तब उनकी स्मृति मे एक क्षेत्र उत्सर्ग कर दिया गया, कोलार 129 (लगभग 1220 ई०), मुल्बागल 77 (1250 ई०), मुल्वागल 78 इत्यादि मे मालिका के मरने पर जीवित न रहने की शपथो का उल्लेख है। कभी-कभी किसी खास सुयोग्य शिकारी कुत्ते के नाम पर एक स्मारक खड़ा कर दिया जाता था, जैसे, मुल्बागल 85 (975 ई०) और मुल्वागल 162 मे, हालाकि प्रशस्ति उस कुत्ते की भक्ति की नहीं बल्कि बहादुरी की है।

29 पेंग्विन क्लासिक्स एल 57, 'ट्रैवेल्स आफ मर्को पोलो' (अनु०-आर० ई० लैथम), पृ०23 6—8, जहा शवदाह का और, राजसम्मिति से किसी प्रतिमा के सामने विधिपूर्वक आत्म-हत्या करने का उल्लेख है।

30 समाज का अर्थ शासक ही नही बल्कि शासित भी है अगर शूद्र यह मान ले कि किसी पूर्व जन्म मे किए किन्ही पापो का फल भोगने के लिए उसे भूखों मरना चाहिए ही, तो उसका समूह नेस्तनाबूद हो जाएगा, अगर बच भी रहा तो, वह आक्रमणकारियो से न तो लोहा ले सकेगा न लेना चाहेगा। लेकिन, भारतीय सामंती इतिहास तो ऐसे आक्रमणो और प्रत्याक्रमणो से भरा पडा है जो सिर्फ मुसलमानों द्वारा ही नही किए गए थे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस वर्ग के लोगो को स्वामित्व या सपत्ति से वचित कर रखा गया है उनके व्यवहार से यह जाहिर नहीं होगा कि वे लोग ऐसे स्वामित्वहरण या सपत्तिहरण को धार्मिक आधार पर उचित मानते हैं, खासकर जब वे देखते हैं कि यही धर्म उसके मानने वालों को सशस्त्र विधर्मियो से रक्षा प्रदान करने मे असमर्थ है। मेरा कहना इतना ही है कि जैसे शरीर के स्वास्थ्य के लिए वैसे ही दिमाग को दुरुस्त रखने के लिए भी कतिपय भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति परमावश्यक है। मुझे ऐसा लगता है कि भारतीय आध्यात्मक परपरागत इतने सारे दर्शनो के समान गीता-दर्शन भी अ तत इस सिद्धात पर आधारित है कि बहुसख्यक जनता की अल्पतम आवश्यताओ की ही पूर्ति की जा सकती है, उससे अधिक की नहीं।

उर्वशी और पुरुरवा

कालिदास के उत्तम नाटको मे एक है विक्रमोर्वशीयम्, जिसका विषय है चन्द्रवंशी राजा पुरुरवा और उर्वशी नामक अप्सरा का प्रेम, वियोग और अंत मे पुनर्मिलन। वह अप्सरा स्वर्ग को जा रही थी कि रास्ते मे केशी नामक दानव ने उसका अपहरण कर लिया। पुरुरवा ने उस दानव के चंगुल से उर्वशी को उवार लिया। इस घटना से वे परस्पर प्रेमाकृष्ट हो गए। देवनगरी अमरावती से उर्वशी का जी उचाट हो गया। इसलिए एक दिन छद्मवेश धारण कर वह अपने प्रेमी के उद्यान में पहुंच गई। मर्त्यलोक मे वह इस प्रकार संयोग-सुख के दिन विता रही थी कि इंद्र के समक्ष खेले जाने वाले एक नाटक मे लक्ष्मी का अभिनय करने के लिए उसे स्वर्ग मे बुला लिया गया। वहां ऐसा हुआ कि विष्णु का पुरुषोत्तम नाम बोलने के बदले उर्वशी के मुह से पुरुरवा निकल गया। अतः दिव्य मंच सचालक भरत ने उसे मानव रूप धारण करने का शाप दे दिया। उर्वशी के लिए यह शाप तो वरदान ही सिद्ध हुआ क्योंकि इस चलते पुरुरवा से उसका मिलन संभव हो गया। लेकिन उन दोनो के सच्चे प्रेम के मार्ग मे बार-बार बाधा पड़ती रही। अनजाने उस बेचारी से एक अतिचार हो गया जिसका परिणाम हुआ कि वह अगूर लता मे रूपातरित हो गई। बात यह हुई कि वह एक कुज मे प्रवेश कर गई जो षडानन स्कंद कार्तिकेय का पवित्र स्थान था। वहां किसी स्त्री का जाना मना था क्योंकि उसके साथ यह अभिशाप लगा हुआ था कि जो भी नारी वहा जाएगी उसका कायांतरण हो जाएगा। अस्तु, एक अभिमंत्रित रत्न के प्रभाव से वह पुनः नारी बन गई और अपने पति पुरुरवा से आ मिली। उस रत्न को चुरा लिया एक शिकारी चिड़िया ने। वह चिड़िया बाणविद्ध होकर मर गई। उस बाण पर एक आख्यान अंकित था जिससे राजा पुरुरवा को पता चला कि उर्वशी ने

एक पुत्र को जन्म दिया है। इसका अर्थ हुआ एक और पुनर्मिलन और इस मिलन का अंत होना था उर्वशी की स्वर्ग वापसी से। लेकिन इंद्र उस समय एक युद्ध में व्यस्त थे, इसलिए उन्होंने उर्वशी को अपने पति की मृत्यु होने तक पृथ्वी पर रहने की अनुमति दे दी।

संसार के एक मूर्धन्य कवि और भारत के महान नाटककार ने इस नाटक की कथावस्तु का जिस तरह कुशलता से प्रतिपादन और निर्वाह किया है, उसे देखते हुए इस ललित नाटक का यह विश्लेषण थोड़ा और अनुचित ही कहा जाएगा। खैर, फिलहाल मेरी दिलचस्पी तो इसकी कथावस्तु में ही है। बड़ी पुरानी है यह कहानी क्योंकि इसका संकेत हमारे प्राचीनतम वर्तमान ग्रंथों में, अर्थात, शतपथ ब्राह्मण और ऋग्वेद में मिलता है। उपलब्ध प्राचीनतम विवरण में इस नाटक की कुछ विशेषताएं आज भी मौजूद हैं, क्योंकि यह विवरण दो प्रधान पात्रों के बीच एक संवाद के रूप में है, और ऋग्वेद में यह प्रसंग बिलकुल विलक्षण प्रतीत होता है। नाटकीय घटना घटित होती है उस उत्कट क्षण में जबकि नायिका से नायक प्रणय निवेदन करता है और वह उसके अनुरोध को ठुकरा देती है। इससे जाहिर है कि इस कथा का सुखांत बहुत बाद की सूझ है। आगे यह देखने में आएगा कि इस कथा के निर्माण में सुखांत विधान ही नहीं, इससे भी बड़ा हेरफेर किया गया है। नाटकीय कथावस्तु विषयक इस परिवर्तन में गुप्तकालीन समाज और वैदिक समाज के बीच का अंतर स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित है अर्थात, कालक्रम में सचमुच किस तरह कर्मकांड की जगह नाटक ने ले ली थी।

कालिदास द्वारा विषय का प्रतिपादन

परिस्थितिवश अथवा देवताओं की अकृपा से एक दूसरे से बिछुड़े हुए प्रेमियों का पुनर्मिलन—इस कथावस्तु के प्रति कालिदास इतने आकृष्ट हुए कि इसको उन्होंने कई बार अपनी रचना का विषय बनाया। विशुद्ध मानवीय स्तर पर कालिदास का रचा हुआ नाटक है मालविकाग्निमित्रम्, जिसमें कवि विरचित कुछ संदर्भ तो अत्यंत प्रभावशाली है। इसकी नायिका एक राजकुमारी है जो दासी के रूप में सेवा करने को विवश है। इसके विपरीत, शकुंतला का नायक वियोग की अवधि बीतने के बाद न तो अपनी पत्नी को पहचान पाता है न पुत्र को। यहां गुंजाइश की गई है छोटे-छोटे चमत्कारों की जिनसे नायक (दुष्यंत) के होशोहवास फिर लौट आएं। नाटक के प्रेमी पात्र आयत शाही हैं और मंच दृश्य भी जंगल या आश्रम के एक प्रासंगिक दृश्य को छोड़कर, राजदरबार के ही हैं। अपने संपूर्ण दरबारियों सहित राजा सदैव सच्चरित्रता का परिचय देता है। उक्त तीनों नाटकों में से प्रत्येक में, दो प्रेमियों के बीच कम से कम एक और रानी को रखा गया है जो कि प्रेम-त्रिकोण व्यवस्था का ही एक ऐसा प्रकार है जिससे बहुपत्नीक समाज में कोई कठिनाई नहीं पैदा होती क्योंकि यह प्रतिरिक्त रानी, रानी बने रहते हुए भी, खुशी-खुशी तरह दे सकती थी। इन नाटकों के

पात्रों पर निश्चय ही समसामायिक राजपरिवार की, संभवतः गुप्त राजकुल की, छाप है, जैसा उनकी भाषा और विक्रम उपाधि से स्पष्ट है। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि पुरुरवा तो राजाओं के चंद्रवंश का संस्थापक है, किंतु शकुंतला का बेटा भरत है (ऋग्वेदीय सबसे बडे कुल का आधारनामी मूल पुरुष) जो फिर सोम वंशानुक्रम मे दाखिल कर लिया जाता है। महिलाएं और सेवकगण प्राकृत में बात करते है, और यह एक ऐसी स्थिति का परिचायक रिवाज है जो देश के बहुत से ऐसे भागों मे आज भी बनी हुई है जहां बाजाब्ता स्कूली शिक्षा अभी तक प्राप्त नही है अथवा थोडे से उच्चवर्गीय पुरुषों को ही सुलभ है। उदाहरणार्थ, गोआ के जमींदार वर्ग के मर्द लोग अपनी भाषा अपने-अपने धर्म के अनुसार मराठी या पुर्तगाली मानते हैं, किंतु औरतें कोंकणी बोलती हैं। यही स्थिति गंगा घाटी के भी बहुत से हिस्सो में है जहां उच्चवर्गीय पुरुषों द्वारा बोली जाने वाली हिंदी, महिलाओं द्वारा बोली जाने-वाली हिंदी से, और खासकर किसानों की हिंदी से बहुत ही भिन्न है। लेकिन अभिजात या कुलीन लोग भी, खासकर जब वे महिलाओं या सेवकों से बात करते है, तब असस्कृत समझी जाने वाली भाषा या बोली का ही आमतौर से प्रयोग करते है। लेकिन ऐसी बात कालिदास अथवा अन्य किसी भी संस्कृत नाटककार की रचना में देखने में नही आती। बस, एकमात्र अपवाद है मृच्छकटिकम् की प्रस्तावना में सूत्रधार की उक्ति। कोई शास्त्रीय भाषा अगर गढकर चलाने का प्रयत्न किया जाए तो अंततः उसका विफल होना बिलकुल अनिवार्य बात है। लेकिन, इस तथ्य को कबूल न करते हुए तत्कालीन विचित्र ब्राह्मणीय नवजागरण ने ऐसी ही भाषा सर्जित करने का अपने मे भरसक प्रयत्न किया। ब्राह्मणो को अपने इस प्रयत्न मे मात्र इतनी ही सफलता मिल पाई कि धर्म के लिए एक मृतभाषा को बचा रखा गया, जैसे, मैसोपोटामिया में पुरोहिताई के लिए सुमेरी को। संस्कृत का नवजागरण वास्तव मे इस कारण से हुआ कि लोगों की बोली का, जैसे महाराष्ट्री अथवा उसके मूलरूपों का, आदर-मान बढने लगा था। भाषा तो पूरे समाज के लिए संपर्क का माध्यम है। इसका भी विकास सामाजिक समागम या व्यवहार[1] से होता है, जैसे मुद्रा का और मूल्य सबोध का। अधिक से अधिक यही हो सकता है कि कोई वर्ग विशेष ऐसी विशिष्ट शब्दावली या ऐसे खास लहजे को काम में लावे जिससे उसकी विशिष्ट इकाई परिलक्षित हो, तब भी यह तो आवश्यक है ही कि ये दोनों अपने संपूर्ण समाज के लिए व्यापक रूप से बोधगम्य हों। बहुत कुछ वैसे ही किसी वर्ग की न तो अपने लिए ही कोई खास करेंसी हो सकती है और न राज्यांतर्गत वस्तु विनिमय के सभी साधनो पर उसका एकाधिकार ही हो सकता है। अतः, कालिदास ने अपने समय का चित्रण भी बहुत सावधानी से नही किया है, हद से हद राजदरबार की ब्राह्मणवादी सकल्पना ही प्रस्तुत की है। लेकिन, प्राचीनतम काल की इस कहानी का उद्देश्य राजदरबार का चित्रण तो हो नही सकता था क्योंकि उसका तो तब आविर्भाव ही नही हुआ था। यह कहानी जिन धर्मग्रंथों से निकली हुई जान पड़ती है, उन पर एकाधिकार ब्राह्मण वर्ग ने कर

ब्राह्मण प्रायः मनुस्मृति या तत्सदृश धर्मग्रंथ के आधार पर दिया गया कोई विधि निर्णय जहां उनके प्रतिकूल पड़ता था, उसके खंडन के लिए, यहां तक कि सती प्रथा का औचित्य प्रतिपादित करने के लिए भी वेदों के मूलपाठ को तोड़-मरोड़ कर गलत उद्धरण दिया करते थे। ईस्ट इंडिया कंपनी के अफसरों ने सती प्रथा को भले रोक दिया, मगर चाह उनकी यही रहती थी कि जहां तक हो सके, ब्राह्मणवाद का विरोध न किया जाए क्योंकि यह एक ऐसा सुविधाजनक साधन था जिसके जरिए देशवासियों को दबाकर बराबर वश में रखा जा सकता था। अतः मूलर द्वारा संपादित ऋग्वसंहिता जब प्रकाश में आई जिससे ब्राह्मणों को एक नायाब चीज मिल गई क्योंकि ऋग्वेद का संपूर्ण पाठ बंगाल में शायद ही किसी ब्राह्मण के पास था, और यह भी संभव नहीं था कि वहां उस समय कोई उसे संपादित करके निकाल सके। ध्यान देने की बात है कि भारतीय भाषा साहित्य का अनुशीलन शुरू किया और जारी रखा जर्मनों ने, ब्रिटिश विद्वानों ने नहीं, हालांकि कार्य की अपेक्षा तो उनसे ही थी। अंग्रेजों का इस बारे में कुछ और ही रुख था जो वेदों के संबंध में कोलब्रुक की इस अवज्ञापूर्ण उक्ति से जाहिर है, 'वेद इतने विशाल हैं कि उनके संपूर्ण पाठ का अनुवाद संभव ही नहीं है, और उनकी विषय वस्तु भी ऐसी नहीं कि अनुवादक का तो क्या, किसी पाठक का भी श्रम सफल कर सके।' निश्चय ही, दो राष्ट्रों के विचारों में ऐसी विषमता अकारण नहीं थी, जाहिर है एक ओर अंग्रेज थे जो अपनी औद्योगिक क्रांति पूरी कर चुके थे और अब सिर्फ अपने उपनिवेशों का शोषण करना चाहते थे, और दूसरी ओर जर्मन थे जो गहन वैज्ञानिक पद्धति और दृष्टिकोण को अपनाकर, जो पिछली सदी की जर्मनी की विशेषता थी, अपनी बेहतर तकनीक के जरिए, अपने पुराने प्रतिद्वंद्वी (अंग्रेजों) की बराबरी में आने और उन्हें मात देने लगे थे।

जब उत्पादन के साधनों में भेद होने के कारण आधुनिक यूरोपीय विद्वानों तक के रुख में इतना बड़ा फर्क पड़ सकता है, तब यह जिज्ञासा क्या आवश्यक नहीं कि पुरुरवा उर्वशी आख्यान के विभिन्न प्रक्रमों में सामाजिक ढांचे में वस्तुतः कौन से भेद विद्यमान थे? मगर, यही तो है जिसे अछूता छोड़ दिया गया है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि कीथ ने इस विषय पर कभी विचार किया ही नहीं। गेल्डनर को जिसका विवरण प्रौढ़ जर्मन पांडित्य[1] के कठिनतम श्रम का नमूना है, इस आख्यान के प्राचीनतम पाठ में ऐसी एक भी महत्वपूर्ण बात नहीं दिखाई दी जो बाद में इसके विकसित रूपों में मौजूद न रह गई हो। उसके विचार से, यह संपूर्ण घटना भी उसी तरह का एक आख्यान है जैसे इतने सारे इतिहास-पुराण हैं। अपने इसी विचार के कारण गेल्डनर को भी, सायण की भांति, वेद और परवर्ती संस्कृत साहित्य में इतना ज्यादा तारतम्य दिखाई दिया जितना (इधर आकर पुरातत्व द्वारा प्रमाणित) तथ्यों के आधार पर ठीक नहीं ठहरता जब उसने उर्वशी के विषय में यह कहा (पृष्ठ 244) कि 'वह वेश्या की प्रकृति त्याग देने में सामर्थ नहीं थी।' तब क्या उसे यह खयाल आया था कि यह उपपत्नीवाद (जो सच पूछिए तो देशवासी वेश्यावृत्ति है, हालांकि मैं इस

प्रसंग में निश्चिततया 'उपासनी' शब्द का ही प्रयोग करूंगा) मंदिर पूजा पद्धतियों से, और प्राचीनतम प्रश्नों में तो मातृदेवी पूजा से, उद्भूत हुआ है, और अब भी भारत के अनेक भागों में उसी से संबंधित है ? हमारी दृष्टि से तो गेल्डनर ने जो इस कहानी के मुख्य-मुख्य पाठों पर एक श्रमसाध्य प्रतिवेदन तैयार किया है वही उसकी प्रमुख सेवा है। बावजूद इसके कि गेल्डनर ने अपने लेख में मूल आख्यान की जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह अपर्याप्त है, इससे सूक्ष्म अध्ययन से बड़े काम की जानकारी हासिल होती है। तो, आइए, अब हम उन पाठों पर गौर करें।

कथा के विभिन्न पाठ

गेल्डनर ने, निम्नलिखित क्रमानुसार, आठ भिन्न-भिन्न स्रोतों से विवरण प्रतिवेदित किए हैं : (1) शतपथ ब्राह्मण 11-5-1 एवं आगे, (2) काठकम 8-10, (3) सर्वानुक्रमणी की षड्गुरु शिष्य टीका, (4) हरिवंश (वायु पुराण 2-29 से वास्तविक अभिन्नता दिखाते हुए), (5) विष्णु पुराण 4-6-19 एवं और, (6) बृहद्देवता, (7) कथासरित्सागर 17-4 (अनु० टानी पेंजर, जिल्द 2, पृष्ठ 34-6, और नोट 2, 245, 5, (8) महाभारत (शोधित संस्करण 1.70.16-22)।

इनमें से प्रथम को ऋग्वेद, 10-95 से तुलना के लिए इस प्रकरण के अंत में दे दिया गया है। मिलान करने पर कुछ महत्वपूर्ण भेद इतने प्राचीन प्रश्न में भी देखने में आते हैं। गेल्डनर ने पाया कि विवरण 1, 4, 5 बहुत कुछ एक ही ढर्रे के हैं, 2 एक रूखा-सूखा उद्धरण है, 3 में इला की कहानी जुड़ गई है जो मनु का पुत्र था और मातृदेवी पार्वती के एक पवित्र कुञ्ज में प्रवेश करने के कारण जिसकी काया नारी रूप में परिवर्तित हो गई थी। नारी बन जाने पर उसकी शादी बुध से हुई जिससे उसके पुरुरवा नामक पुत्र पैदा हुआ। 3 में ही एक कुंभ में डाल दिए गए मित्र और वरुण के संयुक्त वीर्य से वशिष्ठ की उत्पत्ति का आख्यान जुड़ गया है जिसमें उर्वशी के अभिशाप को एक विशेष अर्थ भी प्राप्त हो गया है।

गेल्डनर द्वारा मान्य बातों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इस आख्यान के उत्तरार्द्ध के दो मूल पाठ हैं और प्राचीनतर पाठ दु:खांत है। दु:खांत इस तरह कि दोनों प्रेमियों का मिलन कम से कम इस लोक में तो नहीं ही हो पाया। निस्संदेह, ऋग्वेदीय सूक्त के किसी भी अनुवाद से पुष्टि तो अवश्य ही इसी बात की होती है, परंतु यह जान लेना जरूरी है कि भारतीय परंपरा में यह दुखांत कहानी आगे बची रह गई, भले ही कालीदास इसे अपने रोमांस (प्रेमाख्यान) के लिए स्वीकार नहीं कर सके। लेकिन, मूल पाठ में अध्याहृत इस बात का, कि एक दूसरे से बिछुड़ जाने के बाद इस प्रेमी युगल का क्या हुआ, उक्त जर्मन विद्वान ने समाधान ढूंढने का प्रयास नहीं किया। इस बिंदु पर ऋग्वेद ने स्पष्ट कुछ नहीं कहा है किंतु शतपथ ब्राह्मण ने इस प्रकार उपसंहार किया है कि सम्यक यज्ञ करने के बाद पुरुरवा स्वयं ही गंधर्व रूप में परिणत हो गया। गंधर्व लोग तो ऐसे अतिमानवीय (अलौकिक) जीव हैं जो

अप्सराओं के सहज पति रूप में निर्धारित हैं, लेकिन आगे यह जो कहा गया है कि जो कोई पुरुरवा की भांति यज्ञ करता है वह स्वयं गंधर्व बन जाता है, इसका ठीक-ठीक क्या परिणाम हुआ, इसके बारे में कुछ संदेह बना रह जाता है। अस्तु, गेल्डनर को चाहिए था कि महाभारत के इस पाठ का और आगे पुराणों में अनुशीलन करता। इन दोनों के बीच का संबंध बहुत स्पष्ट नहीं हो पाता, क्योंकि कोई विस्तृत विश्लेषण उपलब्ध नहीं है, किंतु निदर्शनात्मक आख्यानों से यह जाहिर हो चुका है कि अपने शोधपूर्वक संपादित महाभारत के अंतर्गत बहुत सी प्रमुख पुराणकथाओं का स्रोत है, हालांकि यह भी संभव है कि महाभारत और पुराण दोनों किसी एक ही प्राचीनतर स्रोत से निकले हों। महाभारत कहता है (महाभारत 1. 70. 16-22) कि 'विद्वान पुरुरवा इला से उत्पन्न हुआ था, जो उसकी माता भी थी और पिता भी, अथवा ऐसा हमने सुना है। विजेता पुरुरवा समुद्र के तेरह द्वीपों पर शासन करता था। स्वयं मानव होते हुए भी वह सदैव अतिमानवीय शक्तियों से घिरा रहता था। अपने बल के मद में वह ब्राह्मणों का विरोधी बन गया और उनके हाहाकार और गुहार के बावजूद उनकी संपत्ति उनसे छीन ली। ब्रह्मलोक से आए हुए सनत्कुमार ने उसे नेक सलाह दी, मगर उनके उपदेश पर उसने ध्यान नहीं दिया। लोभ से वह पराभूत हो गया था, और प्रबल अभिमान ने उसे विवेकशून्य कर दिया था, अतः कुपित ऋषि-मुनियों ने उसे शाप दे दिया जिससे वह राजा तुरंत नष्ट हो गया। उर्वशी के साथ-साथ, यज्ञ के प्रयोजनार्थ संजो रखी गई तीन प्रकार की अग्नि को जो गंधर्व लोक से ले आया (वह यही वीर नायक) था। ऐल (पुरुरवा) के, उर्वशी से, छह पुत्र हुए: आयु, धीमान, अमावसु, दृढ़ायु, वनायु और श्रुतायु।'

प्राचीनतम प्रक्रम में इन छह पुत्रों में से सिर्फ आयु ही ज्ञात है। और, यह देखते हुए कि अंतिम तीन के नाम के अंत में 'आयु' लगा हुआ है, यह मान लिया जा सकता है कि आयु नामक जनजाति का उद्भव उर्वशी और पुरुरवा से हुआ। कम से कम दो पुराणों में इस कहानी का सूत्र तो पकड़ा जा सकता ही है। और, वे महाभारत से प्रत्यक्षतः प्रभावित हैं इसका प्रमाण यह है कि वहां भी इस कहानी के ठीक बाद नहुष की कहानी आती है, ठीक जैसे कि उपर्युक्त महाभारतीय प्रकरण में। महाभारत और पुराण, दोनों में दिए गए वृत्तांत से यही सीख मिलती है कि ब्राह्मणों को लूटना, उन पर कर लगाना, या उनसे बेगार लेना किसी भी राजा के लिए खतरनाक है। दूसरी ओर, अर्थशास्त्र 1.6 कहता है कि ऐल (पुरुरवा) चारों वर्णों-वर्गों का दमन-शोषण करता था (निर्दयतापूर्वक उनसे कर वसूल करता था) जिससे उसका प्राणांत बुरी तरह हुआ। पुराण में जो विशेषरूप से ब्राह्मणों का ही उल्लेख है वह बाद का रूपभेद है। लेकिन वायु पुराण 1.2 13-21 में, जिसे हल्के हेर-फेर के साथ ब्रह्मांड पुराण 1.2.14-23 में उतार लिया गया है, ठीक-ठीक बताया गया है कि पुरुरवा की मृत्यु किस प्रकार हुई। उसकी धनलिप्सा कभी तृप्त नहीं हुई। एक बार आखेट के समय संयोग से वह एक स्वर्ण वेदी के पास पहुंच गया

जिसे विश्वकर्मा ने बनाया था और जहां नैमिषारण्य के ऋषि मुनि यज्ञ कर रहे थे। पुरुरवा ने उसे लूटना चाहा। इस पर कुपित यज्ञ कर्त्ताओं ने कुश उठाकर उसे मारा। कुश इंद्र का वज्र बन गया, जिसके आघात से वह प्रेत हो गया।

इस ब्राह्मण अनुश्रुति से यह स्पष्ट है कि पुरुरवा ऐसी जगह मारा गया जहा एक यज्ञ चल रहा था। उसका अत्याचारी लोभ ही उसकी मृत्यु का कारण बना, और उसकी वैसी गति उसके अत्याचारी लोभ के चलते हुई यह तो परवर्ती राजाओं के लिए एक चेतावनी मात्र है। मेरा कहना है कि संभव है, पुरुरवा की मृत्यु के कारण को मन से गढ लिया गया हो, लेकिन *यह संभव नहीं है कि उसका मारा जाना* प्रचलित परंपरागत आख्यान से बिल्कुल अलग-अलग बात हो। यहा यह देख लिया जाए कि एगेलिंग के अनुवाद के अनुसार शतपथ ब्राह्मण (11-5-1) का पाठ क्या कहता है :

'उर्वशी नामक अप्सरा को इला के पुत्र पुरुरवा से प्रेम हो गया। जब उसने पुरुरवा से ब्याह कर लिया, तब कहा, रोज तीन बार तुम मेरा आलिंगन करोगे, लेकिन तुम न तो मेरी इच्छा के विरुद्ध मेरे साथ सोओगे न मुझे नंगे दिखाई दोगे, क्योंकि हम स्त्रियो के साथ ऐसा ही बरताव निभाया जाता है। (2) तदुपरात वह दीर्घकाल तक उसके साथ रही, और जब उससे उसके गर्भ रह गया तब भी वह उसके साथ ही रहती रही। तब गंधर्वगण परस्पर कहने लगे, सचमुच, बहुत दिन हो गए उर्वशी को मनुष्यो के बीच रहते हुए, अब ऐसी कोई युक्ति निकालो जिससे वह हमारे पास लौट आए।' तदुपरात, दो मेमनों के साथ एक भेडी को उसके पलंग से बाध दिया गया। उनमे से एक मेमने को गधर्वगण भगा ले चले। (3) वह क्रंदन कर उठी : 'हाय हाय ! वे सब मेरे प्यारे मेमने को लिए जा रहे हैं, कहा आ पड़ी हू मैं, जहा कोई वीर नही, कोई मनुष्य नही।' वे सब दूसरे मेमने को भी उडा ले चले, और वह पुनः उसी तरह कलप उठी। (4) तब पुरुरवा ने अपने मन मे विचार किया, 'भला यह कैसे हो सकता है कि जहा मै मौजूद हूं वह जगह वीरविहीन और मनुष्य रहित हो ?' वह उस समय नगा था, किंतु यह विचार मन मे आते ही वह नंगे ही, तेजी से उनके पीछे निकल पडा, खयाल उसे जरूर आता रहा, बहुत देर तक कि कपड़े पहन लेने चाहिए। बाद मे गंधर्वो ने बिजली की कौंध पैदा कर दी जिससे क्षण भर को दिन जैसा उजाला हो गया। जिसमें उर्वशी ने पुरुरवा को नंगा देख लिया। और तब, वह सचमुच अदृश्य हो गई। उसने कहा : 'देखो मै लौट आया हूं' किंतु वह तो अदृश्य हो चुकी थी। दुख से विलाप करते हुए उसने सारा कुरुक्षेत्र छान डाला। घूमते-फिरते वह अंत्येतप्लक्षा नामक कमलसरोवर के तट पर पहुंचा जहां अप्सराए हंस का रूप धरकर इधर-उधर तैर रही थीं। (5) उर्वशी ने उसे देखते ही पहचान लिया और बोली, यह वही मनुष्य है जिसके साथ मैं वास कर चुकी हूं। यह सुनकर अप्सराओं ने कहा, क्यों नही हम सब इसके आगे प्रकट हो ? उर्वशी ने उत्तर दिया एवमस्तु, और तब, वे उसके सामने अपने वास्तविक रूप मे प्रकट हो गईं। (6) तब पुरुरवा ने उर्वशी को पहचान लिया और उससे अनुनय करने लगा (ऋ० वे० 10

95. 1): 'ओ मेरी प्राण-प्रिये ! ठहर जा निष्ठुरे। आ, कुछ मेरी तू सुने, कुछ तेरी मैं सुनूं। हमारे प्राणों के रहस्य अगर अनकहे रह गए तो आगे हमारे दिन बड़े दुखद हो जाएंगे। ठहर जा प्रिये ! मान जा, आ, कुछ दिल की बातें कर लें।' (7) उसने उत्तर दिया (10. 95. 2), 'मतलब क्या मुझे कि तुझसे बात करूं ? उषा की पहली झाकी के समान मैं गुजर चुकी हूं। पुरुरवा, तू घर लौट जा, मैं हवा के समान हूं, जिसे पकडना मुश्किल है,'''मैंने जो कहा था, तूने किया नही; अब तू मुझे नही पा सकता, जा, घर लौट जा'। उसके कहने का आशय यही था (8) तब वह कातर स्वर से बोला (10. 95. 14), 'तो क्या तेरा मित्र आज यहां से दूर, बहुत दूर, सदा-सर्वदा के लिए चला जाए ? तो ठीक है, अब निर्ऋति की गोद ही उसे शरण देगी, अथवा भयानक भेड़िए उसे चट कर जाएंगे'; 'तेरा मित्र या तो फांसी लगा लेगा या कूच कर जाएगा; अथवा भेड़िये या कुत्ते उसे चट कर जाएंगे !' (9) उसने उत्तर दिया (10-95-15) : 'पुरुरवा, जान मत दे, न उतावली मे प्रयाण ही कर ! ऐसा मत कर कि भेड़िए तुझे चट कर जाए। सच मान, औरतों से मिताई मुमकिन ही नही, वे लकडबग्घे का दिल रखती हैं'—'इस कटु सत्य से दिल को छलन मत होने दे कि औरतों से मिताई गैर मुमकिन है, जा, घर लौट जा।' (10) (ऋ० वे० 10. 95. 16), 'जब मैं रूपांतरित हो गई थी, मैंने मर्त्यमानवों के बीच विहार किया, और वहा मैंने चार शरत्काल रात्रिवास किया। मैं प्रतिदिन थोड़ा घी खाती थी, और आज भी मुझे उससे तृप्ति महसूस होती है।'''पंद्रह श्लोको मे निबद्ध यह प्रवचन बह्वृचों की वंश-परंपरा से प्राप्त है। तब पुरुरवा पर उर्वशी का दिल पसीज गया।'

इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण मे दिया गया वृत्तात ऋग्वेदीय सूक्त का भाष्य है, हालांकि उसकी परम गूढ बातें इससे स्पष्ट नही होती। शतपथ ब्राह्मण में आगे (स्वतंत्र रूप से) यह बताया गया है कि कैसे उर्वशी ने पुरुरवा को एक रात अपने साथ रखा और उसे पुत्र रत्न प्रदान किया। गधर्वों ने उसे एक वर मागने को कहा और पुरुरवा ने स्वयं गंधर्व हो जाने का वर मांगा। उस वर के साथ उसे समुचित यज्ञ विषयक निर्देश प्राप्त हुए। इस विवरण का अंत इस प्रकार हुआ है : (17) 'उसने तब स्वयं ही अश्वत्थ काष्ठ से उपरली अरणी बनाई और अश्वत्थ काष्ठ की ही निचली अरणी भी बनाई और उनसे जो अग्नि उत्पन्न हुई वही थी वह यज्ञाग्नि
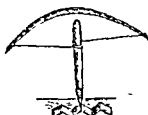
2.1 क अग्नि-हल; 2.1 ख, ग अग्नि मथक

जिसकी आहुति द्वारा पुरुरवा गंधर्व बन गया। अतः जो गधर्व बनना चाहे वह स्वयं ही अश्वत्थ काष्ठ की उपरली और निचली अरणी निर्मित करे और उससे अग्नि प्रकट करे। वही वह यज्ञाग्नि होगी जिसकी आहुति से वह गंधर्व बन जाएगा। कालिदास ने अपनी रचना मे पुरुरवा को सीधे स्वर्ग न भेजकर उस वीर नायक की मृत्यु होने तक नायिका को पृथ्वी पर ही बनाए रखा है। कई अन्य ब्राह्मण ग्रंथों ने भी उक्त ऋग्वेदीय सूक्त की व्याख्या करने का अपने आप मे भरसक प्रयास किया है, और उनके विवरणों से यह जाहिर होता है कि उक्त शतपथ ब्राह्मण वृत्तात को अधिप्रमाणित करनेवाले किसी प्राचीन पाठ का सबल आधार प्राप्त नही है। (तुल०, डब्ल्यू० कॅलेंड कृत एलबम कर्न, लीडेन 1023, पृ० 57-60)।

शतपथ ब्राह्मण से लिए गए उद्धरण मे जो अंतिम वाक्य है वह किसी परवर्ती यज्ञकर्ता को लक्ष्य करके है। अग्नि हल[7] (चित्र 2.1) के दो अंगों से उर्वशी पुरुरवा (अथवा सामान्यतः किसी मानव युग्म) का सादृश्य तो लक्षित है ही, विशेषतः इस कारण से कि उनके पुत्र का नाम आयु अग्नि के विश्लेषण के रूप मे प्रयुक्त होता है। यह इस संपूर्ण पुराणकथा का एक और सहज अर्थ है। लेकिन फिलहाल हमे इस बात पर गौर करना है कि इस संभाषण की घटना का एक निश्चित स्थान अभिज्ञात है और इसका जो सुखात विधान है वह वैदिक प्रवचन का अग नही है, जाहिर है कि इसे बाद में जोडा गया है। ऋग्वेदीय सूक्त पद्रह श्लोको मे न होकर अठारह मे है, और कुछ लोगों का कहना है कि इससे पाठांतर सूचित होता है। अतत, 'गंधर्व बन गया' इसका मूल अर्थ क्या है ? यह रूपातर तब तक तो नही हो सका होगा जब तक पुरुरवा जीवित था, क्योकि ब्राह्मण काल में ऐसी मान्यता थी कि गंधर्व एक प्रकार का प्रेत है जो औरतो को आविष्ट कर सकता है, अर्थात, हिस्टीरिया (वातोन्माद) पैदा करने वाला प्रेत। वृहदारण्यक उपनिषद 3.4.1 में भुज्यु लाह्यायनी याज्ञवल्क्य से कहता है : 'हम लोग पर्यटक रूप मे भद्र लोगो के बीच परिभ्रमण कर रहे थे। घूमते-फिरते हम लोग पतंचल काप्य के घर पहुंचे। उसके एक बेटी थी जो गंधर्व आविष्ट थी।' हमने उस गंधर्व से पूछा 'कौन हो तुम' ? उसने कहा, 'मैं सुधन्वा हूं, अंगिरस का वंशज'।' ' पतंचल काप्य का पारिवारिक जीवन बहुत सुखी नही रहा होगा क्योकि कुछ आगे चलकर उद्दालक आरुणि इस प्रकार कहता है : (बृ० उप० 3. 7.1) 'उसके एक पत्नी थी, गंधर्व से आविष्ट। हमने उस गंधर्व से पूछा, 'कौन हो तुम ?' वह बोला, 'मैं कबंध आथर्वण हूं'।' ' अंगिरस लोगो का मानव वंश चला, और अथर्वन के बारे मे तो जाहिर ही है कि एक जमाने में वह मानव अग्नि पुरोहित था। अतः गंधर्वों के कब्जे मे अपना छोटा-सा स्वर्ग अलग है तो क्या, कोई मनुष्य वहा प्रेत होकर ही पहुच सकता है। बौद्ध लोगों के अनुसार, गंधर्व योनि मृत्यु और पुनर्जन्म के बीच की स्थिति है।

ब्राह्मण ग्रंथ और पुराण, दोनो के विवरण मिलाकर देखने से यह निष्कर्ष निकलता है कि पुरुरवा प्रेत (गंधर्व योनि को प्राप्त) हो गया, अर्थात, उसका प्राणांत

हो गया, जो घटना किसी न किसी रूप में किसी यज्ञ से संबद्ध थी।

ऋग्वेद 10. 95

यहां हम मूल सूक्त को पेश कर रहे हैं जो फिलहाल हमारा परम स्रोत है और जिसे सम्यक रूप से विश्लेषित और स्पष्ट करना होगा, अगर उक्त आख्यान से कोई नया अर्थ निकालने का विचार हो।

हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।
न नौ मंत्रा अनुदितास एते मयस्करन् परतरे च नाहन् ॥1॥

(पुरुरवा) : 'हाय ! ओ जाये (पत्नी), अपना इरादा छोड़ दे, ओ घोरे (भयानके), आ, हम संलाप करें। यदि हमारे मंत्र अनुच्चरित रह जाएंगे तो ये आगे चिरकाल तक निष्फल ही रह जाएंगे।'

किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव।
पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात-इवाहमस्मि ॥2॥

(उर्वशी) : 'तेरे साथ बात करने से मुझे क्या मतलब ? मैं प्रथम उषा की भांति दूर जा चुकी हूं। ओ पुरुरवा, जा, तू अपनी नियति को प्राप्त कर, हवा की भांति मैं पकड़ से बाहर हूं।'

इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा न रंहिः।
अवीरे क्रतौ वि दविद्युतन्नोरा न मायुं चितयंत धुनयः ॥3॥

(पुरुरवा) : 'लक्ष्यवेधी बाण के समान, जो एक सौ गायों के झुंड को जीत लेता है। वीरोचित दृढ़संकल्प के बिना दीप्ति कहां ? यह समवेत गान (मिमियाती) भेड़ों के समान विलाप-सुर को जगाता है।'

सा वसु दधती श्वशुराय वय उषो यदि वष्ट्यन्तिगृहात्।
अस्तं ननक्षे यस्मिञ्चाकन्दिवा नक्तं श्नथिता वैतसेन ॥4॥

(अतिरिक्त) : वह उषा अपने श्वसुर को यथाकाम धन और पोषासर प्रदान करती हुई अंतर्गृह में अपनी नियति को प्राप्त होकर (अस्तं ननक्षे) प्रसन्न हुई, दिन-रात (अपने प्रेमी के) शिश्न से वेधित होती रही।

त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेनोत स्म मेऽव्यत्यै पृणासि।
पुरूरवो नु ते केतमायं राजा मे वीर तन्वस्तदासी. ॥5॥

(उर्वशी) : 'रोज तीन बार तू मुझे शिश्नवेधित करता रहा, और मेरी मर्जी के खिलाफ मुझे गर्भवती कर दिया। पुरुरवा, मैं तेरी इच्छाओं को समर्पित हो गई, ओ वीर, तब तू मेरी देह का राजा था।'

या सुजूर्णिः श्रेणिः सुम्नआपि ह्रदेचक्षुर्न ग्रंथिनी चरण्युः।
ता अञ्जयोऽरुणयो न सस्रुः श्रिये गावो न धेनवोऽनवंत ॥6॥

(?) : इससे संग्रथित, गतिमान, जलाशय में प्रतिबिंबित—पंक्ति उत्तेजित हो उठी, ये अरुण लेपन बह गए, अलंकृत मवेशी (?), गायों की भांति रंभाने लगे।

सम्‌अस्मिन्जायमान आसत ग्ना उतेमवर्धनद्यः स्वगूर्ताः ।
महे यत्वा पुरुरवो रणायावर्धयन् दस्युहत्याय देवाः ॥7॥

(उर्वशी) : 'जब वह पैदा हुआ, देवागनाएं वहां आ बैठीं, स्वयंभू नदियां उसे बढ़ाने लगीं। तुझे, ओ पुरुरवा, देवताओं ने महायुद्ध के लिए, दस्युओं पर विजय के लिए वर्धित किया है।'

सचा यदासु जहतीष्वत्कममानुषीषु मानुषो निषेवे ।
अप स्म मत्तरसन्ती न भुज्युस्ता अत्रसन रथस्पृशो नाश्वाः ॥8॥

(पुरुरवा) : मनुष्य होते हुए भी जब मैंने त्यक्तवसना अमानुषी अंगनाओं को आलिंगित किया, तब वे मुझसे इस तरह जुदा हो गईं, जैसे हरिणियां (? भुज्युस) या रथस्पर्शी अश्व।'

यदासु मर्तो अमृतासु निस्पृक् स क्षोणीभिः क्रतुभिर्न पृङ्क्ते ।
ता आतयो न तंवः शुम्भत स्वा अश्वासो न क्रीळयो दंदशानाः ॥9॥

(उर्वशी) 'देवागनाओं से संगम का अभिलाषी मानव जब जलपरियों से उनकी मर्जी के मुताबिक संपर्क करता है तभी वे, क्रीड़ारत वीजाश्वो (सांड घोड़ों) की भांति एक-दूसरे को नोचती-काटती हुई, हंसों के समान अपना वदन दिखाती हैं।'

विद्युन्न या पतंती दविद्योद्भरंती मे अप्या काम्यानि ।
जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः ॥10॥

(पुरुरवा) 'वह गिरती हुई बिजली की भांति कौंध गई और मुझे अभिलषित जल दे गई, उस जल से एक अभिजात बालक पैदा हुआ। उर्वशी (मुझे) दीर्घ आयु प्रदान करे।'

जज्ञिष इत्था गोपीथ्याय हि दधाथ तत्पुरूरवो म ओजः ।
अशासं त्वा विदुषी सस्मिन्नहन्न म आशृणोः किमभुग्वदासि ॥11॥

(उर्वशी) . तू निश्चय ही रक्षा करने के लिए पैदा हुआ था। वह शक्ति तूने मुझे सौंप दी। विदुषी (होने के कारण) मैंने तुझे उसी दिन आगाह कर दिया था। (तब तो) तूने मेरी नहीं सुनी। (तो अब) भोले-भाले की भांति तू क्यों बात करता है?'

कदा सूनुः पितरं जात इच्छाच्चक्रन्नाश्रुवर्तयद् विजानन् ।
को दम्पती समनसा वि यूयोदध यदग्निः श्वशुरेषु दीदयत् ॥12॥

(पुरुरवा) : 'यह पुत्र, जो पैदा हुआ है, कब अपने पिता के लिए उत्सुक होगा? (जब वह) जानेगा (कि क्या कांड हुआ) तो अश्रुप्लावित हो उठेगा। एक मन वाले पति-पत्नी को भला कौन वियुक्त कर सकता है जब तक (गार्हपत्य) अग्नि (उनके) श्वसुरों के घर में जलती है?'

प्रति ब्रवाणि वर्तयते अश्रु चक्रन्न क्रन्ददाध्ये शिवायै ।
प्र तत्ते हिनवा यत्ते अस्मे परेह्यस्तं नहि मूर माप: ॥13॥

(उर्वशी) : 'मैं तुझे उत्तर देती हूं : होने दे उसे अश्रुप्लावित, (मेरे) मांगलिक कृत्य

को ध्यान में रखते हुए वह क्रंदन नहीं करेगा, हमारे पास जो तेरा है उसे मैं तेरे पास भेज दूगी। जा, अपनी नियति को प्राप्त कर, रे मूढ, तू मुझे नहीं पा सकता।'

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत् परावतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निर्ऋतेरूपस्थे धँनं वृका रभसासो अद्युः ॥14॥

(पुरुरवा) : 'आज नंगे ही (मरकर) भूलुंठित हो जाने दे (अपने) प्रेमी (सुदेव) को, जाने दे उसे दूरतम, कभी न लौट आने को, लेट जाने दे उसे निर्ऋति (मृत्यु देवी) की गोद में, भक्षित हो जाने दे उसे उग्र भेडियों से।'

पुरुरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि संति सालावृकाणां हृदयान्येता ॥15॥

(उर्वशी) : "ओ पुरुरवा, तुझे न मरना है, न (मरकर) भूलुंठित होना है, न अपवित्र भेड़ियों से भक्षित होना है।' (पुरुरवा) 'स्त्रियों से मिताई क्या ? वे लकड़बग्घे के दिलवाली होती हैं।'

यद् विरूपाचरं मर्त्येश्ववसं रात्रीः शरदश्चतस्रः।
घृतस्य स्तोकं सकृदह्न आस्नाम् तादेवेदम् तातृपाणा चरामि ॥16॥

(उर्वशी) : 'जब मैं एक दूसरे रूप में मर्त्य मानवों के बीच विचरती थी और (उनके साथ) चार वर्ष तक रात्रिवास किया था, तब मैं रोज बस एक बूंद शुद्ध घी खाया करती थी, उसी से तृप्त हुई मैं अब यहां विचरती हूं।'

आंतरिक्षप्रा रजसो विमानीम् उप शिक्ष्याम्युर्वशीम् वसिष्ठः।
उप त्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठान्नि वर्तस्व हृदयं तप्यते मे ॥17॥

(पुरुरवा) : 'मैं, (मनुष्यों में) सर्वश्रेष्ठ, अंतरिक्षव्यापी, आकाशचारिणी उर्वशी के आगे अपने आपको समर्पित करता हूं। सुकृत के सुफल तुझे प्राप्त हों। दूर हट जा मेरा हृदय (भय से) तप रहा है।'

इति त्वा देवा इम आहुरैल यथेमेतद् भवसि मृत्युबन्धुः।
प्रजा ते देवान् हविषा यजाति स्वर्ग उ त्वमपि मादयासे ॥18॥

(उर्वशी) : 'ओ इला के पुत्र, इस प्रकार ये देवगण तुझसे कहते हैं : चूंकि तेरी मृत्यु अब निश्चित है, इसलिए देवताओं को हविष्य बलि तेरी संतान देगी, लेकिन, स्वयं तू भी स्वर्ग में आनंद करेगा।'

हरमन ओल्डेन्बर्ग ने अपने विवेचन (जेड० डी० एम० जी० 29, 1885, 52-90 : 'आख्यान हिम्नेन इम ऋग्वेद, अबर लेजेंड', पृ० 72-86) में इस वैदिक सूक्त के संबंध में एक आवरक गद्य खंड (लुप्त) कल्पित कर लिया है, लेकिन तत्संबंधी अनेक वास्तविक दुर्बोधताओं को स्पष्ट करने का उसने कोई प्रयत्न नहीं किया है। मूल सुझाव, आयरिश के पुराण और आख्यान के अनुसार, विंडिश द्वारा पेश किया गया था। युक्ति यह है कि शतपथ ब्राह्मण का पाठ कोरे ऋग्वेद संवाद की अपेक्षा कहीं अधिक सुबोध है, अतः मूलतः कुछ न कुछ इस तरह की व्याख्यात्मक विस्तार जरूर रहा होगा। दुर्भाग्य इस युक्ति का कि ओल्डेन्बर्ग ही अपने विवेचन के अंत में यह

सिद्ध करता है कि शतपथ कथा के बहुत से विवरणों का आविर्भाव वेद वाक्यांशों को गलत पढ़ समझ लेने की वजह से हुआ है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद के मरल आतयो न शब्द को पकड़कर श० ब्रा० ने अप्सराओं को हंसों मे बदल दिया है। उर्वशी के पलंग से भेडों के बद्ध होने का विवरण, हो सकता है, उरा न मायुम् को उरणमायुम् (अपने प्रियतम को पकड़कर ले जाते हुए गंधर्वों को रोक सकने वाले) पढ़ लेने की वजह से आया हो। वीर के अभाव को लेकर उर्वशी का विलाप, संभव है, ऋग्वेद के 'अवीरे क्रतो' से निकला हो, और बिजली की कौंध 'वि दविद्युतन्न' से। इसके बावजूद, ओल्डेनबर्ग लुड्विग से सहमत है कि 'दोनों (ऋ० वे० तथा श० ब्रा०) के निरूपण में संगति बैठाना बहुत दुष्कर है।' इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि मूल संवाद शतपथ ब्राह्मण के समय तक अबोधगम्य हो गया था, और अगर इन सुयोग्य जर्मन विद्वानों को शतपथ ब्राह्मण का विवरण ज्यादा अच्छी तरह समझ मे आया, तो इसका कारण यही था कि विशेष रूप से अर्थ को सरल-सुबोध बनाने के लिए ही इस विवरण को गढ़कर उस मूल विवरण के स्थान मे रख दिया गया जो लुप्त हो गया था। कोई गद्य संदर्भ उसके साथ ही खो गए या नहीं इसकी खोज बेकार है, हालांकि ऐसी लोप की संभावना कम ही प्रतीत होती है। शतपथ तथा अन्य ब्राह्मण ग्रंथों मे ऐसी सामग्री बहुत है जिससे जाहिर होता है कि वैदिक संस्कार कहां तक और किस रूप मे प्रचलित थे। लेकिन, व्याख्या के रूप मे बीच में घुसेड़ दी गई, अविश्वासोत्पादक गद्य कथाओं से, चूंकि संपूर्ण ब्राह्मण साहित्य आखिर कर्मकांड पद्धति का भाष्य ही तो है, और ऊटपटांग व्युत्पत्तियों से जाहिर होता है कि बहुत से मामलों मे संस्कार का मूल रूप (और फलतः किसी सूक्त का सही अर्थ) या तो विस्मृत हो गया था या ऐसा कुछ था जो समसामयिक समाज के तौर-तरीकों से बिल्कुल भिन्न था।[1] ऐसे विकास को निर्दर्शित करने के लिए कुछ सुविदित उदाहरण लीजिए: हमें ज्ञात है कि रोमन साम्राज्य के जमाने तक एक भजन गाया जाता था जिसकी पुरानी (अप्रचलित) लैटिन, गायकों के पल्ले नहीं पड़ती थी, संकट के समय सिबिल्लिन ग्रंथ खोलने का मतलब था अत्यंत नागरिक, प्राचीन और व्यवहारतः निषिद्ध यज्ञों मे पुन. प्रवृत्त होना, और बेशक यही वजह थी जिससे प्रेटर (रोमन मजिस्ट्रेट) पेटिलियस ने यह विचार व्यक्त किया कि दीर्घकाल तक गड़े रहने के बाद पुन. प्रकाश मे आए ग्रंथों को जला दिया जाए (प्लूटार्क कृत न्यूमा पाम्पिलियस)। हमें स्वयं उस मूल कर्मकांड को खोज निकालना चाहिए जिसके समाप्त हो जाने से शतपथ ब्राह्मण को बहवृचों की स्मृति मे टंके हुए ऋक् सूक्तों की व्याख्या ऐसे भद्दे ढंग से करनी पड़ गई।

ऋग्वेद 10-95 की टीका

इस सूक्त मे निस्संदेह वे बीज तत्व हैं जिनमे उर्वशी और पुरुरवा विषयक सारी परवर्ती कहानियों का विकास हुआ, और यही वह सूक्त है जिससे कालिदास ने अपनी रचना के लिए पूरी स्वच्छंदता मे सामग्री ग्रहण की। लेकिन, अगर उनमें से कुछ को ही लिया

जाए, और तब उनके जरिए गेल्डनर की सहायता से इस सूक्त की दुरुहताओं को स्पष्ट करने की कोशिश की जाए, तो सिवाय इसके कि संस्कृत शब्दों को तोड़-मोड़ कर उनके अर्थ का अनर्थ करने मे दिमाग की जबरदस्त कसरत हो जाए, और कोई फायदा हासिल नही होना है। इसे दुर्भाग्य ही कहिए कि यह भाषा है ही कुछ ऐसी कि इसमे ऐसे बुद्धि-विलास के लिए भरपूर गुजाइश है। मौसम विज्ञान संबंधी व्याख्या से तो हर्गिज काम नही चलेगा क्योंकि वैसी हालत मे जितने ब्यौरे हैं सबके सब काफूर हो जाएंगे। वैसे तो, बुद्ध, नेपोलियन, ग्लैड्स्टन, किसको सूर्योपाख्यान के सांचे में नही ढाला जा सकता है? यह कहने से भी काम नही चलेगा कि गद्य व्याख्याएं अवश्य ही लुप्त हो गई होगी अथवा यह कि ऐसी पुराणकथाएं बहुत से अन्य लोगों के लोक साहित्य में उपलब्ध हैं। हमें तो उसे देखना है जो बच रहा है; और उसे उसके ही गुण दोष के आधार पर इस प्रकार के समाज के हवाले से स्पष्ट करना है जिसमे कोई गद्य-संदर्भ जोडने की जरूरत नही पड़ी।

किसी वैदिक सूक्त के बचे रह जाने का मुख्य कारण पूजा-पद्धति विषयक उसका उपयोग हुआ करता है। यदि इसके जैसा कोई बेतुका सूक्त बचा रह गया है तो उसका कारण बस यही हो सकता कि उसकी कोई जबरदस्त सार्थकता या उपयोगिता थी जो उन विशिष्ट छंदों की रचना के बाद समाप्त हो गई। निस्सदेह, महज जीवित रह जाने की अवधि में अग्निमंथक सूर्योपाख्यान, रोमांटिक कथा, मनोवैज्ञानिक प्रतिमा तथा अन्य सारे सदृश पहलू[6] बडे ही सहायक सिद्ध होते हैं। मनोवैज्ञानिक प्रतिमा देखनी हो तो ग्रासमन के अनुवाद का प्राक्कथन द्रष्टव्य है: 'यह सूक्तवाद की रचना है, मूलतः कोई धार्मिक भावना थी जिससे निकलकर यह सूक्त नग्न कामुकता के क्षेत्र मे चला आया और इस क्षेत्र मे सहज प्रवाहित होने वाली भावधाराओं के प्रभाव से और भी विकृत हो गया। इला (तर्पण) का पुत्र पुरूरवा, अर्थात बहुत रव करने वाला, और उर्वशी, अर्थात अतिकामी या अति समर्पणकारी, आसक्ति की देवी, ये दोनो यहा ऐसे नैतिक-धार्मिक संबंध की पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत नही है। इसके प्रतिकूल, देवताओं से गुहार करने वाले पुरुष की उत्कंठा, तथा आसक्ति को जगाने और परितुष्ट करने वाली देवी की स्वीकृति, यहां भौतिक अभिलाषा और विषयासक्ति मे रूपांतरित हो गई है।' इसमें स्वभावतः इतनी अधिक आपत्तियो की गुजाइश है कि किसी भी व्यक्ति का समाधान होना असंभव है। ऋग्वेद मे विषयासक्ति की चर्चा कुछ कम नही है, और अगर यह मान लिया जाए कि मूल भाव कालान्तर मे रूपांतरित हो गए, तो ऐसे विकास की धारा सामान्यतः वैषयिक से आदर्श-नैतिक-धार्मिक की ओर वही होगी, न कि विपरीत दिशा मे। 'उलटे गंगा पहाड़ चढ़ी' वाली कहावत यही क्यो चरितार्थ हुई, और ऐसे रहस्यमय ढग से - कि वास्तविक सूक्त का अर्थ ही पकड़ मे नही आता, गंभीरता से सोचने की बात है।

मैंने अपनी व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है कि प्रथमतः, यथासंभव, वाच्यार्थ या अभिधामूलक अर्थ ही निकाला है, संदिग्धताओं या अनेकार्थकताओं को अंत तक

अनिर्णीत ही छोड दिया है, और तब संपूर्ण पाठ का भाव लेकर, जहां तक हो सका, अर्थ निर्णय किया है। सारार्थ यह है कि उर्वशी को एक पुत्र व उत्तराधिकारी की उपलब्धि करा देने के बाद पुरुरवा की बलि चढ़नी है। नाहक ही वह चिरौरी करता है, क्योंकि उर्वशी अपने निश्चय पर अटल रहती है। मानवविज्ञानियों को यह सुविदित है कि आदिम पवित्र विवाह के कुछ प्रकार ऐसे थे जिनकी परिणति ऐसी कुर्बानी में हुआ करती थी।

अधिकांश ऋग्वेदीय सूक्त एक या अनेक पुरोहितों द्वारा गाए जाने के लिए हैं। लेकिन कुछ अपवाद स्थल भी हैं जहा सूक्त को किसी धार्मिक अभिनय[7] के अवशेष रूप मे ही स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, 10-86 मे इंद्र, इंद्राणी और वृषाकपि (और शायद उसकी पत्नी भी), तीन (या चार) पात्र भाग लेते हैं। यह सूक्त निर्विवाद रूप से वैषयिक है क्योंकि इसके संदर्भ सर्वथा काम विषयक हैं। इसमें टेक का पद है 'विश्वस्माद इंद्र उत्तर', जो प्रत्येक ऋक् के अंत मे आता है, किंतु यह छंद मे ठीक बैठता नही, और इसीलिए, सभी विद्वानों ने यह समझकर इसकी उपेक्षा कर दी है कि यह टेक बाद मे जोडी गई है। इसे जोडा ही क्यों गया, और सो भी ऐसे क्रमबद्ध रूप से, जबकि ऋग्वेदीय छंद मे चुस्त बैठे और बाद मे सफाई मे जोड़े गए टेक पदो के ढेरों अन्यान्य उदाहरण मौजूद हैं ? इसका एकमात्र समाधान यही हो सकता है कि यह टेक-पद प्रधान पात्रों को छोडकर दूसरो द्वारा, संभवत: उस अभिनय (प्रदर्शन) मे उपस्थित सब लोगो द्वारा, गाए जाने के लिए है। इसी तरह, उर्वशी और पुरुरवा का संवाद भी दो प्रधान व्यक्तियों का अभिनय करने वाले दो पात्रों द्वारा किए जाने वाले धार्मिक अभिनय (प्रदर्शन) का अंग है, अत: किसी प्राचीनतर वास्तविक पुरुष बलि का प्रतिस्थानी है। अतिरिक्त छंद अभिनय को सौष्ठव प्रदान करने के लिए, किसी अन्य व्यक्ति द्वारा गेय हैं। तात्पर्य यह कि कालिदास का नाटक, बहुत स्वाभाविक रूप से, प्राचीनतम नाटक पर आधारित है। यह कोई चौंकानेवाला निष्कर्ष नही है, आधुनिक यूरोपीय नाटक भी मध्यकालीन चर्च (ईसाई धार्मिक अनुष्ठान) के विकसित रूप और उसके अनुपूरक हैं। यह भी दिखाया जा चुका है कि यूनानी नाटककारो मे कम से कम ईस्किलस ऐसा हो गया है जिसने जनजातीय पूजा पद्धतियों और दीक्षा समारोहो से संबधित रहस्यो को समसामयिक समाज मे हुए परिवर्तनों के अनुरूप बनाकर उन्ही के आधार पर अपने नाटकों की रचना की।

छूटा हुआ अगर कुछ है तो वह सिर्फ स्वांग संबधी मंच दिग्दर्शन होगा न कि कोई गद्य संदर्भ। नाट्य का सटीक मूल अर्थ स्वांग है, आधुनिक अर्थों में अभिनय नही। विदेश में जो इस तरह की चीजें और ग्राम क्षेत्रों मे अभी प्रचलित अर्ध धार्मिक नृत्य और गीत है, जो कम से कम नाटक की देहली तक पहुचे हुए हैं, उनसे बिल्कुल अलग (एम० विंटरनिज : गेशिख्टे डेर इंडिशेन लिटरेटर 3. 162 एव आगे), हमारे नाटको के संस्कृत मूलपाठ (इस विषय मे) बिल्कुल स्पष्ट है। उदाहरणार्थ, मृच्छकटिकम् में, 9वें अंक मे, खलनायक शकार खुशी से नाच उठता है (नर्तयति), जो एक

पर्याप्त सरल प्रदर्शन है। किंतु अंक 3 में अंगमर्दक यती, कई प्रकार के भावों का स्वांग भरने के बाद (बहुविध नाट्यं कृत्वा), अपना पीछा करने वालों से बचने के लिए एक मूर्ति की जगह ले लेता है। (9वें अंक में) शकार जब लोभ का रूप व्यक्त करता है तब वह किसी क्रिया का नहीं बल्कि एक भाव का स्वांग भरता है (इति मोहं नाटयति)। उसी अंक में, विस्मित न्यायाधीश जब पूछता है, 'क्यों महाशय, क्या एक गणिका आपकी मित्र है ?' तब चारुदत्त कोई शाब्दिक उत्तर न देकर लज्जा का भाव प्रकट करता है (लज्जा नाटयति,) और जब उसे वध के लिए ले जाया जाता है तब वह भय का भाव दिखाता है। इस नाटक को मैंने जानबूझ कर चुना है, क्योंकि इसके नायक को, देवता की बलि दिए जानेवाले पशु के समान, लालफूलों की माला तथा सारी देह पर छपे लाल पंजों से अलंकृत करके वध के लिए ले जाया जाता है। आगे चलकर हम फिर इसकी चर्चा करेंगे। सिर्फ एक और सवाल पेश करके इस प्रसंग को मैं यहीं छोड़ता हूं : प्रश्न है कि किसी भी संस्कृत नाटक के आरंभ में पेश की जाने वाली नान्दी (मंगलाचरण प्रस्तावना) मूलतः विशुद्ध स्वांग ही तो नहीं थी जिसमें आशीर्वाद के शब्द आगे चलकर जोड़े जाने लगे।

अब यह साफ जाहिर है कि प्रसंगाधीन सूक्त में जितनी भी भारी दुर्बोधताएं हैं वे सब प्रस्तुत व्याख्या से दूर हो जाती हैं, साथ ही, शब्दों का अर्थ निकालने में कोई जबरदस्ती भी नहीं करनी पड़ती। यह व्याख्या अब तक पेश की गई अन्य सारी व्याख्याओं की तुलना में कहीं सटीक बैठती है और, साथ ही, यह भी स्पष्ट करती है कि पुराणों में जो एतद्विषयक कतिपय दुःखांत विवरण उपलब्ध है उसका कारण क्या है। आइए, इस विषय में आगे कुछ विस्तार से विचार किया जाए।

पुरुरवा अपनी पत्नी को घोरे कहकर संबोधित करता है, जिसका अर्थ है विकटाकार या भयानक। घोर शब्द तो इंद्र जैसे देवताओं के लिए प्रयुक्त होता है, न कि किसी प्रेमी के लिए, हालांकि आगे चलकर यह शब्द प्रेमिका की कठोरहृदयता का द्योतक बन गया है। लेकिन पुरुरवा का जोर इस बात पर है कि यदि उनके मंत्र अनुच्चरित रह जाएंगे तो आगे आनेवाले दिन निष्फल ही रह जाएंगे, अर्थात मंत्रों के गायन (और अभिनय) का उद्देश्य है श्रोताओं को उर्वरता संस्कारों में संबद्ध फायदे पहुंचाना। स्पष्टतः उर्वशी अपने प्रेमी को अपने घर लौट जाने को कहती है, पुनरस्तम् परेहि। अस्तम् शब्द का प्रयोग चौथी ऋचा में भी हुआ है, जिसे एक अतिरिक्त श्लोक माना जाता है, और वहां भी उससे ऐसा ही अर्थ निकलता है। लेकिन, जरा अंत्येष्टि सूक्त (10. 14. 8) को देखिए, जहां मृत व्यक्ति को पुनरस्तम् एहि शब्दों के साथ अपने पितरों और यम के पास लौटाया जाता है। कहीं-कहीं इसका यह अर्थ लगाया गया है कि यह पहले वाले परिवार में पुनर्जन्म का अनुरोध है, लेकिन ऐसा पुनर्जन्म कोई ऋग्वेदीय विचार नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि पुरुरवा को अपनी अंतिम नियति को प्राप्त होना है, अर्थात लोगों की दृष्टि से ओझल हो जाना है। (अस्तम् अदर्शने, अमरकोष 3. 4. 17)। 14वें श्लोक में वह स्वयं कहता है कि उसे मरना

है। इस श्लोक में बहुत दूर जाना, निर्ऋति (मृत्यु देवी) की गोद में लेट जाना, आदि ऐसे सुपरिचित मुहावरेदार वाग्विस्तार हैं जो मृत्यु का अर्थ लक्षित करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसका एक अर्थ यह भी लिया गया है कि इसमें पुरुरवा ने प्रेम वंचित हो जाने के कारण आत्मघात की इच्छा अभिव्यक्ति की है। लेकिन, ऋग्वेद में इस तरह की रोमांटिक बात के लिए जगह नहीं हो सकती, विशेषतः इस कारण कि प्यार की कोई बात तो इन दोनों के बीच हुई ही नहीं। अगली ऋचा में उर्वशी उसे धीरज बंधाती हुई प्रतीत होती है यह आश्वासन देते हुए कि वह मरने नहीं जा रहा है। लेकिन, जरा गहरी दृष्टि से देखिए तो यह साफ जाहिर हो जाता है कि वह मामूली नापाक मौत मरने नहीं जा रहा है, जैसे कोई अरक्षित लाश ईरानियों के कब्रिस्तान दख्मा में (आधुनिक मौन स्तंभ का पूर्ववर्ती रूप) अथवा बहुतेरे बौद्ध ग्रंथों तथा कथा-सरित्सागर में भी वर्णित खुले श्मशान में फेंक दी जाती है कि चील-कौवे आदि उसे चट कर जाएं वैसी गति पुरुरवा के शव की नहीं होनी है, उसे भेड़ियों से भक्षित नहीं होना है। नहीं, उसकी बलि तो देवताओं को अथवा देवताओं द्वारा दी जाने को है, क्योंकि यही उसकी नियति है। पुरुरवा को पाला-पोसा गया था दानवों के विरुद्ध देवताओं की ओर से युद्ध करने के लिए, इसलिए, इसमें (10. 95. 7 में) अगर पुरुरवा की बलि देने की आवश्यकता दिखाई देती है तो यह कोई खींच-तानकर निकाला गया अर्थ नहीं है। यहां यह आश्वासन दिया गया है कि तू मर नहीं रहा है, लगभग यही आश्वासन ऋग्वेद 1-162-21 के न वँ उ एतन म्रियसे वचन द्वारा उस घोड़े को दिया गया है जिसे बलिदान देकर पकाया और खाया गया। वस्तुतः, वह अश्व अपने सारे लौकिक कष्टों से मुक्ति पाकर देवताओं के पास जा रहा है और यज्ञकर्ताओं (यजमानों) को विजय प्रदान कर रहा है। यह देखकर हमें आश्चर्यचकित नहीं होना चाहिए कि पुरुरवा को बिलकुल अंत में यह आश्वासन दिया जाता है कि वह सीधे स्वर्ग जा रहा है। यही कारण है कि वह मृत्युबंधु है, कोई मामूली मर्त्य नहीं, बल्कि यज्ञ के समय मृत्यु से वस्तुतः बंधा हुआ। इससे निश्चय ही यह स्पष्ट हो जाता है कि क्यों उर्वशी सालावृकहृदयां (लकड़बग्घे जैसा दिल रखने वाली) है (15), क्यों पुरुरवा का पुत्र अपने पिता को कभी जान नहीं सकेगा, उसे अपनी मां के पवित्र कृत्य को सोचकर ही संतोष कर लेना होगा (12,13)। यहां तक कि जब पुरुरवा उर्वशी से कहता है नि वर्तस्व (17), तब वह उसे पीठ फेर लेने को नहीं, बल्कि अपने से दूर हट जाने को कहता है, क्योंकि उसका हृदय भय से कांप रहा है, जो स्वाभाविक है, क्योंकि वह देख रहा है कि वह उसके प्रति क्या करने जा रही है। पहले पुरुरवा ने उससे दीर्घ जीवन की याचना की थी (10) [गेल्डनर का अनुवाद, 'उर्वशी दीर्घजीवी हो' (दाह उर्वशी साल लान्ग लेंजे लेबेन) निरर्थक है, क्योंकि उर्वशी तो बहरहाल अमर्त्य है]। इस पर उर्वशी ने केवल यह उत्तर दिया (11) तुझे तो मैंने पहले ही भरपूर ताकीद कर दी थी कि अगर तू मेरे साथ सहवास करने पर तुल ही जाएगा तो आगे तेरी क्या गति होनी है। 16वें श्लोक में उर्वशी ने जो अपने लघु आहार के बारे में स्वीकारो-

वित की है उसका तात्पर्य संभवतः यह जताना है कि वीर पुरुरवा की बलि देने का उद्देश्य नरमांस भक्षण नही है, कथासरित्सागर की दानवियां तो नरमांसभक्षण से भी अपनी अलौकिक शक्तियां पाती या बनाए रखती हैं। तुलसी का पौधा देश भर में पूजा जाता है और प्रत्येक कट्टर हिंदू परिवार के आंगन में या प्रवेश द्वार के पास लगा होता है। वृंदावन कहे जाने वाले जिन चौकोर चबूतरों पर इसे रोपा जाता है वे वस्तुत: शृंगाकार वेदियां है जिनकी शक्ल करीब-करीब वैसी ही है (चित्र-22 2) जैसा गैर-इसरायली 10 वी सदी ई० पू० मिगिड्डो मे तथा भारत से दूरतर दूसरे-दूसरे स्थानों में पाई गई वेदियों की है। तुलसी देवी का विवाह हर साल रचाया जाता है (आजकल कृष्ण के साथ)। इसका क्या रहस्य है, क्यों ऐसा किया जाता है, यह समझने के लिए तुलसी महात्म्य की गहराई मे जाना होगा, जहां यह बतलाया गया है कि तुलसी विधवा है। इसका तात्पर्य इसके सिवा और क्या हो सकता है कि प्रतिवर्ष पति की (बलि द्वारा) मृत्यु घटित होती है। यह अर्थ सूत्र पकड में आते ही हम पुनः उर्वशी और पुरुरवा के पास पहुच जाते हैं। बोकाच्चियो मे दी हुई एक कहानी के आधार पर कीट्स द्वारा एक रचित एक कविता है इजाबेला। उक्त प्राचीन बलिदान और उससे निकले हुए आख्यान की छाप इस कविता में देखी जा सकती है, और यह कोई क्लिष्ट कलपना नही है। उस कविता में यह वर्णन है कि नायिका मार डाले गए अपने प्रेमी के सिर को गमले मे गाड देती है और उसके ऊपर एक तुलसी का पौधा रोप देती है, और उस तुलसी पात्र को वह बराबर अपने बगल में रखती है।
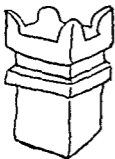
2 2 पूर्वइसरायली वेदी

उर्वशी की सहचरियां

10. 95. 6 के प्रथमार्ध के विषय मे अब भी कुछ संदेह बना हुआ है। सुजूर्णि :··· ग्रंथिनी चरण्यु. को नामावली माना जाए, अथवा ये श्रेणि के विशेषण है? अगर पिछला अर्थ लिया जाए तो इस श्लोक से बलि यज्ञ के अवसर पर नर्तकों की पंक्ति वर्णन उपलब्ध हो सकता है। और अगर पिछला अर्थ लिया जाय तो ये नाम है अन्य अप्सराओं के, जो उर्वशी की सहेलियां हैं। ये विशिष्ट नाम और कहीं प्राप्त नही है, और सुम्नआपि में जो विचित्र स्वर विच्छेद है उसका मतलब क्या है, यह दोनों में से एक भी अर्थ की दृष्टि से समझ मे नहीं आता। अगर प्रस्तुत संदर्भ को छोड़ दिया जाए तो ऋग्वेद में सिवा उर्वशी के और किसी अप्सरा का नाम नही मिलता। हां, अथर्ववेद मे भले कई अप्सराओं के नाम दिए हुए हैं (अ० वे० 4. 37. 3 आदि) : गुग्गुलु, पीला, नालदी, औक्षगंधी, प्रमन्दिनी इनमें प्रत्येक के नाम से किसी न किसी गंध का संकेत मिलता है। वाजसनेयी संहिता (15. 15 एवं आगे, तैत्ति० सं० 4-4-3 भी तुलनीय) एक दूसरी की नामावली प्रस्तुत करती है, जिसमे एक-एक देवता के साथ

लगी दो-दो अप्सराओं का उल्लेख है. अग्नि के साथ पुञ्जिकस्थल और अनुम्लता, वायु के साथ मेनका और सहजन्या, सूर्य के साथ प्रमलोचंती (इन दोनों में नग्नता की प्रवृत्ति थी), विश्वासी, घृताची, उर्वशी और पूर्वचित्त (पर्जन्य के साथ)। एक देवता पर दो देवदासियां, मंदिर परिचर्या व्यवस्था की यह एक सामान्य बात है, खासकर दक्षिण में, और अंबरनाथ मंदिर (1060 ई०) में भी द्रष्टव्य है। इन्हीं से भावी शक्तियों, अथवा देवताओं की चिरसंगिनियों (जैसे, विष्णु के साथ लक्ष्मी) का पूर्वानुमान हो जाता है, और यह एक अद्भुत बात है कि देव-देवियों की ऐसी जोड़िया इतनी जल्दी लग गई। अप्सराएं तो और भी बहुतेरी हैं, देखें अ० वे० 6. 118.1-2, उग्रजित, उग्रम्पश्या, राष्ट्रभृत, हालांकि अप्सरा इनमें से दो ही हो सकती हैं। स्पष्ट है कि इन परियों की संख्या अनगिनत है। मेनका (यह एक आर्य पूर्व शब्द है जो स्त्री का पर्यायवाची है) शकुन्तला उपाख्यान में आई है, और इसकी प्रसिद्धि है कि इसने विश्वामित्र को लुभा लिया। ज्ञातव्य है कि मेनका की बेटी शकुन्तला है और उसे भी शतपथ ब्राह्मण ने (13.5.4.11 में) अप्सरा कहा है। शकुन्तला के संबंध में कुछ नितांत असाधारण बातें हैं जिनमें एक है उसका नामकरण। सड़ा-गला मांस खानेवाले शकुन्त नामक मनहूस पक्षियों संभवतः गिद्धों ने (महाभा० 1. 67. 10.11) उस नंगी फेंकी पड़ी नवजात बच्ची को पाला-पोसा, जिससे उसका नाम शकुन्तला पड़ा। अस्तु उर्वशी इन सबमें प्रमुख है और, व्योमचारिणी होने के अतिरिक्त (जैसा कि ऊपर 10.95 17 में कहा गया है), जल देवी तो वह निर्विवाद रूप से है ही।

जलदेवियों के रूप में अप्सराओं का आविर्भाव वसिष्ठ के जन्म के आख्यान (ऋ० वे० 7. 33) में हुआ है जहां ऋषि इन परियों से घिरा हुआ है (7. 33. 9)। विसिष्ठ, प्रत्यक्षतः, बिजली के वस्त्र धारण किए हुए है. विद्युतो ज्योतिः परिसंजिहानम् (7. 33. 10), जिससे परवर्ती पुरुरवा आख्यान में वर्णित उस बिजली की कौंध का स्मरण हो आता है जिससे यह वीरनायक नंगा दिखाई दे जाता है। 7. 33 11-13 के वर्णन वसिष्ठ के जन्म की वास्तविकता घटना पर प्रकाश डालने के बजाय इसे और भी अस्पष्ट और दुर्बोध बना देते हैं, क्योंकि वहां इस संबंध में कई तरह की बातें कही गई है : उतासि मैत्रावरुणो वसिठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसो धि जातः, फिर अप्सरस. परि जज्ञे वसिष्ट., और फिर यह कि उसका जन्म मित्र और वरुण के वीर्य से हुआ, जो एक कुंभ (कलश) में डाल दिया गया था, और यह कि विश्वदेवों ने कमल सरोवर से उनका उद्धार किया : विश्व देवा. पुष्करे त्वाददत। अप्सरा उर्वशी से या उसके कारण उत्पन्न होने से और उसी तरह पैदा हुए अगस्त्य द्वारा मनुष्य समाज में लाए जाने के कारण, वसिष्ट का उद्‌भव ब्राह्मण रूप में हुआ, हालांकि जन्म से वे अनार्य थे, जैसा कि आगे निर्दशित किया गया है।

प्रसंगवश, यह ज्ञातव्य है कि अनेक अप्सराओं को ऐसा प्रमुख स्थान किसी न किसी राजवंशावली के आरंभ के निकट प्राप्त है : मेनका (शकुन्तला), घृताची, अलंबुषा, इत्यादि। पितृसत्तात्मक समाज में ऐसी वंशावली मान्य हो सके इसके लिए ऐसे

विवाह को किसी न किसी रूप मे वैध होना पड़ता ही था, हालांकि वास्तविक मातृ-सत्तात्मक प्रथा और परवर्ती परंपरा, दोनों से यह बात सुविदित थी कि अप्सराएं किसी पति को स्थाई रूप से अपना भर्ता और स्वामी मानकर उसके प्रति समर्पित नहीं हो सकती थी। अतएव, सिंधुजा अप्सरा रम्भा के साथ बलात्कार करते समय रावण ने दो टूक शब्दों में कह दिया था 'अप्सराणां पतिर्नास्ति, और इस प्रसंग मे उसे न पाप का एहसास हुआ न अपराध का। अप्सराओं को एक नियत अवधि के लिए मानव रूप और मर्त्य शरीर धारण करने का अभिशाप मिल जाने से यह बाधा बड़ी सफाई से टल गई। कालिदास ने इसका फायदा उठाते हुए अपने रघुवंश के आठवें सर्ग मे एक पुनर्जात अप्सरा को राम की पुरखिन के रूप में माना है, हालांकि ऐसी कोई परंपरा उनके समय मे प्रचलित अवश्य रही होगी।

इसमे सदेह नहीं कि अप्सरा (थीटिस सहित निरीडगण और जिनके नाम के अंत में नीर है ऐसी अधिकाश यूनानी परियों के समान) एक जल देवी है, हालांकि उसका पति सामान्यत: आकाश मे रहता है (किंतु ईरानी पुराण कथा मे उल्लिखित सुनहरी एडी वाला गंदरेव तो समुद्री ही है)। ऋ० वे० 10. 10 4-5 मे वर्णित है कि यम और उसकी जुडवां बहन यमी के रूप में प्रथम मानवों की उत्पत्ति जिन गंधर्व और जलस्त्री (अप्यायोषा) से हुई थी उन्हे त्वष्टा ने गर्भ में ही पति और पत्नी के रूप में रख दिया था। 10. 85 से प्रतीत होता है कि गंधर्व सभी स्त्रियों पर, खासकर कुमारियों पर, विशेष अधिकार रखता है। इससे अंशत: समझ में आ जाता है कि 10.95.10 मे अप्या काम्यानि तथा समुद्र से उत्पन्न शिशु, जनिषो अपोनर्या:, कहने का कारण क्या है। अवश्य ही यहां एक स्पष्ट शारीरिक काम विषयक[8] निमित्त भी मौजूद है, मनोविश्लेषकगण ऐसा मानते रहे हैं कि समुद्र से निकाला गया कहने का एक पुराना ढग है जिसका तात्पर्य केवल साधारण मानव जन्म ही है। इस हेतु का निवेचन करते हुए फायड और ऑट्टो रैंक ने यह प्रतिपादित किया है कि सार्गन, मूसा या (जेस्टा रोमनोरम मे) पोप ग्रेगरी द ग्रेट तक की जलराशि में उद्धार की बात (महाभा० में कर्ण करण की तरह) महज जन्म की कहानी है, जिसमें समुद्र या जलराशि से तात्पर्य है गर्भाशय का अथवा भ्रूणावरक थैली के भीतर का पानी। जो भी हो, दो और बातें हैं जिनसे हमारे विचार की पुष्टि होती है।

ऋग्वेद मे उल्लिखित इला (इडा) एक प्रमुख देवी है, इस दृष्टि से कि वहां देवताओं की अपेक्षा देवियों का सामान्यत: बहुत कम महत्व है। 5-41-19 मे वह उर्वशी और नदियों से संबद्ध है : अभि न इळा यूयस्य माता स्मन् नदीभिर उर्वशी वा गृणातु; उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणाना अध्यूर्ण्वाना प्रभृथस्य आयो.। अत मे जिस आयु का उल्लेख है वह शायद उर्वशी का पुत्र है। महाभारत कहता कि इला इस वीर नायक की माता भी थी और पिता भी। बाद के विवरणों मे जो लिंग परिवर्तन देखने मे आता है उसका साफ मतलब है पुरुरवा का संबंध मनु से जोड़ना, बावजूद इसके कि पुरुरवा के, इला के सिवा, न कोई पिता था न कोई ज्ञात मां-बाप। मातृतंत्र के अधिकार

वंचित होने पर ऐसे परिवर्तनों का होना कोई अनजानी बात नहीं है (तुलना करें, टानी पेजर, जिल्द 7, पृ० 231, फ्रेजर गोल्डेन बाऊ। पृ० 253 एवं आगे); एक उदाहरण है बौद्ध अवलोकितेश्वर, जिसने एक मातृदेवी को विस्थापित कर दिया, और जो अक्सर उसके समान माना जाता है, उदा० कुआन-यिन मतलब यह कि पुरुरवा ऐसे संक्रमण काल का व्यक्ति है जब पितृत्व सर्वाधिक। महत्वपूर्ण बन गया था, अर्थात उस काल का, जब पितृसत्तात्मक समाज पूर्वतर भिन्न प्रकार के समाज पर हावी हो रहा था। विचारणीय यह है कि क्या भारत मे ऐसी घटना हुई, अथवा यह किसी वाहरी परिवर्तन का द्योतक है जो भारत में लाई गई आर्य पुराणकथाओं में परिरक्षित है। किंतु, 10. 95 की 12वीं ऋचा में पुरुरवा की उक्ति से [कि 'विवाहित स्त्री-पुरुष के जोड़े को कौन वियुक्त कर सकता है जब तक पति के पैतृक गृह मे परंपरागत (गार्हपत्य) अग्नि जलती है ?) यह स्पष्ट हो जाता है कि पुरुरवा विवाह संबंधी नई प्रथा के पक्ष मे बोल रहा है, (यहा श्वसुरेपु बहुवचन से कुछ भ्रांति हो सकती है, लेकिन, व्याकरण की दृष्टि से, एकवचन के लिए ऐसा बहुवचन प्रयोग कोई असामान्य बात नही है)। 10. 95 की अंतिम पंक्तियो मे ऐल अभिधान से स्पष्ट हो जाता है कि पुरुरवा ही वास्तव मे इला का पुत्र है, कोई अन्य पात्र नहीं। संपूर्ण ऋग्वेद मे सिर्फ एक और जगह पुरुरवा का उल्लेख हुआ है : त्वमग्ने मनवे द्यामवाशय. पुरुरवसे सुकृत्तर: (1-31-4), जहा मनवे शब्द का अर्थ मनु के प्रति अग्नि का कोई पृथक अनुग्रह हो सकता है, केवल यही (माने) नही कि पुरुरवा मनु का पुत्र या वंशज (या मात्र 'मानव' पुरूरवा) है; आकाश से मेघगर्जन विशेष अनुग्रह का सकेत क्यों है यह स्पष्ट नही होता, और न यही कि वह अनुग्रह मनु को नही बल्कि पुरूरवा को मिला। इसलिए, हमे इस कथानक के उर्वशी वाले पहलू पर ही ध्यान केंद्रित करना होगा क्योंकि ज्यादा जानकारी उसी के बारे मे है।

तो, जल राशि या जलप्रवाह से जन्म होने की जो बात पहले कही गई है उसके संबंध मे तुलना के लिए भीष्म की कहानी (महाभारत 1. 91 एवं आगे) पेश की जा सकती है, जिसकी सदृशता अंशत: जानी मानी जा चुकी है। वर्तमान महाभारत में भीष्म का महान व्यक्तित्व कृष्ण भगवान से भी बढकर छाया हुआ। उनका जन्म गंगा नदी से हुआ था। गंगा ने प्रतीप से प्रणय निवेदन करने के लिए मानव शरीर धारण किया था, लेकिन पति रूप मे उसने प्रतीप के बदले उसके पुत्र शान्तनु को स्वीकार कर लिया। अपने सात बेटों को गंगा ने एक एक करके नदी मे डुबाकर मार डाला— नदी, जो निश्चित रूप से उसका अपना ही प्राकृत रूप है। इससे जाहिर है कि वे बेटे गंगा को बलि चढा दिए गए। आठवें को पिता ने अनुनय करके बचा लिया, लेकिन तब वह नदी रानी अपने पति को छोड कर चली गई। यह आठवां बेटा जो बच गया वही है देवव्रत या गाङ्गेय (द्विनामा, दो नामों वाला, जैसा कि महाभारत में विशेष रूप से कहा है, 1. 93. 44) जिसका नाम आगे चलकर 'भीष्म' पड़ा। यह नाम पड़ने का कारण यह हुआ कि देवव्रत ने आजीवन ब्रह्मचारी बने रहने की भीष्म प्रतिज्ञा कर

ली। अपनी इस प्रतिज्ञा के चलते उन्हें अपने सौतेले भाई के लिए काशी नरेश की अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका नामक तीन पुत्रियों का अपहरण करना पड गया। ज्ञातव्य है कि इन तीनों नामों का अर्थ 'मां' है और, अम्बु तथा अम्भस शब्दो द्वारा, ये जल से सवद्ध हैं। अनुमान होता है कि ये तीनों नदी देवियां रही होंगी, संभवतः गंगा की ही तीन आकृतियां, जिसकी त्रिमुखी प्रतिमा ऐलिफेंटा में है। इनके नाम विशेष महत्वपूर्ण हैं क्योंकि अश्वमेध यज्ञ (शत० ब्रा० 13. 2. 8. 3 आदि) मे इनका एक साथ आवाहन किया जाता था। इन तीनों मे से दो छोटी वहनें भीष्म के सौतेले भाई विचित्रवीर्य को ब्याह दी गई। विचित्र वीर्य निस्सतान मर गया। भीष्म से अनुरोध किया गया कि वह उनसे पुत्र उत्पन्न करें ताकि वंशक्रम कायम रहे। भीष्म ने इकार कर दिया, हालांकि अब उनकी प्रतिज्ञा से भला कौन सा प्रयोजन सिद्ध होना था? बड़ी बहन अम्बा ने पहले शाल्व का वरण किया था, शाल्व ने उसे त्याग दिया, तब वह भीष्म के पास गई, भीष्म ने भी उसे ठुकरा दिया। इसपर अम्बा ने भीष्म को मार डालने की प्रतिज्ञा कर ली, हालांकि भीष्म, अपने पिता से मिले इच्छा मृत्यु वरदान के प्रभाव से, अमर जैसे हो गए थे। अम्बा ने आत्म हत्या कर ली। दूसरे जन्म में वह स्त्री से पुरुष हो गई, अर्थात शिखंडी के रूप मे पैदा हुई, और अंततोगत्वा उसने अजेय भीष्म को युद्ध में मार डाला। भीष्म के मारे जाने का कारण यह हुआ कि उनकी प्रतिज्ञा थी कि वह किसी स्त्री से, यहां तक कि किसी ऐसे पुरुष से भी, जो पहले स्त्री शरीरधारी रह चुका हो, युद्ध नही करेंगे। यहां यह उल्लेखनीय है कि 'शिखंडी' का अर्थ है शिखाधर (चोटी वाला), और यह मोर का एक पर्याय है। यह शिखंडी 'शब्द अ० वे० 4. 37. 7 में एक गंधर्व के नाम या उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस पर गौर करें तो जाहिर होगा कि यह आख्यान उर्वशी के आख्यान से बहुत मिलता-जुलता है। तात्पर्य यह कि भीष्म ने जिस नदी देवी को अस्वीकृत किया उसने उसे मार डाला,[9] यहां यह व्याख्या प्रस्तुत करने से काम नही चलेगा कि भीष्म का प्रतिभट स्त्रैण था।

भीष्म के आख्यान की तुलना एक दूसरे आर्य युद्ध महाकाव्य के बदनसीब नायक के आख्यान से की जा सकती है। अकिल्लीज भी एक नदी देवी का बेटा है, लेकिन उसका जनक राजकुल का एक मानव है। उसकी मा उसे स्टिक्स (वैतरणी) मे डुबाती है, डुबाकर मार डालने को नही बल्कि वज्रदेह बनाने को। यह बेटा कुछ समय तक लड़कियों की वेपभूषा मे, लड़की ही की भांति, उनकी जमात में रहता है। इसका कारण यह बताया जाता है कि ट्राय से जो प्राणांतक युद्ध हुआ उससे उस बच्चे को अलग बचा रखना था। लेकिन, अगर यही सीधी सी बात होती तो फिर क्रीट के भित्ति चित्रों का रहस्य क्या है, जिनमें दिखाया गया है कि कोई यज्ञ या धार्मिक अनुष्ठान है जो संपूर्णतः स्त्रियों द्वारा ही किया जाने को है और जिसमें लड़के लड़कियों के वेप मे उपस्थित हैं। यह अवश्य ही कोई प्राचीन कथा होगी जो कांस्ययुगीन लुटेरे आर्य सरदार के गले मढ़ दी गई। अगर यह मान लिया जाए कि यूनान मे थीटिस भी पा यंपूर्व है तो पवित्र डुबकी, लड़की का वेप तथा जीवन, और वीर नायक की मृत्यु,

इन सब के बीच मूल संबंध निश्चय ही दृढतर रहा होगा ।

हमें नदी देवी की पूजा के अन्य प्रकारों का भी पता है (जे० प्रजिलुस्की आई० एच० क्यू० 1934, पृ० 405-430) । प्रतिमा विसर्जन की, और कभी-कभी मृतक भस्म को जल मे प्रवाहित करने की, जो भारतीय प्रथा है वह इसी पूजा परंपरा का एक प्रकार है । मातृ व नदी देवी से विधिपूर्वक विवाह को अन्य देशो मे निश्चित रूप से खतरनाक माना जाता था । गिलगमीज ने जो इश्तर को पत्नी बनाने से इकार कर दिया, उसका यही रहस्य है । समय समय पर अभिनीत की जाने वाली अह्‌वत और अन्यव्रत की कहानी के मूल मे भी यही बात है । मनुस्मृति (3-19) मे कहा गया है कि ऐसी कन्या का वरण न किया जाए जिसका नाम भयावह हो, खासकर जो किसी नदी के नाम वाली हों । कामसूत्र तो कोई धार्मिक ग्रंथ न होकर बिलकुल व्यावहारिक है, लेकिन उसमे भी ऐसी चेतावनी मौजूद है (3.1.13) । आजकल भले ही नदियों के नाम पर भारतीय बालिकाओं का नामकरण एक आम बात है, और इससे उनके विवाह में कोई बाधा भी नहीं पडती, लेकिन प्राचीन काल में इसे निश्चित रूप से वर्जित किया जाता था, और निस्संदेह इसके लिए सुपर्याप्त कारण थे । दूसरी ओर, अप्सरा और नदी देवी की पूजा अभी तक प्रचलित है, उदाहरणार्थ, पूना के निकट, खासकर मावल क्षेत्र मे । यह मावल क्षेत्र प्राचीन मामाल हार है, जिसका उल्लेख कार्ले स्थित सातवाहन शिलालेखों में हुआ है । यहां जो देविया पूजी जाती हैं (मावला देवी : मातृदेविया) उनके नाम पर ही इस प्रदेश का नाम पड़ा है । ये देविया 'सात अप्सराएं' (साती आसरा) ही हैं और ये सब इकट्ठे ही, और हमेशा पानी के पास ही, अर्थात कूप, तालाब या नदी के निकट ही, पूजी जाती हैं । लेकिन, ऐसा प्रतीत होता है कि आज-कल ये देविया रक्तबलि की मांग नहीं करती, हालांकि अन्य ग्राम देवियों को तो अभी भी साल मे कम से कम एक बार रक्तबलि चढानी पड़ती ही है । इन देवियों की प्रस्तर प्रतिमाओं पर सभी भी लाल सिंदूर चढाया जाता है, अथवा किसी चट्टान या पेड़ पर लाल धारियां खीचकर इन देवियो को प्रतीक रूप मे प्रस्तुत किया जाता है ।

ऋग्वेद मे उषा

उर्वशी का जो सबसे महत्वपूर्ण साहचर्य है, अधिकाश अनुवादो मे उसी का कोई जिक्र नही है । यह साहचर्य है उषा के साथ, जो भोर की देवी और संभवतः 5.41.19 की वृहद्दिवा है । 10-95-2 मे उर्वशी कहती है : 'मैं प्रथम उषा की भांति दूर जा चुकी हूं', और यह महज एक उपमा प्रतीत होती है । लेकिन तब, प्रश्न उठ खड़ा होता है कि 4 मे उल्लिखित उषो का तात्पर्य क्या है । इसकी व्याख्या तो कई-कई तरह से की गई है, लेकिन संतोषप्रद एक भी नही है । मैं जो व्याख्या प्रस्तुत करता हू वह यह है कि उर्वशी उषा के दर्जे तक पहुंच गई है, जो महज भोर की देवी का दर्जा नहीं बल्कि मानुदेवी[10] का दर्जा है । यही उसकी नियति थी, जैसे बलि होना उसके प्रेमी की थी । आगे इस पर विस्तार से विचार किया गया है ।

10.95.8 9 में हम देख चुके हैं कि अप्सराएं और उनकी सहेलियां अपने कपड़े उतारकर नंगी हो जाती हैं, मेनका आदि अन्य अप्सराओं ने भी ऋषियों को इसी तरीके से मोहित किया था। ज्ञातव्य है कि उषा देवी अक्सर मनुष्यों को इस तरह अपना नग्न दर्शन देती है। 1.123.11 में उसकी देह इस तरह दिखती है जैसे किसी युवती को उसकी मां ने अलंकृत किया हो : आविस तन्वं कृणुषे दृशे कम। 1-124-7 में उषा हस्रेव निरिणीते अप्स्म, वह अपने गुप्तांगों को किसी हस्रा, अर्थात कामुक या हंसती हुई नारी के समान प्रदर्शित करती है। किंतु, उसी ऋक् में यह भी है वह धन के लिए गद्दी या वेदी या मंच पर आरूढ होकर, किसी मातृहीन नारी के समान पुरुषों की ओर जाती है : अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची, गर्तारुग इव सनये धनानाम, जहां गर्तारुग का अर्थ स्पष्ट नहीं है। स्पष्टत. यहां निर्देश है ऐसी नारी का जिसके कोई भाई नहीं है, जो उसके लिए वर ठीक कर सके, अतः यह उसके लिए लाजिमी है कि दहेज लेने के लिए वह खुद ही अपने को किसी ऊंची जगह पर प्रदर्शित करे। संभवत. 5.80.4-6 में उषा देवी के इसी आत्मप्रदर्शन का उल्लेख है, जो बहुत बार दुहराया गया है, लेकिन, वह जो मनुष्यों को अपने कुच और गुप्तांग प्रदर्शित करती है, यह बिल्कुल आम बात है। ज्ञातव्य है कि यह दृश्य साइरो हित्ताइत मुहरों में (डब्ल्यू० एच० वार्ड : सील सिलिंडर्स आफ वेस्टर्न एशिया, अध्याय एल) अक्सर देखने को मिलता है, जिनमें भारतीय डीलदार सांड, कभी-कभी उस देवी की पीठिका (आधार) के रूप में, अंकित रहता है (2.3)। इसमें लज्जा का लेश नहीं है : नोधा इवाविर अकृत प्रियाणि, जब अविकसित कुचों वाली कन्या के समान (नोधा इव, ग्रासमन के सुझावानुसार)। मोहिनी अप्सराएं ऐसा करें तो बात समझ में आती है, क्योंकि उनका काम ही है मनुष्यों को आकर्षित करना। लेकिन उषा ऐसा क्यों करती है ?

2.3 साइरो हित्ताइत मुहर का अंकन

बहरहाल, इस भोर की देवी को, जिसके जिम्मे कोई महत्वपूर्ण काम नहीं जान पड़ता, ऋग्वेद में इतनी प्रमुखता क्यों दी गई है, जबकि उसी की प्रतिमूर्ति 'ईओस' ग्रीस (यूनान) में नगण्य है ? कम से कम इक्कीस पूरे सूक्त उसे समर्पित हैं और वह इतनी महत्वपूर्ण है कि आप्री सूक्त कहलाने वाले विशिष्ट यज्ञ स्तोत्रों में उसका आवाहन किया गया है। इन सूक्तों में, जिनका ढांचा सख्त कसा हुआ है, स्वर्ग द्वार खुलते ही उषा का निशा के साथ (उषसा नक्ता) अथवा उषा निशा की जोड़ी का प्रवेश होता है। किसी जादूगरनी को, अथवा गणिका या रखैलिन के समान पेश आने वाली को, इतने ऊंचे दर्जे का आदर सुलभ नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि एक समय था जब

इस भोर की देवी को उच्चतर पदस्थिति प्राप्त थी। इसे समझने के लिए हमें गवेषणापूर्वक उसकी व्याख्या करनी होगी जो हमारे पास बच रहा है।

भूतपूर्व ऊंची स्थिति क्या थी, इसका पता लगा लेना कठिन नही है। उषा को कही सूर्य की पत्नी कहा गया है, यथा, 7-75-5, सूर्यस्य योषा, तो कही शायद उसकी बहन और उसकी माता भी, 3-61-4, स्वर्जनती। तो भी, उसके महत्व को स्पष्ट करने के लिए मात्र यही पर्याप्त नही है। 1-113-19 मे उसे सभी देवों की माता, अदिति की आत्मा कहा गया है . माता देवानामदितेरनीकम। अग्नि को समर्पित एक सूक्त (4-2-15) मे एक परम महत्वपूर्ण संकेत है, जिससे उषा की सही स्थिति का पता चल जाता है :

अधा मातुरूषसा सप्त विप्रा. जायेमहि प्रथमा वेधसो नॄन्
दिवस पुत्रा अङ्गिरसो भवेम अद्रि रुजेक धनिनं शुचन्त:।

'हम सात ऋषि, माता उषा से, प्रथम मानव यज्ञकर्ता पैदा करेंगे (या पैदा होगे), हम स्वर्ग पुत्र अंङ्गरस बनेंगे, चमकते हुए हम लोग समृद्ध पर्वत को विदीर्ण करेंगे।' अतः उषा एक श्रेष्ठ मातृदेवी थी, शब्दार्थतः प्रभात माता। ऐसी स्थिति से वह च्युत कैसे हो गई?

वसिष्ठ की उक्ति है, 'अभूदुषा इन्द्रतमा मघोनी' (7. 79-3)। यहा क्रियापद अद्यतन भूतकाल मे है जिससे मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि एक समय था जब कि उषा इंद्र के समान सर्वोत्कृष्ट थी, लेकिन वैसी वह रही नही। मेरे इस विचार की पुष्टि इन दोनों देवताओ मे हुए संघर्ष की कहानी से होती है। इसका उल्लेख, एकलित रूप से न होकर, कई जगह हुआ है, 2.15.6, 10.138.5, 10.73.6 मे, और सर्वाधिक विस्तार से 4.30. 8-11 में .

एतद् घेदुत वीर्यमिन्द्र चकर्थ पौस्यम्
स्त्रियं यद् दुर्हणायुवं वधीर्दुहितर दिव: (8)
दिवश्चिद्‌घा दुहितरं महान् महीयमाना॥; उषासमिन्द्रसं पिणक् (9)
अप उष अनस: सरत् संपिष्टादह बिभ्युषी, ने यत्सी शिश्नथद वृषे (10)
एतदस्या अन: शये सुसंपिष्ट विपाश्या, ससार सी परावत. (11)

'ओ इंद्र, तूने यह साहसिक और पुरुषोचित कर्म भी किया कि तूने अनिष्टचिंतन दिव-दुहिता को मार डाला। ओ इंद्र, उस महान और महनीय उषा को, जो निश्चय ही दिव की दुहिता है, तूने रौंद डाला। जब वृष (इंद्र) ने उसे समीडित किया तब चूर-चूर हुए अनस (गाड़ी) से उषा डरकर भाग गई। विपाश (नदी) पर उसकी गाडी बिलकुल टुकड़े-टुकडे हो गई और वह (स्वयं) बहुत दूर भाग गई।'

इस संघर्ष का कोई कारण या स्पष्टीकरण नही दिया गया है। इंद्र युवा देवता है, जिसके जन्म का उल्लेख कई बार हुआ है, और जो अपने युद्ध पराक्रम के कारण अन्य सभी देवताओं से ऊपर है। वस्तुत, वह आर्य जनजातीय युद्धनायक के समान है, जो सोमपान कर लेने के बाद युद्ध मे दुर्निवार हो जाता है। उसने वरुण

को कैसे अपदस्थ किया, इसकी एक झलक भर एक संवाद में मिलती है (4.42)। इंद्र और प्राचीनतर नायक त्वष्टा (जिसकी स्थिति का विवेचन मैंने अन्यत्र किया है), इन दोनों के बीच ऐसा कोई खुला संघर्ष नही है। कीथ के विचार से, अनस (गाडी) से तात्पर्य बस यही है कि ऐसी किसी गाडी में उषा की प्रतिमा, जर्मनी[11] के क्षेत्र देवताओं अथवा डिमीटर (कृषि देवी) के समान, खेतों मे चारों ओर घुमाई जाती थी। लेकिन, नए नायक ने उस गाड़ी को चकनाचूर क्यों कर दिया? उसका बहुत दूर भाग जाना उसकी मृत्यु का पर्यायवाची है। पश्चातवर्ती अधिकाश सूक्तों में उसे सिर्फ एक साधारण रथ पर आरूढ़ कहा गया है। बैलगाड़ी (अनस), सीम के पुरातन प्रयोग के समान, निश्चय ही अत्यंत प्राचीनता की द्योतक हैं। साथ ही साथ, वह एक चिरकुमारी, चिरयौवना प्राचीन देवी है, जिसके कौमार्य और यौवन, उसके बार-बार जन्म ग्रहण करने के कारण, अक्षत रहे हैं: पुनः पुनर्जायमाना पुराणी (1-92-10)। उपर्युक्त प्रश्न का एकमात्र समाधान यही हो सकता है कि दो पंथो में भिड़ंत हुई, और जो पुराना पंथ था, मातृदेवी की पूजा का, उसे पितृसत्तात्मक आक्रामकों के नए युद्ध देवता इंद्र ने व्यास नदी के तट पर कुचल दिया। हत होने के बाद भी वह (उषा) जीवित है, इसका अर्थ यही हो सकता है कि उसके बच रहे आर्य-पूर्व उपासकों को, जो फिर भी उसे सूर्य-माता, सूर्य-पत्नी और दिव-दुहिता के रूप में मानते रहे, अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण ढग से, धीरे-धीरे आत्मसात कर लिया गया। उषा का आचरण उर्वशी जैसी अप्सराओ के व्यवहार मे प्रतिबिंबित है जो, मिले-जुले समाज के स्वाभाविक विकास क्रम में, बिगड़ते-बिगड़ते अथर्ववेद की डाइनें या जादूगरनियां बनकर रह गई, वस्तुतः और अंततः उनकी उपासना विधि का सफाया सा हो गया, जो अब छुटपुट रूप से गांवों तथा जंगल में ही बची रह गई है।

उषा को सृष्टि की माता कहा गया है, और ज्योतिर्देवताओ से घनिष्ठ संबंध के दावेदार अंगिरसों की माता तो वह थी ही, इन रूपो में पहले उसकी (संभाव्य) भूमिका क्या थी, इस रहस्य को वर्तमान ऋग्वेद से थोड़ी कठिनाई से सुलझाया जा सकता है। परवर्ती पुराणकथा तो बताती है कि प्रजापति ने आप अपनी बेटी से कौटुंबिक व्यभिचार किया जिससे सृष्टि हुई, एतत्संबंधी मूल पद ऋग्वेद में द्रष्टव्य हैं किंतु 1-72-5 मे यह स्पष्ट है कि पिता है दिव-देवता (यहां पुरुषवाचक, हालाकि उसी वेद मे अंयत्र अक्सर स्त्रीवाचक है, जिससे प्रतीत होता है कि एक कल्पित कथा बाद में मूल मातृदेवी के साथ जोड़ दी गई), और उषा निश्चित रूप से दिव-दुहिता हैं, सभी टीकाकारों तथा अनुवादको ने इस स्थल पर ऐसा ही संकेत किया है, अंगिरसगण पुत्र है। अनुवर्ती 3.31.1 मे, और फिर 10.61.7 मे भी, बहुत-कुछ वही बात कही गई है, किंतु 1.164.33 मे वह पुत्री 'पृथ्वी' हो गई है। इससे जाहिर होता है कि ब्राह्मण परंपराओं के बीच विषमता है। परवर्ती गणिकात्व या उपपत्नीवाद से उसके संबंध के बारे में ग्रा शब्द पर सायण का भाष्य द्रष्टव्य है, 'ग्रा' को सायण ने उषा का एक नाम माना है, उदाहरणार्थ, 1.121.2 और 4.1.16 मे, उत्तरोक्त

सूक्त मे, अगर 'उषस' का अर्थ गो-माता किया जाए, जिसके त्रिसप्त (इक्कीस) गुप्त नाम दीक्षित जनों को ही ज्ञात थे, तो अर्थ बहुत बेहतर निकल आता है।

ऋग्वेद मे उर्वशी का निर्देश सिर्फ एक और जगह मिलता है (4.2.18, अ० वे० 18.3.23, यह ठीक उस स्थल के बाद है जहा सप्तर्षि सहित उषा का उल्लेख हुआ है :

> आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद् देवानाम् यज्जनीमंतयुग्र
> मर्तानाम् चिदुर्वशीरकृपन् वृधे चिदर्य उपरस्यायोः।

यहां उर्वशी का बहुवचन रूप प्रयुक्त है, आयु शब्द या तो पुराणोक्त (उर्वशी पुरुरवा के) पुत्र के अर्थ मे या किसी विशेषण के रूप में गृहीत हो सकता है। ग्रासमन ने तो अपने अनुवाद मे उर्वशी को भी अमूर्त कर दिया है : मनुष्य जाति का अर्थ ही

2.4 क 2.4 ख 2.4 ग 2.4 घ

2.4 क : सपक्ष हित्ताइत देवी, 2.4 ख · पक्षी देवी (लिलिथ) की मेसोपोटामियाई मृणमूर्ति, 2.4 ग पर्वत से सूर्यदेव के जन्म के समय सपक्ष इश्तर; 2.4 घ : पक्षी शिरोवस्त्र वाली मिट्टी की हड़प्पाई लघु प्रतिमा

इच्छा है लेकिन, यह देखते हुए कि उषा का भी बहुवचन रूप ही प्रयुक्त हुआ है, और यह कि पुरुरवा का किस्सा तमाम करने के पहले उर्वशी एक उषा बन चुकी थी, कोई कारण नही प्रतीत होता कि इस शब्द को अप्सराओं[12] का द्योतक माना जाए। अत. दूसरी पंक्ति का ठीक अनुवाद कुछ इस तरह से होगा, 'उर्वशियों को मर्त्य मानवों पर दया आ गई और वे उत्तर वर्ती कुटुंबी 'आयु' की सहायता तक करने को तैयार हो गईं।' संभवत', ऐलल पुरुरवा के पुत्र और उत्तराधिकारियों की बलि नहीं पडी, पितृसत्ता अंततः जीत गई।

एक और हल्का सा साक्ष्य उपलब्ध है, जिससे ऐसी देवियों की अत्यंत पुरातनता का संकेत मिलता है, बावजूद इसके कि ऋग्वेद में पितृसत्तात्मक देवताओं की ही प्रधानता है। वह साक्ष्य यह है कि एक समय था जब ये देवियां सपक्ष (पंख युक्त) होती थी। यह विशिष्टता, जो हमारे प्रतिमाशास्त्र मे लुप्त हो गई है, हित्ताइत नक्काशी (चित्र 2.4 क), मे बने लिलिथ (चित्र-2.4 ख) मे, और इश्तर के बेजोड़ मेसोपोटामियाई प्रतिरूपण (चित्र-2.4 ग) मे द्रष्टव्य है। ज्ञातव्य है कि इश्तर एक मातृदेवी एवं एक उषा देवी है, साथ ही, वह मा, बहन और पत्नी है सूर्य देव तामूज

की, जिसे वह उसकी पर्वत समाधि से समय-समय पर मुक्त कर देती है। अप्सरा, पक्षवती था पंखों वाली कहलाए बिना आकाश को पार करती है। कहा से यह सूझ मिली ऋग्वेद के ऋषियों को, कहना कठिन है। इसका समाधान तो तभी संभव है जबकि मान लिया जाए कि प्रारंभतः स्वयं सूर्य ही पंखोंवाली देवी था। कारण, ज्ञात सिंधु घाटी नक्काशी में, इसके जैसा कुछ भी नही है, यद्यपि पक्षी के सिरवाली लघु मूर्तिया (चित्र-2.4 घ), चार बाहों वाले मानव प्रतीकों के भाव चित्र, और शायद एक मुद्रा (मुहर) पर एक पंखदार (?) प्रतीक, ये सब वहा अवश्य मिले हैं (एम० एस० वत्स, एक्सकैवेशंस ऐट हडप्पा, दिल्ली 1940, फलक 91.255)। दूसरी ओर, सुपर्ण का प्रयोग सूर्य के लिए हुआ है, जिससे असिसरीअन लोगों के पखदार सूर्य बिंब का स्मरण हो आता है, 1.105.1 मे उसका निर्देश चंद्र के प्रति है। पंखों तथा आयुधों वाला एकमात्र पुरुष देवता विश्वकर्मा है, जिसका उल्लेख 10 81.3 मे हुआ है। 7.104.22 में सुपर्णयातु नामक एक पखदार दानव का उल्लेख है जिससे परित्राण के लिए वसिष्ठगण प्रार्थना करते हैं। किंतु 1 22.11 मे यह आशा व्यक्त की गई है कि देवताओं की पत्नियों के पंख अभग्न रहेंगे, अच्छिन्नपत्राः सचन्ताम्। विपत्ति में की गई दो प्रार्थनाए, 1.105.11 मे सुपर्णा एत आसते[13] और 1.58 4 मे मामाम् इमे पतत्रिणी विदुग्धाम, उषाओं के अथवा उषा-निशा की जोडी के पंखयुक्त होने का स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। ये देवियां और इन्ही की तरह स्वयं मृत्यु देविया भी दिन-दिन मनुष्य की आयु को घटाती हैं, शायद भयानक पक्षिशिरस्क सिंधु मृणमूर्तियों का भी यही हाल है। यदि इनमें से कोई मातृदेवी किसी यज्ञ मे अपने पति का वध कराए तो यह तो और भी स्वाभाविक है। यह परंपरा पश्चिम में साइरेन गण में, जिनके संगीत से आकृष्ट होकर जहाजी लोग मौत के शिकार हो जाते थे, और हार्पी-गण के बीच बची रह गई। भारत मे इस तरह का अंतिम सपर्क, ऐसा जान पड़ता है कि अस्वीकृत अप्सरा शकुन्तला के साथ हुआ।

ऋग्वेद मे जिस गणिकात्व या उपपत्नीत्व के सूक्ष्मतर संकेत मिलते हैं वह एक दूसरे ही प्रकार का है जो आर्य पूर्व मातृदेवी की उपासना विधि से नही बल्कि आर्यों के समूह विवाह के अवशेषों से संबंधित जान पडता है, हालांकि जरूरी नहीं कि ये एक दूसरे से स्वतंत्र ही हों। विशेष निर्देश के लिए ऋ० वे० 1.167. 4 द्रष्टव्य है जहां रोदसी देवी सामान्य रूप मे सभी मरुतों की वधू है और उसकी उपाधि है साधारणी (तथा यव्या, शायद उर्वरा के अर्थ मे)। ठीक नही कहा जा सकता कि इससे क्या उपदर्शित होता है, भ्रातृक बहुपति प्रथा (जैसा कि मैं समझता हूं) या वेश्यावृत्ति। अंयत्र बताया गया है कि आसमान और धरती का इकट्ठा नाम है 'रोदसी', इस दृष्टि से देखिए तो अर्थ का निश्चय करना और भी कठिन हो जाता है, क्योंकि तब मतलब निकलता है कि एक नही, दो देवियां। 10 85 8.9 के अनुसार, सूर्या का विवाह सोम से (अर्थात, प्रारंभतः सूर्य देवी का विवाह चंद्र देवता से) ठीक करने मे घटक का काम दोनों अश्विन देवता करते है, और इस दृष्टि से वे उस देवी के भाई हुए, लेकिन

4.43.6 तो साफ बताता है कि वे उसके पति हैं, और यह बात, समूह विवाह की प्राचीनतर पद्धति को देखते हुए, कोई व्याघात या असंगति नही है ! हम देख चुके हैं कि परवर्ती परंपरा मे सूर्या को उषा और उर्वशी से अभिन्न माना गया है, और बाद वाला सूक्त तो सूर्या के विवाह को ऐसा कर्मकांड बना देता है जो मानव दंपति द्वारा दिव्य वर-वधू की लीला रचाए जाने से ही प्रवर्तित हुआ होगा, जैसाकि आज भी प्रचलित है। 10.85.36 मे वर ठीक विवाह संस्कार के समय अपनी वधू का पाणि-ग्रहण करता है, तथापि, ठीक उसके बाद वाली ऋचा मे ही उस स्त्री को (अनेक) पुरुषों से वीर्य ग्रहण करने वाली कहा गया है—यस्यां बीज मनुष्या वपन्ति, अतः, ऐसे जातिलक्षण निर्देश की अर्थसंगति तो तभी बैठेगी जब यह मान लिया जाए कि, तब नहीं तो कम से कम पहले कभी, ऐसे विवाह संस्कार से कोई स्त्री स्वतः अनेक भाइयो या स्वजातीयो[14] की वधू बन जाती होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद 1.126.5 के वाक्यांश जो कुल वेश्याओं की तरह रथ की सवारी करती है' विश्या इव व्रा (अनस्वतन्त) का सर्वोत्तम अनुवाद गेल्डनर ने किया है :

क्योकि विश्या. शब्द स्त्रीलिंग बहुवचन है। डिर्ने यानी वेश्या प्रयोग में कुछ भद्दा लगता है। यहां पर मैं समूह विवाहों वाली उन भ्रमणशील कुल पत्नियों को भी शामिल करना चाहूंगा जिनकी सवारी बैलगाड़ी है। यहां बैलगाड़ी यातायात का साधन मात्र हो सकती है। यह आवश्यक नही है कि इस बैलगाडी का संबंध उषा की पुरातन सवारी से हो ही। यद्यपि हम देख चुके हैं कि सायण ने दो बार 'व्रा' शब्द का अर्थ उर्वशी बताया है। गणिका के लिए परवर्ती शब्द वेश्या उसी धातु से बना है जिससे विश्या। वेश्या सभवत उस स्त्री की ओर इशारा करता है जो पुरुषों के लिए खुले सार्वजनिक गृहो में रहती थी। गणिका शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट रूप से गणपत्नी शब्द से हुई है। ऐसे अधिकतम विकसित समाजो मे, जिनकी आदिम अवस्थाएं आज भी खोजी जा सकती हैं, यह बात सामान्य रूप से दिख सकती है कि वेश्यावृत्ति समूह विवाहों के उन्मूलन के परिणामस्वरूप प्रारंभ होती है। यह दोनों ही संपत्ति के एक नए प्रकार पितृसत्तात्मक निजी संपत्ति जिसमें उत्पादन साधनों के सामूहिक अधिकार का स्थान ले लिया, के सहभागी हैं। अ० वे० 15 मे सामान्यतः अप्रचलित 'व्रात्य' उर्वरक अनुष्ठानो में वेश्या का स्थान प्रमुख दिखाया गया है।

आर्य या आर्यपूर्व

उर्वशी और उसके उच्चतर स्वरूप उषा का चरित्र-चित्रण तो पूर्ववर्ती प्रकरण में किया जा चुका है, अब देखना है कि वह इंद्र, वरुण और अग्नि के समान आर्य थी अथवा प्राचीनतर सभ्यताओं की देन। इस्तर इन्नन्न[15] से इसका सादृश्य बेशक है, लेकिन कोई सीधा व्युत्पत्ति मूलक संबंध नही जान पड़ता, हालांकि अनुमान की यह दूर की उड़ान तो सराहनी ही बनेगी कि नक्षत्र का वाचक भारोपीय शब्द स्तर, जो ऋग्वेद में आया है) वास्तव में इस्तर और उसके प्रतीक सितारे से व्युत्पन्न हुआ है। एशिया माइनर में

एक सोसन देवी है, संभवतः अस्तर्त से व्युत्पन्न, और हीब्रू सुसन्ना का आदि रूप है। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि उर्वशी आगे चल कर मातृदेवी उषा हो गई, और यह कि इन दोनों का शील स्वरूप गणिका देवदासी नर्तकी का है, किंतु इसकी पुनरुक्ति ही पर्याप्त नहीं है। माना कि यह बात सही है, और यह भी ठीक है कि मातृ देवी की ऐसी उपासना के लिए कोई प्राचीन आधार किसी संस्कृत पाठ या धर्मग्रंथ मे उपलब्ध नहीं है, फिर भी, यह तो स्पष्ट करना होगा ही कि इस तरह की वास्तविक मंदिर पूजा पद्धतिया, जो भारत में आज भी प्रचलित है, भारत से बाहर के धर्मों से निकली है अथवा सिंधु-घाटी के आर्यपूर्व लोगो से। बहरहाल, वर्तमान साहित्य मे उपलब्ध सामग्री इस संबंध मे उठ सकने वाले सभी प्रश्नों का समाधान भले न प्रस्तुत कर सके, किंतु, हमारे अभीष्ट विश्लेषण की पूर्ति के लिए पर्याप्त तो है ही। यहां यह बता देना अप्रसंगिक न होगा कि भारतीय मातृदेवी मंदिर प्रत्यक्ष परिणाम हैं स्थानीय रूप से प्रवर्तित उन आदिम जन-जातीय पूजा पद्धतियो के विकास का, जिनका आगे चलकर ब्राह्मणीकरण हो गया।

अवश्य ही, यहा यह प्रश्न उठाया जाएगा कि अगर यह सही है कि आर्यपूर्व पूजा पद्धतियों को अपना लिया गया तो उसकी ऐसी कोई प्रक्रिया भी पेश होनी चाहिए जो सही जंचे। आपत्ति यह भी की जाएगी कि आखिर सिंधु मुद्राओं मे तो सिर्फ पुरुष ही अंकित हैं, विरले मानव चित्र जो पहचान मे आए हैं वे जबरदस्त मर्दानगी के इजहार हैं। युक्ति बिलकुल सही है। बात यह है कि ये मुद्राएं, नारी लघुमूर्तियों से भिन्न, एक-दूसरे ही वर्ग के लोगो की है, व्यापारी वर्ग के पुरुषो की, जिन्होने अपने मकानों की विशाल अलंकृत दीवारो के पीछे अपनी धनराशि जोड़ रखी थी, इन मकानो सहित इस वर्ग को मटियामेट कर दिया गया। औरतें या तो जोरू या गुलाम बनकर

2. 5. क, ख
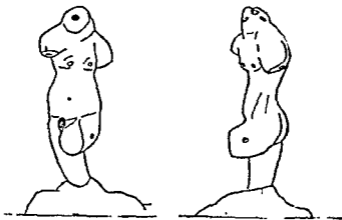
नर्तकी प्रस्तर हड़प्पाई लघु प्रतिमा, मूलतः यह 2.4 घ के समान अलंकृत थी जैसा शिरोवस्त्र के लिए बने छिद्रो और मेखला-उभारो से स्पष्ट है।

बच रहा, और उनके साथ बची रह गई इनकी पूजा-पद्धतिया, जो आर्य कही जाने वाली जीवनप्रणाली (प्रजाति नही) से भिन्न थी और जिनके शेष चिह्न आर्य दस्तावेजो मे खोजकर दिखाए जा चुके हैं।

ऋग्वेद मे नर्तकी का उल्लेख नैमित्तिक रूप मे ही हुआ है, मानो यह सर्वसामान्य के लिए सुविदित बात रही हो। तो भी, किसी भी तरह के मदिरो का पशुपाल्य आर्य वैदिक होना असंभव है। सीधी मातृदेवी पूजा नदारद है, और यह तो हम देख ही चुके है कि उषा पूजा पद्धति को स्वयं इंद्र जैसे महामहिम ने ध्वस्त कर दिया। 1.92 3 मे. काम करती हुई महिलाओं के गीत गाने का जिक्र है, संभवतः कर्मकाड (धार्मिक अनुष्ठान) के गीत· अर्चन्ति नारीरपसो न विष्टिभिः। अगली ऋचा मे, उषा नाचने वाली लडकी के समान साज के कपडे पहने हुए है : अधिपेशासि वपते नृतुरिव। पुन· इसी बेल-बूटेदार वस्त्र को 2-3-6 मे आलंकारिक ढग से, यज्ञ का बुना हुआ प्रतिरूप कहा गया है · यज्ञस्य पेशस। जाहिर है कि यह बुनाई का पेशा औरतो का ही है, मगर यह मर्दों द्वारा हडपे जाने के क्रम मे है, जैसा कि आगे बताया गया है।

ऋ० वे० 5. 47 9 में, माताए अपने पुत्र सूर्य के लिए कपडे बुनती हैं। 1. 115.4 मे, निशा सूर्य के लिए उसका वस्त्र बुनती है, और पुन·, 2-38-4 पर सायण भाष्य मे, वह वस्त्र बुननेवाली के रूप मे उपस्थित होती है : वस्त्रं वयती नारीव रात्रि। मेरे अपने मुख्य कथ्य के लिए जो सबसे महत्वपूर्ण बात है वह यह है कि उषा भी बुनने वाली है और निशा के साथ वस्त्र बुनती है : उषसा नक्ता वय्या इव······ततु तत सवयती (2.3.6)। अत, 7 33.9 मे जो हम पाते हैं कि अ सराएं सर्वनियामक मृत्युदेव यम द्वारा ताने गए वस्त्र को बुनती है वह स्वाभाविक ही है : यमेन तत

26 क 26 ख

नावडा–तोली (महेश्वर) से प्राप्त बरतन का टुकडा, जिसका समय लगभग 1600 ई० पू० है। इस पर नृत्यकारो का समूह चित्रित है; अब भी लडकिया एक चक्कर मे हाटना नृत्य इसी प्रकार हाथ पकड़ कर करती हैं जैसा चित्र में दिखाया गया है।

26 ख : उसी स्थल से प्राप्त नक्काशी का परवर्ती टुकडा, समय लगभग 1000 ई० पू०; इसमे नग्न देवी उत्कीर्ण हैं।

परिधिं वयंतस । 7.33.12 में कहा गया है कि ऋषि वसिष्ठ की उत्पत्ति अप्सराओं से, घट से, और सरोवर से इसलिए हुई थी कि वह इन अप्सराओं से, जो भाग्य का पट बुनने वाली नार्न देवियों के समान हैं, उनका काम अपने हाथ में ले लें । तथापि, वसिष्ठ को छोड़कर दूसरे-दूसरे लोगों को अपेक्षाकृत कम महत्व वाले बुनाई के काम हासिल हो गए । यज्ञ का बुना जाना अलंकारोक्ति मात्र नहीं है, 10.130.1 में पैतृक पुरखे यज्ञ की बुनाई करते हैं तो 2.28.8 में पुरुष ऋषि अपना गीत बुनता ।

मातृसत्तात्मक की जगह पितृसत्तात्मक उत्पादन का यह सिलसिला निश्चय ही उस समय कायम हुआ होगा जब आर्य पूर्व विजितों और उनके आर्य विजेताओं के मेल से साथ ऋग्वेदीय समाज बना होगा । ऐसा जान पड़ता है कि हल चालन हमेशा पुरुष के ही हाथ में रहा है (4.51), कदाचित धन ताडन भी, लुहार के समान ही, पुरुष पुरोहित देवता ब्राह्मणस्पति इस ससार को शिकंजे में कसकर ठोक-पीटकर ठीक करता है (10.72.2) ।

अब हम समझ सकते हैं कि क्यों 10.95.4 में (एक उषा के रूप में) उर्वशी का यह दावा है कि उसने श्वसुर को वस्त्र और अन्न दिया है । मतलब यह कि यद्यपि 10.95.11 में, उसका काम था विदुषी के रूप में एक भयानक अनुष्ठान पूरा करना तथापि वह कतिपय ऐसी कलाओं में भी दीक्षित थी जिन पर नारी जाति का ही परमाधिकार था, जिनमें एक थी बुनाई । अतः सायण ने अपने भाष्य में ठीक ही कहा है वसु=वासकम्, कपड़े । आगे चलकर इस शब्द से सामान्यतः धन का बोध होने लगा ब्राह्मण पुनर्जागरण ने संस्कृत भाषा को कुछ इस तरह बघारा और लेपा कि वसु सर्व प्रकार के धन का पर्यायवाची हो गया । तो भी, ऐसा प्रतीत होता है कि धन, रयी और वसु, ये तीन प्रमुख शब्द मूलतः तीन पृथक अर्थों में प्रयुक्त होते थे : धन बोधक था बहुमूल्य धातुओं, सामान्यतः लूट का, रयी निश्चय ही मूलतः गो-धन और अश्व-धन का वाचक रहा होगा, कारण, गोमत शब्द प्रायः इसके विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है: वसु मेरा खयाल है, मुख्यतः बनाए और पहने जाने वाले धन को कहते थे, जैसे कपड़े । अथर्ववेद के समय में (अ० वे० 9.5.14), बुनाई अवश्य ही औरतों द्वारा चलित एक गृह उद्योग था क्योंकि वहां यज्ञ उपहार के रूप में स्वर्ण के साथ-साथ घर के बुने कपड़ों का उल्लेख हुआ है, कामसूत्र (4.1.33) में सद्गृहिणी के गुणों की सूची में सूचि-शिल्प तो नहीं किंतु कताई और बुनाई अवश्य सम्मिलित है ।

इससे अब यह सवाल पैदा होता है कि उर्वशी अपने श्वसुर को अन्न की आपूर्ति किस प्रकार करती थी । कारण, यहां जो वयस शब्द आया, है, हो सकता है, महज उसके पकाने के परिणाम का द्योतक हो । निस्संदेह, उषा को बहुधा गवां माता, अर्थात मवेशी की मां, कहा गया है, इसलिए मुमकिन है कि प्राचीनतर हलरहित कुदालकृषि पर भी परमाधिकार महिलाओं का ही रहा हो, जैसा कि अधिकांश आदिम समाजों में था, हालांकि इसके लिए कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य हमारे पास नहीं है । किंतु, 7.33 में वसिष्ठ के बहुविध जन्म का जो उपाख्यान है, जहां अप्सरा से, कमल या कमल सरोवर से

और एक कुंभ से भी, जिसमें मित्र वरुण का वीर्य डाल दिया गया था, उनके उत्पन्न होने की बात कही गई है, इस पहेली को सुलझाने में हम पुरातत्वविज्ञान और मानव विज्ञान का उपयोग तो कर ही सकते हैं। हल बहुत सरल है : बात यह है कि स्वयं कुंभ ही मातृदेवी है, बावजूद इसके कि यह शब्द पुल्लिंग है। यह तो ज्ञात ही है कि प्रागैतिहासिक काल में, जबकि चाक और पुजोत्पादन का चलन नहीं हुआ था, मृद्भाडों (मिट्टी के बरतनों) का निर्माण महिलाएं करती थीं। आज भी, भारत में, हाथ के बने या कुम्हार के चाक पर चढ़े मिट्टी के बरतन औरतें ही गढ़ती हैं, और उन्हें चिकना करते हैं मर्द, डंडों और पत्थर की निहाई के सहारे। लेकिन, जहां तक मुझे पता है, भारत में, किसी औरत को तेज चाक पर काम करने नहीं दिया जाता। इसके अतिरिक्त, ये पात्र सामान्यतः मातृदेवी के ही प्रतीक स्वरूप होते हैं जिसकी अभिव्यक्ति के लिए इन पर अलकारों, आलों या कंठहारों के नमूने खोद या रंग दिए जाते हैं अथवा, मूर्तिबोध की पूर्ति के लिए, वस्तुतः कुछ अंग जोड़ दिए जाते हैं। संस्कृत भाषा पर ऐसे अंग परिवर्धन की छाप पड़ी रह जाने का प्रमाण है कि, स्काच बोली के लग शब्द के समान, संस्कृत का कर्ण शब्द कान के साथ-साथ पात्र के हत्थे का भी वाचक है। रामायण के राक्षस कुंभकर्ण के कान, संभव है, घड़े की मूठों के समान रहे हों। किंतु, कर्ण जिनके अंत में लगा है ऐसे तो और भी बहुतेरे प्राचीन नाम हैं, उन्हें गण चिह्न माने बिना स्पष्ट नहीं किया जा सकता, उदा० जतुकर्ण, वृषकर्ण मयूरकर्ण, ममुरकर्ण, खर्जूरकर्ण (तुल०-काशीका, पाणिनि 4.1.112 और गणपाठ)।

मातृनामानि कहे जाने वाले अथर्ववेदीय सूक्तों से प्रतीत होता है कि अप्सरा सामान्यतः मातृदेवी है। बदस्तूर मिलीजुली, परवर्ती परंपरा तो और भी प्रबल प्रमाण है। लक्ष्मी, अफ्रडाइटी के समान, समुद्र से उत्पन्न हुई। उसका नाम है रमा, मा और लोकमाता (लोकमाता, तुल० अमरकोश 1.1.29)। अतः वह एक मातृदेवी है। सच पूछिए तो मातृदेवी तो उन सभी देवियों को होना चाहिए जिनके नाम में मा प्रत्यय लगा हुआ है : उमा, रुमा, रुशमा इत्यादि। लेकिन लक्ष्मी मूलतः अप्सरा है, सिर्फ इस लिए नहीं कि वह समुद्र से उत्पन्न हुई है, कुछ और भी वजह है। बावजूद इसके कि वह एक देवी है, विष्णु-नारायण की पत्नी, वह समुद्रजात दानव जालंधर की बहिन भी है (स्कन्द पु० 2.4.8, 2.4.14-12)। जालंधर पादप देवी तुलसी वृंदा का पति था जिसकी कहानी का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। प्राचीन परंपरा और आधुनिक तीर्थयात्रियों के विश्वास के अनुसार, वृन्दावन की मूल अवस्थिति कृष्ण की जन्मभूमि गोकुल के अंतर्गत मथुरा में थी। वृंदा की उपासना विधि कृष्ण की पूजा से स्पष्टतः भिन्न और प्राचीनतर है। अतः कृष्ण नारायण से तुलसी वृंदा का विवाह हर साल रचाने का जो धार्मिक रिवाज है वह एक पशुचारण देव पूजा में एक मातृदेवी पूजा के आत्मसात कर लिए जाने के क्रम में काफी आगे चलकर शुरू हुआ। इसमें संदेह नहीं कि दो नितांत भिन्न समाजों के विलयन के परिणामस्वरूप दो विभिन्न पूजा-पद्धतियों के घुलमिल कर एक हो जाने के पूर्व तक, कृष्ण की बहुसंख्यक पत्नियां, हैरा-

कलीज की अनगिनत पत्नियों, रखेलिनो तथा यदा-कदा बलात्कृत अप्सराओ के समान, स्वाधिकारयुक्त मातृदेविया ही रही होगी।

पकी मिट्टी की ऐसी लघुमूर्तियों का हवाला हम पहले दे चुके हैं जिनसे साबित होता है कि आर्य पूर्व सिंधु घाटी में मातृदेवी पूजा की प्रधानता थी। अब मेरा सुझाव है कि मोहजोदड़ो का विशाल स्नानागार (चित्र 2.10) आनुष्ठानिक पुष्कर है। यह विचित्र भवन नगर से अलग एक दुर्ग स्तूपाकार टीले पर अवस्थित है। जब हम देखते हैं कि यहा हौज को पानी से भरने मे कितनी जद्दोजहद उठानी पडी है तब अनुमान होता है कि इस भवन को उपयोगिता की दृष्टि से हरगिज नहीं बनाया गया होगा। न तो इसमें कोई संगतराशी है न सजावट ही, किंतु हौज के चारो तरफ कमरे बने है जिनमें उस युग की अप्सरा देवी के जीवत प्रतिनिधि, साथी, या सेवक निवास करते होंगे। जलदेवियों (अप्सराओ) के लिए जल परमावश्यक होने के कारण, उनके निमित्त ही इतने कठिन श्रम से पानी यहां खीचकर पहुचाया गया, अन्यथा यह नौबत ही नही आती। पुष्कर बडा ही ध्वनिपूर्ण शब्द है, बहुत-बहुत अर्थ है इसके जो एक दूसरे से असंबद्ध जान पड़ते हैं : सरोवर, कमल, नृत्य-कला, आकाश। पुष्कर की, और इससे एकदम मिलते-जुलते पुष्कल की भी, मूल धातु पुष है, जो उर्वरता, पोषाहार और प्रचुरता की द्योतक है। अतः इन सारे विचारों की शृंखला अप्सरा से संबद्ध है, हालाकि प्राचीन संस्कृत साहित्य मे उसका उल्लेख नर्तकी और हूरी (परी) के रूप मे ही हुआ है। धम्मपद अट्ठकथा 4-3 और जातक-465 की प्रस्तावना कथा के अनुसार, वैसाली के लिच्छवि गुट-तंत्रियों के पास एक विशेष, अतिरक्षित

2.7 पिउकिलओतिस का भारत यूनानी सिक्का, खरोष्ठी

पवित्र राज्याभिषेक पुष्कर था (अभिसेक मंगल पोक्खरणी)। लगभग 120 ई० में नहपान का दामाद (साला) उषवदात 'पोक्षर (सिच) तालाव' पर अभिषेक कृत्य सपन्न करने के लिए अपनी राह छोड बहुत दूर चल कर आया (ई० आई० 7, पृष्ठ 78, नासिक का पुरालेख)। अंगकोर वाट की कंबोडियाई अप्सरा नर्तकियां इस प्रकार चित्रित है कि उनके एक हाथ मे कमल पुष्प है तो दूसरे में कमल का बीजकोश, पहला पुष्कर का प्रतीक है तो दूसरा स्पष्टतः उर्वरता का प्रतीक। कितनी पुरानी है यह परंपरा, इसका अदाजा पिउकिलओतिस (चित्र 2.7) के भारत यूनानी (इंडो-ग्रीक) सिक्के से लगाया जा सकता है जिसमें पुष्करवती नगर की कमल किरीटधारिणी संरक्षिका देवी को, जिसका नाम अंबि (मातृदेवी) है, हूबहू उसी भाति चित्रांकित

किया गया है। शतपथ ब्राह्मण 7.4.1.11 में कहा गया है कि कमल पत्र (पुष्करपर्ण) गर्भाशय (योनि) है, और 13 मे यह कि पुष्कर कमल पत्र है। अत. वसिष्ठ के जन्म ग्रहण का वृत्तांत पूर्णत सगत है, विविधता केवल प्रतीको के प्रयोग मे है। गोत्रसूचियो मे एक नाम वसिष्ठो के पौष्करसादि गोत्र का भी है। यह गोत्र ऐतिहासिक है क्योंकि इस गोत्र का एक ब्राह्मण पुरोहित राजा पसेनदि (दीघनिकाय 4) का पुरोहित था, और इस नाम का एक वैयाकरण भी हो चुका है। पौष्करसादि का अर्थ है पुष्करसद का वशज, और 'पुष्करसद' वह है जो पुष्कर मे निवास करता है, अर्थात वसिष्ठ। इसी तरह कुडिन है, जिससे वसिष्ठों का एक गोत्र कौण्डिन्य निकला। मूलत. आर्य न तो कमल सरोवर हो सकता है न उसमें वसनेवाली अप्सरा। संपूर्ण भारतीय प्रतिमा शास्त्र मे कमल की मूल और विशिष्ट भूमिका क्या रही है यह स्पष्ट कर सकने के लिए यह समझ लेना जरूरी है कि आर्य पूर्व पूजापद्धतियो से इसका क्या सबंध था। कारण, आर्य वैदिक उपासना का केंद्रविंदु तो पावन अग्नि है। यह भी ज्ञातव्य है कि तीर्थ यात्रा के पवित्रतम स्थानो मे एक है 'पुष्कर' नामक तीर्थ। इसी नाम की एक जगह राजस्थान मे है। कहते है कि यही वह तीर्थ है। लेकिन, शायद ऐसी बात नही है, पुष्कर नाम था इसी तरह के प्राचीनतर कृत्रिम सरोवरों का। प्रत्येक हिंदू मदि के साथ एक पुष्कर का अनुलग्न होना एक आवश्यक रिवाज है, ऐसे इलाकों मे भं जो जल से परिपूर्ण है।

महाभारत के अनुसार, सौ कौरवो और उनकी बहन का जन्म सीधे उनरी माता गाधारी से न होकर घी से भरे कुभो (घड़ो) से हुआ जिनमे अविकसित भ्रूणों को रख छोड़ गया था। मार्के की बात है कि वेश्यावाचक कुभा शब्द, विश्वकोष के समान, अब भी शब्दकोशों मे देखने को मिल जाता है। मेसोपोटामिया की नक्काशी मे दिखाया गया है कि ईश्र अथवा उसका अनुचर एक कुभ पकड़े हुए है जिससे दो नदिया बह रही हैं। धारावही कुभ उर्वरता का एक प्रतीक है जैसा कि श्री आर० डी० बार्नेट ने बताया है। चूकि इस्तर की मेरी मूर्ति (चित्र 2.8) मे हम उसे कुभ पकड़े हुए देखते है, और ब्रिटिश म्यूजियम की मुद्रा 89762 मे दो नदियां उसके कंधो से निकलती दिखाई देती हैं इसलिए यह अनुमान ठीक जचता है कि कुभ उसकी विशेष उर्वरता का प्रतीक है, एक अत· गर्भाशय का द्योतक है और यह कि बाद मे पुरुष देवताओ ने उसकी जगह ले ली। विधुर पडित जातक (फाउसबाल 545) मे सफलता प्राप्ति का एक असाधारण नियम दिया हुआ है (गाथा 1307) वह यह कि जल से भरे कुभ को हमेशा हाथ जोड़कर सादर प्रणाम करना चाहिए। उदकुंभ (जलपूर्ण कलश) का ऋग्वेद मे तो कोई खास महत्व नही दिखाई देता किंतु गृह्यसूत्र मे, और प्रचलित परिपाटी मे, इसे अवश्य ही बड़ा प्रमुख स्थान प्राप्त है। उदाहरणार्थ, वर वधू के लिए यह आवश्यक है कि वे (विवाह मंडप मे) जल कुभ सहित पावन अग्नि की प्रदक्षिणा करें, हालांकि वैदिक देवता
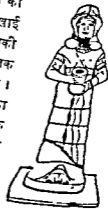
2 8 इस्तर की भारी प्रतिमा

तो अकेला अग्नि ही है, जल कुभ नही। अगर अग्नि को कतिपय ऋग्वेदीय अंत्येष्टि सूक्तो में संबोधित किया गया है तो जल कुभ को भी, जो मृत व्यक्ति की संपूर्ण जीवन यात्रा का प्रतीक बन जाता है, आधुनिक हिंदू दाह-संस्कार मे एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

जन्म और मृत्यु की देवी

कथा सरित्सागर 70-112 मे कुंभ या घट को स्पष्टत: गर्भाशय का समानार्थक कहा गया है। यह समानार्थकता इस रहस्य को स्पष्ट कर सकती है कि क्यो समस्त मातृ-देवियों का नवरात्र उर्वरता उत्सव आश्विन शुक्ल प्रतिपदा को घट स्थापना द्वारा शुरू किया जाता है। इस घट को ऐसी किसी भूमि में स्थापित किया जाता है जिसमे बीज धान्य खेतों के संवर्धनार्थ सावधानी से रोपा जाता है। उस पवित्र स्थान के गर्भगृह को सब प्रकार के खाद्य से अलंकृत किया जाता है। गावों में यही वह विशेष समय होता है जब देवियों को रक्तबलियां दी जाती है। इन नौ रातो मे पूजाकर्म प्रधानत: महिलाएं ही करती हैं, बावजूद इसके कि यह पूजा अब पुरुष पुरोहितों के हाथ मे चली गई है, जैसाकि अधिक लाभप्रद पूजा स्थलो मे हुआ करता है। पूजोत्सव की औपचारिक समाप्ति सरस्वती को दी जानेवाली बलि और उस देवी के विसर्जन से होती है (यद्यपि यह बलि, बहुधा केवल प्रतीकात्मक रूप से, आटे की ही होती है, फिर भी, इसे कहते तो बलिदान ही है। देश के अन्य भागों मे इसके समान अनुष्ठान अपने-अपने ढंग से संपन्न किए जाते हैं, जैसे, दक्षिण में वरलक्ष्मी पूजा। इस पूजा मे घडे को या तो देवी के चित्र या रूपहले मुखौटे से सजाते है, उसमे अनाज भरकर विधिवत उसकी स्थापना करते है, और पूजते है। अनेक छोटी जातियो मे यह तो असाधारण बात देखने मे आती है कि अंत्येष्टि संस्कारो तथा कुछ अन्य समारोहों मे कृत्य संपादन के लिए ब्राह्मणों के बदले कुम्हार बुलाए जाते है, उसका कारण यही है कि ऐसे अवसरों पर घट (कलश या कुभ) संबंधी विशेष कृत्य की प्रधानता हुआ करती है। उनके विशेष वाद्य और गीत सामान्यत: विवाह संस्कार के पूर्व विघ्ननिवारक अनुष्ठान के लिए अपेक्षित होते हैं, और कभी-कभी अपने विशेष प्रभाव से भूत-प्रेत को वश मे कर लेते हैं।

दक्षिण भारत के अनेक उत्सवों मे कुंभ आज भी मातृदेवी के प्रतीक रूप में पूजा जाता है। ऐसा ही एक उत्सव है बंगलौर का 'करगा'। यह 'तिगल' लोगों का विशिष्ट वार्षिक उर्वरता संस्कार है। तिगल लोग, जान पडता है, उत्तर अर्काट से आए हैं और इनका पेशा है बंगलौर के इर्द-गिर्द बाजार, बागवानी। पहले, घट को ढेरो पशुओ की बलि दी जाती थी, आजकल सिर्फ एक की दी जाती है, बाकी बलिया नीबू काटकर या भात आदि चढाकर की जाती हैं। अंतिम शोभायात्रा मे भाग लेने वालों मे प्रधान व्यक्ति (अर्चक, अर्थात पुश्तैनी तिगल पुरोहित) घट को अपने सिर पर धरे चलता है, लेकिन वेष उसका नारी का रहता है, उसकी पत्नी को पूरे उत्सव भर

मर्दों की दृष्टि से छिपकर रहना पड़ता है। हर घर से कम से कम एक तिगल प्रतिनिधि तेज तलवार से अपने को काटते हैं, लेकिन उस दिव्य परीक्षा में खून एक बूंद भी नहीं बहता। यह उत्सव, जो आर्यों का हरगिज नहीं है, पिछले महज 150 वर्षों में ब्राह्मणीकृत हो गया है, और अब यह सबद्ध है एक मंदिर से, जो ज्येष्ठ पांडव धर्मराज को समर्पित है और जिसमें देवी के रूप में धर्मराज की पत्नी द्रौपदी प्रतिष्ठित है। पवित्र घट की अंतर्वस्तुओं[16] में मुख्य होता है सोने का ताबीज, जिसे देवी की शक्ति कहते हैं। एक सहायक ब्राह्मण पुरोहित (संप्रति श्री वेंकटराम वाडियर, जिनसे मुझे ये ब्यौरे हासिल हुए) आजकल इस धार्मिक अनुष्ठान के गुप्ततम कृत्य में भी उपस्थित रहते हैं। अनुष्ठान एक सायबान में सपन्न किया जाता है जिसमें दो तिगल रहते हैं, एक तो तिगल पुरोहित, जिसका जिक्र ऊपर किया जा चुका है, दूसरा वह तिगल जो शोभायात्रा के आगे-आगे चलता है। स्वभावतः ये गुप्त संस्कार प्रकट नहीं किए जाते, किंतु यह संपूर्ण उत्सव स्पष्टतः महिलाओं का धार्मिक अनुष्ठान है जिसे पुरुषों ने हथिया लिया है। ज्ञातव्य है कि यद्यपि तिगल लोग नीची जाति के हैं तथापि बंगलौर का प्रत्येक मंदिर अपने देवता की प्रतिनिधि मूर्ति उक्त अंतिम शोभायात्रा में पीछे-पीछे चलने के लिए भेजता है और, कुल मिलाकर, इसे परम प्रभावोत्पादक स्थानीय उत्सव कहा जा सकता है। अछूतों का ऐसा ही उत्सव दो महीनों बाद होता है. वास्तविक 'करगा' की समाप्ति नौ दिन के अनुष्ठान और समारोह के बाद चैत्र पूर्णिमा को होती है। त्रिघट ही 'करगा' है, आजकल इसका निर्माण कोई तिगल नहीं बल्कि एक पेशेवर कुम्हार करता है। लेकिन, फिर भी, यह जरूरी है कि इसका निर्माण एक खास कृत्रिम पोखर की तलछट से किया जाए, इसे चाक पर नहीं बल्कि हाथ से बनाया जाए, और पकाया न जाए बल्कि धूप में सुखा लिया जाए। अंतिम शोभायात्रा की समाप्ति पोखर में करगाघट के विमर्जन से होती है, हां, पुजारी यह अवश्य करता है कि द्रौपदी की प्रतीकस्वरूप सोने की शक्ति को चुपके से बचा लेता है ताकि अगले साल फिर काम आ सके।

मृत्यु के विषय में ऋग्वेद में दो भिन्न प्रकार के विचार हैं। इस वेद के 10.14, 10.18 और 10.35 में कई सुभिन्न अंत्येष्टि संस्कार उल्लिखित है। ऋग्वेद की प्राचीन भावना यह है कि मृत्यु का अर्थ है निद्रा की गोद में जाना, ऐसी दीर्घ निद्रा जिससे फिर जगना नहीं होता। इंद्र द्वारा मारे गए बहुतेरे दानव इसी शाश्वत निद्रा में निमग्न हो गए। वसिष्ठ सूक्त 7.55, लगता है, एक अंत्येष्टि सूक्त के रूप में शुरू हुआ, आगे चलकर यह लोरी में बदल गया। तदनुरूप, हड़प्पा के कब्रिस्तान एच० के निचले स्तर में विस्तीर्ण शवाधान मिले हैं। मृत व्यक्ति शांति की गोद में सो गए है, कब्र के सामान और घड़े, जिनमें कभी निश्चय ही सुधारस 'सोम' रहा होगा, उनके साथ ही गाड़ दिए गए हैं। निस्संदेह यह कब्रिस्तान आर्यों का है, और यह नगर वही 6.27.5-6 का 'हरियूपीया' है, हालांकि यहां जिस युद्ध का उल्लेख है वह उस संघर्ष का भी द्योतक हो सकता है जो इस नगर की प्रथम आर्य विजय संबंधी धावों में आर्य आक्रमणकारियों के

दो युगों के बीच हुआ हो। लेकिन, जब हम कब्रिस्तान एच० के उपरले स्तर पर पहुंचते हैं तब शवाधानों का स्वरूप अचानक बदला हुआ पाते हैं। यहां मृत व्यस्क केवल कलशों में ही अवशिष्ट हैं जिनमें उनके अवशेष शव के जला दिए जाने या शिकारी पक्षियों द्वारा नोच खाए जाने के बाद डाल दिए गए हैं। इस प्रथा का उल्लेख सभी प्रमुख कर्मकांड ग्रंथों में है, जैसे, आश्वलायन, कात्यायन इत्यादि के ग्रंथ और उस कलश को, जिसमें हड्डियां सुरक्षित हैं, विनिर्दिष्ट रूप से कुंभ कहा गया है। यह स्थिति उस भावना के अनुरूप है जो मृत्यु के विषय में आगे चलकर ऋग्वेद में व्यक्त की गई है (1.164.32, सेमातुर्योना परिवीतोअंतर्बहुप्रजा निर्ऋतिं आविवेश), अर्थात, मृत्यु का मतलब है माता के गर्भाशय में लौट जाना, और यह बात कब्रिस्तान एच० से स्पष्टतः प्रमाणित हो जाती है जहां मृत शिशु घड़े में दबे पड़े मिले हैं। जाहिर है कि इस तरह बच्चों के शरीर अपनी परवर्ती मासल वृद्धि सहित, सीधे मां के पास वापस भेज दिए गए, उन्हें जलकर भस्म होने या सड़ गलकर कीड़ों का आहार बनने की नौबत ही नहीं आई। आगे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि घड़ों पर सितारों जैसे अलंकरण आंखों के प्रतीक हैं, लेकिन इसके लिए और भी प्रबल प्रमाण अपेक्षित है। संयोग से, हम ऐसी स्थिति में हैं कि पश्चातवर्ती हड़प्पा कब्र मृदभांड के एक विशिष्ट अलंकरण को स्पष्ट कर सकें, अर्थात मोर के उस चित्र को (2-9) जिसमें
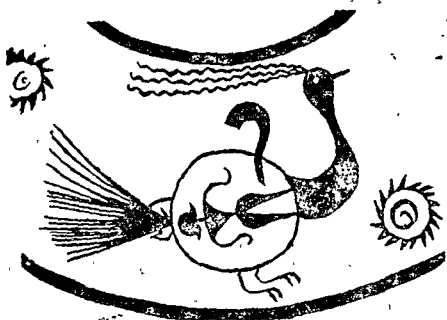
2.9 हड़प्पा के मिट्टी के कलश पर चित्रकारी

उस बिंब के भीतर, जो उक्त पक्षी के शरीर का द्योतक है, लेटी हुई मुद्रा में एक मानव आकृति अंकित है। अगर यह आकृति बैठी हुई या खड़ी मुद्रा में होती तो उसे कोई देवता समझ लिया जाता। लेकिन यहां तो पड़ी मुद्रा है जिसमें ऐसे अनुमान की कोई गुंजाइश नहीं। तब, रहस्य क्या है? महाभरत में एक प्रसंग है (1.85.6) जिसमें स्थिति स्पष्ट हो जाती है। वहां पक्षियों तथा कई प्रकार के कीड़ों द्वारा, लेकिन खास-कर मोरों (शितिकंठों) द्वारा, मृतकों के खाए जाने की बात कही गई है, जिससे निश्चय होता है कि मोर के भीतर की आकृति मृत व्यक्ति की है। मोर वैसा कोई मामूली पक्षी नहीं है जो सड़ा गला मांस खाता है, अतः उसकी अपनी एक विशिष्ट पवित्रता रही होगी, जिसकी पुष्टि इस बात से होती है कि वह नदी, वाणी और मातृ देवी सरस्वती का सहचर, अतएव गणचिह्न है। उसके शितिकंठ नाम से जाहिर है कि वह भयानक देवता रुद्रशिव से संबद्ध है और स्कन्द का वाहन भी है।

कुछ और आगे चलकर, यथा, शतपथ ब्राह्मण 13-8-3-3 में, स्वयं पृथ्वी ही माता बन जाती है जिसकी गोद में हड्डियों कुंभ से उंडेल दी जाती हैं, फिर भी, मूल माता अथवा कम से कम उसके गर्भाशय का द्योतन तो कुंभ से ही होता रहा। अतः यह स्पष्ट है कि वसिष्ठ और अगस्त्य को जो कुंभज (कुंभ से उत्पन्न) कहा जाता है वह सिर्फ इस बात का आर्य भाषांतर मात्र है कि वे किसी आर्य पूर्व या अनार्य मातृ देवी से उत्पन्न हुए थे। यहां वास्तविक परिवर्तन यह घटित हुआ कि पिता का अभाव ही माता के नितांत इंकार में बदल गया, जो स्पष्टतः एक ऐसा मार्क्सवाद प्रतिपक्ष है जिसे ग्रहण करना मातृसत्ता का पितृसत्ता में संक्रमण होने के कारण आवश्यक हो गया। आखिर, आर्य कोई प्रजाति न होकर जीने और बोलने का एक खास ढंग ही तो है। निष्कर्ष यह कि हड़प्पा के आर्य समूहों में शवदाह का आम रिवाज नहीं था, जैसा कि वहां के विस्तीर्ण शवाधानों की प्रथमस्थानीयता से झलकता है, और यह कि गर्भाशय में वापसी का खयाल उन्होंने बाद में अपने कतिपय पूर्ववर्ती शत्रुओं से अर्जित कर लिया, जिनके अवशेष, विजय के बाद, अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण उपायों से आत्मसात कर लिए गए, बशर्ते कि यह दूसरी निशानी आर्य आक्रमणकारियों के एक दूसरे धावे की द्योतक न हो। हम यह सीधे साबित नहीं कर सकते कि यहां, प्राचीनतम प्रक्रम में, मृद्भांड निर्माण पर भी महिलाओं का ही एकाधिकार था, अथवा यह कि उर्वशी उषा एक कुम्हारिन थी। लेकिन कर्मकांड पात्र तो आगे भी, चाक के बिना, पुरोहित के हाथों ही निर्मित होते रहे, जैसा कि शत० ब्रा० 14 1.2.7 में एवं आगे कहा गया है, और यह रिवाज भी जारी रहा कि जिस खनित्र (फावड़े) से मिट्टी खनी जाती है उसे संबोधित करते हुए पुरोहित कहता है 'तू स्त्री है', जिसका प्रमाण है शत० ब्रा० 6.3.1.39। मेरा खयाल है कि यह उस युग की बात है जब कृषि के लिए) खोनना और मिट्टी के बरतन बनाना, दोनों औरतों के ही काम थे। मातृदेवी अपने पुत्र के लिए भाग्य का पट बुने, और सिए या उस पर कसीदा काढ़े (यथा 2.3-2 4, सीव्यत्वपः सुच्याछिद्यमानया में राका), यह परम स्वाभाविक है।

ऐल पुरुरवा की उत्पत्ति की कहानी से यह साफ जान पड़ता है कि परवर्ती काल में भी मातृदेवी पूजा की प्रथा बची रह गई। वह (ऋग्वेद की) एक प्रमुख देवी इला का पुत्र है, और मा० भा० बताता है कि इला उसकी माता भी है और पिता भी। पुराण आख्यान है कि इला का लिंग परिवर्तन हो गया, मातृदेवी पार्वती के एक पवित्र कुज में, जहां पुरुष का प्रवेश वर्जित था, प्रवेश करने के कारण मनु का पुत्र इला नारी बन गया। महाराष्ट्र के प्रायः प्रत्येक ग्राम में मातृदेवी का अपना कुज होता है, जो आजकल सामान्यतः क्षीण होकर झुरमुट भर रह गया है, हालांकि अभी भी कहीं-कहीं उसकी शोभा देखते ही बनती है (जैसे, येडसा के निकट कान्हे में), किंतु वहां पुरुष का प्रवेश अब वर्जित नहीं रह गया है ऐसे स्थान संसार के अन्य भागों में भी मिलते है, उदाहरणार्थ ग्रट्टांगो[17] में, जहा अगर कोई पुरुष अनेजाने भी वहन संघ के घर में प्रवेश कर जाता है तो उस नारी रूप में दाखिल कर लिया जाता है और तत्पश्चात उसे नारी रूप में ही जीवन यापन करना पड़ता है। मगर यह महज इधर के जमाने की बात नहीं, ऋग्वेद तक में ऐसे दाखिले का स्पष्ट उल्लेख है, हालांकि उसका अर्थ पौराणिक प्रपंच के चलते दुर्बोध हो गया है (यूनानी ऋषि टैरीसियस के संबंध में भी शायद ऐसा ही हुआ है)। 8-3 -19 मे कहा गया है :

अधः पश्यस्व मोपरि सतरां पादकौ हर
मा ते कशप्लकौं दृपन स्त्री हि ब्रह्मा वभूविथ।

'नीचे ताक, ऊपर नहीं, अपने पैरों को मिलाकर रख, तेरा नितंब दिखाई न पड़े, क्योंकि हे पुरोहित, तू अब नारी बन गया है।' अब इससे ज्यादा साफ और क्या कहा जाता ? इससे (एवं पूर्ववर्ती ऋचाओं से) स्पष्ट है कि एक पुरुष पुरोहित को नारी रूप में दीक्षित किया गया है और उसे तदनुरूप आचरण करने का उपदेश दिया गया है। और यह मामला आर्यों का हरगिज नहीं हो सकता, क्योंकि उनका पूर्ववृत्त चाहे जो भी रहा हो, ग्रामीण आक्रमणकारियों और लुटेरों के उनके कांस्ययुगीन युद्धशील जीवन में मातृदेवी का कहीं कोई स्थान नहीं है। निष्कर्ष यह कि ऋग्वेद प्रमाणित करता है कि एक आर्य पूर्व संस्कृति धारा को आत्मसात कर लिया गया, और वही ब्राह्मणवाद का स्रोत और उद्गम है। मातृदेवी के एकांत स्थान में पुरुष के प्रवेश पर प्रारंभतः जो निषेध लगा हुआ था, बाद में उसी को उलटकर कालिदास ने अपने नाटक में उर्वशी के रूपांतरण की बात रख दी। आज भी कतिपय अपेक्षाकृत गौण देवताओं, जैसे, वेताल, बापूजी बावा, और कहीं-कहीं कार्तिक स्वामी (स्कन्द), के पास जाना महिलाओं के लिए मना है।

ऊपर उद्धृत ऋचा ऋग्वेद के कण्व मंडल की है। वैदिक क्षेत्र में कण्वों का प्रवेश, कश्यप के समान ही, बाद में जाकर हुआ, हालांकि परवर्ती ब्राह्मण परंपरा[18] में कश्यप का स्थान अपेक्षाकृत बहुत ऊंचा है। कण्व नारद के विषय में कई पुराणों में कहा गया है कि एक पवित्र सरोवर में स्नान करने से वे नारी बन गए, चिरकाल तक नारी रूप में रहने के बाद, एक बार और डुबकी लगाने पर पुरुषत्व उन्हें पुनः प्राप्त

हो गया। अथर्ववेद से लेकर आगे तक उद्धृत संबोधित होने के कारण, नारद स्पष्टतः महामुनि और महर्षि हैं, तथापि महाकाव्यों में उन्हे गंधर्व कहा गया है। बौद्ध अभिलेखो के अनुसार वे और पब्त देवता है; एक नारद ब्रह्म हैं तो दूसरे नारद एक पूर्ववर्ती बुद्ध। सबसे महत्वपूर्ण तो यह है कि अनुक्रमणी में उन्हें और उनके भाई या भतीजे 'पर्वत' को ऋ० वे० 9.104 का संयुक्त द्रष्टा कहा गया है, किंतु विकल्प से इसका श्रेय दो शिखंडिनियो, अप्सराओ, कश्यप की पुत्रियो को दिया गया है। इस प्रसंग में भीष्म की कहानी का स्मरण किया जाए, जिसमे बताया गया है कि उस महावीर का वध एक शिखडिनी के हाथो हुआ, जो स्त्री से पुरुष बन गई थी, तो हम शेष चिह्नो से पहचान सकते है कि मातृदेवी पूजा पद्धतियों, अप्सराओ और मानव बलि की परंपरा के विषय मे पुराणकथा की कितनी मोटी परत पड़ी हुई है।

शकुन्तला के 5वें अंक के अंत मे, एक ज्योति आकृति उस विलाप करती हुई नायिका को घेरकर अप्सरा तीर्थ ले जाती है। उसके अगले ही अंक के प्रारंभ मे अप्सरा सानुमती (या मिश्रकेशी) उस तीर्थ से निकलकर नायक को देखने आती है। आनुष्ठानिक अभिषेक स्नान के समय मनुष्यो से संग साहचर्य की उसकी बारी अभी-अभी समाप्त हुई है, 'जाव साहुजनस्स अभिसेअकालो'। यहा कालिदास ने मूल उर्वशी आख्यान को सीधे उलटकर विक्रमोर्वशीयम को एक दूसरे नाटक के मुकाबले मे रख दिया है जिसमे अप्सरा नायिका (जिसके नाम का अर्थ है पक्षियों की देवी) नायक द्वारा अस्वीकृत कर दी जाती है। मोहनजोदाडों का विशाल स्नानागार (ग्रेट बाथ) संभवत ऐसे तीर्थो का आदि रूप था, न कि 'जल चिकित्सा प्रतिष्ठान', जैसा कि नितात प्रातिवश मार्शल ने सर्वत्र माना है, और (मानवी) अप्सराओ से सहवास उक्त कर्मकांड का एक अंग था। सिंधु घाटी का यह रिवाज मेसोपोटामिया की उस कर्मकांडीय देवदासी वेश्यावृत्ति के सदृश है जो इश्तर के मंदिरों मे प्रचलित थी।

तुलना के लिए उपयोगी और विचारोत्तेजक सामग्री अभीष्ट हो तो राबर्ट ग्रेव्ज कृत द ग्रीक मीथ्स (2 जिल्दो मे, पेंग्विन बुक्स, सं० 1026-7, लंदन 1955) द्रष्टव्य है जिनमे लेखक ने यूनानी उपाख्यानों का अद्भुत संक्षपण और निर्वचन प्रस्तुत किया है। हीरा यद्यपि जअस को ब्याही थी तथापि उसकी कोख से जन्मे बच्चे जीअस के बीज से नही थे। वस्तुतः जिन स्टिम्फेलियन पक्षिडाकिनियो का विनाश हर्क्युलीज के एक भगीरथ प्रयत्न का उद्देश्य था, वे हीरा की पुजारिने थी। उनकी एक अटूट शृंखला है, पक्षिपाद साइरेन और हार्पीगणों से लेकर ट्राय 1 के एक पट्ट पर अंकित उलूकमुखी नारी तक, जो अभी हीरा या पैल्लस अधीनी नहीं बन पाई थी। हीरा की पूजा बच्चो, दुलहन और (हमारी तुलसी की तरह) विधवा के रूप में होती रही, और कैनयस के झरनो में समय-समय पर स्नान करके वह अपना कौमार्य पुनः प्राप्त करती रही। इसका सीधा मतलब है अपने पार्थिव पति की, संभवतः अपनी मुख्य पुजारिन के अस्थाई पति की, बलि के बाद संस्कार विधिपूर्वक शुद्धि। उसी प्रकार, ऐफ्रोडाइटी भी, पेफस से परे, समुद्र मे स्नान द्वारा अपना कौमार्य वापस पाती रही, और अर्चीना

तथा आरटमिस तो बराबर कुमारी ही बनी रही। इसके बावजूद, विभिन्न स्थानों में आर्टिमिस को पहले एक 'पति' की बलि तो दी जाती ही थी, और स्पार्टा में तो यह रिवाज रहा कि साल में एक बार लड़कों को तक तब कोड़े लगाए जाते थे जब तक उनके शरीर से रक्त निकलकर उस देवी की मूर्ति को तरबतर न कर दे। ऐक्टीग्रन को उसी के कुत्तों ने फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया क्योंकि उसने उस देवी को नंगी देख लिया था। ऐकाइसीज यह जानकार संत्रस्त हो गया कि एक देवी (एफ्रडाइटी) को रातभर प्रेम करने के बाद उसने नंगी देख लिया था, अतः उससे प्राणदान की याचना करने लगा। उर्वशी से पुरुरवा की प्राणदान याचना भी ठीक ऐसी ही है, शतपथ में उसके
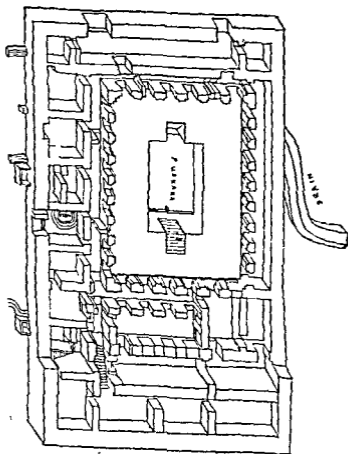
2 10 मोहन जोदड़ो का 'महास्नानागार, पुष्कर का क्षेत्र फल
39" | 23" है।

बारे में जो आख्यान है उसमें सिर्फ मूल कारण को उलट दिया गया है, कहा गया है कि पुरुरवा ने निषेध व्रत इस तरह तोड़ दिया कि उर्वशी को वह नंगा दिखाई दे गया। आदिम निषेध तो इसी बात को लेकर हो सकता है कि वह देवी नंगी न देखी जाए।

दंडनीय वह है जो इस निषेध का अतिक्रमण करे, अतः बलिदान द्वारा लोगों की दृष्टि से ओझल होना पुरुरवा को है न कि उर्वशी को। प्रमाणस्वरूप तीर्थ का उल्लेख तो ऋ० वे० और श० ब्रा० दोनों में है, जहा उर्वशी हंस के रूप मे प्रकट होती है, जिससे पूर्वोक्त पक्षीदेवियो का स्मरण हो जाता है। एथेन्स मे, बालिकाएं विन्टेज उत्सव के अवसर पर एरिगोन के देवदारु की शाखाओं पर झूले डालकर झूला करती थी, इससे समझा जा सकता है कि क्यों, इहलीला समाप्ति के ठीक पूर्व, पुरुरवा को उर्वशी आतरिक-प्रक्षा के रूप मे दिखाई दी थी (ऋ० वे० 10.95.17)। उस (देवी) का आसमान मे ऊंची पेंगे भरना भी उस आनुष्ठानिक उर्वरता बलियज्ञ को उतना ही आवश्यक अंग था जितना गायन और नृत्य।

ऊपर जो कौमार्य की पुनः प्राप्ति की चर्चा की गई है उसकी पुष्टि इस बात से होती है कि तीर्थ विशेष मे स्नान करने से नारद रूपातरित होकर नारी बन गए। दक्षिण मे अभी तक जिन लोगो पर ब्राह्मण सस्कार हावी नही हो पाए हैं, अत. जिन्होने अपने प्राचीन कर्मकाड का परित्याग नही किया है, उनके बीच कन्नीर-अम्मा या तन्नीर अम्मा नाम से जलदेवियो (अप्सराओ) की जीवन्त नेतिमूर्तियों की पूजा आज भी प्रचलित है। पितृसत्ता के बलात प्रविष्ट हो जाने से, पवित्र राजा के बलिदान की प्रथा का तुरत अंत ग्रीस मे भी कही हुआ, नही। पहले तो वीरनायक के बदले किसी प्रतिस्थानी की बलि दी जाती रही, तत्पश्चात शायद प्रतीकात्मक पुतले या गणचिह्न (टोटेम) प्राणी प्रतिस्थापित होने लगे। किंतु, कुछ स्थितियो मे, प्रधान पुजारिन को हटाकर स्वयं सरदार को ही नकली स्तन और जनाना वस्त्र धारण करके हर्मफ्रिडाइटस का रूप धरना पडता था। अत., नारद उस सक्रमणकाल के ऐसे ही कोई व्यक्ति रहे होंगे। यहा की बात सीधे वहा चली गई हो इसका कोई प्रमाण यूनानी पुराण कथाओ मे उपलब्ध नही है, उदाहरणार्थ, वहा इंद्र जैसा कोई देवता नही है। औरेनम वरुण उभयनिष्ठ है, सभवतः ये दोनो मूल देवी उरअन्ना के ही विकास प्राप्त पुल्लिग रूप मे है। उरअन्ना मेसोपोटामियाई देवी है, पर्वत की देवी हमारी दुर्गा के समतुल्य जिसकी समता उर्वशी से नही की जा सकती। ईओस ने यह एक पर एक ओरायन सेफैलस क्लीटस गैनिमीड टिथोनस इत्यादि न जाने कितने-कितने प्रेमियों को लुभाया-बहकाया (जैसा कि इश्तर ने किया) और फिर भी अतृप्त रही। ईओस व्युत्पत्ति की दृष्टि से उषा से तुलनीय भले हो, किंतु है वह टाइटन नारी, अत. हेलेन-पूर्व ही। उसकी उगलिया सिर्फ गुलाबी थी, जबकि हमारी देवी की निश्चय ही नर-रक्त से लाल रही होगी। हित्ती हेपित को वह ऊंचा दर्जा नही मिला जो फिलिस्तीन हव्वा मे ईव को दिया गया, उसे तो सिर्फ हीबी अर्थात ओलिम्पियन देवताओ की साकी बनाया गया। अपना लिए गए बाहरी देवता जिनके मानव अनुयायियो की संख्या पर्याप्त बडी नही होती, सामान्यत कम प्रतिष्ठा के अधिकारी होते हैं। ऊपर जिन सादृश्यों का उल्लेख किया गया है उनके बने रहने का सही कारण एकमात्र यही है कि दोनों सभाओ में समरूप संक्रमण घटित हुआ, मातृसत्ता पर क्रमश. पितृसत्ता हावी हो गई।

अब यह बहुत कुछ स्पष्ट प्रतीत होता है कि जलती चिता पर अपने पति के शव के साथ किसी विधवा के सती हो जाने की जो बहुचर्चित प्रथा है उसका मूल कहा है। यूनानी पुराणकथा के अनुसार, पर्सीअस की बेटी गार्गाफोन प्रथम विधवा थी जिसने अपने पति की जलती चिता में प्रवेश न करके पुनर्विवाह कर लिया। सतीदाह की प्रथा मातृसत्तात्मक परंपरा के दबा दिए जाने से ही चली होगी, और संभवतः यह दमन एक चेतावनी या सावधानी के तौर पर प्रवर्तित किया गया होगा कि उक्त परंपरा छुपके से फिर पनपने न पावे। स्मरणीय है कि दोनों प्रकार के समाज में, साधारण कबीलेवालों के बीच समूह विवाह ही प्रचलित था कि सरदार का पवित्र विवाह। अतः 'पति' द्योतक है किसी सरदार या पवित्र राजा का, जिसने मुख्यतः किसी स्थानीय प्रधान पुजारिन (पुरोहितानी) या रानी से बाजाब्ता विवाह करके (दो विभिन्न प्रकार के सभाओं के मेल से बने नए समाज पर) प्रभुसत्ता का हक हासिल कर लिया हो। अगर तब पति की मृत्यु हो गई तो यह संदेह करने का पर्याप्त कारण था कि पत्नी ने ही पति को मार डाला, फिर पुराना कर्मकांड अमल में आ गया। सती प्रथा चलाई गई न केवल इस उद्देश्य से कि ऐसा पलटाव न होने पावे बल्कि इसलिए भी कि पुरानी बलि प्रथा में एक विचित्र उलटाव आ जाए, अर्थात नारी को ही चिता चढ़कर पति के साथ स्वर्ग जाना पड़े, और इस प्रकार दिवंगत नायक के लिए परलोक में भी सुख-सुविधा का सामान हो जाए। मगर तब भी, खुद सती का वही दर्जा नहीं है जो कि मृत नायक के साथ ही बलि चढ़ा दिए जाने वाले उसके घोड़े, धनुष, सर्वांगकवच और साज-सज्जा का, क्योंकि सती होते ही वह देवी बन जाती है और खुद उसकी पूजा होने लगती है। ऋ० वे० 10.85.44 एक प्राचीन विवाह सूक्त है जिसका पाठ अब भी प्रचलित है, इसमें वधू को सीख दी गई है: अ-पति घनी एधि मति को मारने वाली मत बन। इस उत्तम उपदेश के बाद इंद्र से स्तुति की गई है कि वधू के दस पुत्र हों और तब ग्यारहवां बन जाए उसका पति। तो, इस उक्ति का सही अर्थ तो ऐसे ही समाज के संबंध में लग सकता है जिसने इस तथ्य को बिलकुल न भुला दिया हो कि एक समय था जब पति की देवबलि तो होती थी, मगर पुत्र की हर्गिज नहीं।

उर्वशियां क्रमशः लुप्त हो गईं, फिर भी, इस बात का श्रेय तो उन्हीं को है कि परवर्ती लोकप्रिय देवियों का विवाह प्रधान देवताओं के साथ शांतिपूर्वक संपन्न हो गया। मौर्यकाल के पूर्व जब व्यापार समाज और नगदी अर्थव्यवस्था का जोर हुआ तब उर्वशियों की ही जीवंत प्रतिनिधियों ने ऐसा रवैया अपनाया जो वाणिज्य वेश्या-कर्म बन गया। मार्के की बात है कि अर्थशास्त्र (2.22.2.27) में जिन प्रौढ़ा, वृद्धा, राज्य नियंत्रित वेश्याओं का उल्लेख है वे अपने साथ सहयोग वाली युवतियों के लिए संरक्षिका और पर्यवेक्षिका स्वरूप थी और उनकी उपाधि थी मातृका, जिसका प्रयोग मातृदेवियों के लिए होता है। भारत के अल्पतम आर्यीकृत भागों में प्रचलित मंदिर पूजाओं से संबद्ध अपवित्र संस्थाओं के संचालन के लिए भी वे ही जवाबदेह हैं। और

आखिरी बात यह कि उर्वशियों से ही दो प्रमुख ब्राह्मण गोत्र उत्पन्न हुए, वसिष्ठगण और अगस्त्यगण। कुभज ऋषि अगस्त्य के विषय में ऋ० वे० 1.179-6 में यह जो कहा गया है कि उभौ वर्णौ पुपोष, दोनों वर्णो का पोषण किया, इसका मतलब है आर्य और अनार्य दोनो प्रजातियों का पोषण न कि ब्राह्मणादि दो वर्णों का, कारण अगस्त्य दोनो के थे और उनके सूक्तों से इन दोनो प्रजातियो के बीच समझौते का स्वरूप साफ जाहिर है। गहन और क्रमबद्ध पुरातत्वीय खोजो से ही यह विनिश्चित किया जा सकेगा कि अगस्त्य का दक्षिण में प्रवेश महज मनगढंत पुराण कथा है अथवा ऐसा तथ्य जो सतों की विशाल महा पाषाण समाधियों से कुछ संबंध रखता है।

अध्याय 2 संबंधी टिप्पणियां

1. कार्ल मार्क्स, कैपिटल, 1.1 4, मूल्य पर कोई व्याख्यात्मक बिल्ला लगा नही होता। उलटे, मूल्य सभी श्रम उत्पादो को सामाजिक चित्रलिपियों मे बदल देता है। बाद मे लोग इन चित्र-लिपियो का अर्थ निकालने का प्रयास करते हैं, ताकि उनकी अपनी सामाजिक उत्पाद विषयक पहेली हल हो सके, क्योकि भाषा ही के समान मूल्य का विनिर्देश भी एक सामाजिक उत्पाद है। जे० व्ही० स्तालिन (भाषा-विज्ञान मे मार्क्सवाद), सोवियत लिटरेचर, 1950, 9-पृ०5-31 भी तुलनीय।

2 ए० बी कीथ 'द रिलिजन एड फिलासाफी आफ द वेद एड उपनिषद्स,' हार्वर्ड ओरि-एटल, जिल्द 31-32, कैंब्रिज, मास, 1925, पृ० 183।

3. मैक्समूलर चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप (लदन 1868), जिल्द२, रयसंस्क०, पृ० 117 पन्ने, विशेषत- पृ० 130

4 आर० पिशेल और के० एफ० गेल्डनर, वेडिशे स्टूडिएन जिल्द 1, स्टट्गार्ट, 1889, पृ० 243-295। एतत्पश्चात, ऋग्वेद के निर्देश पूर्गवर्ती सकेताक्षर 'ऋ० वे०' साथ या बिना सूचित किए जाएगे।

5. उर्वशी और पुरुरवा के रूप से अग्नि मथक के लिए तुल० शत० ब्रा० 3 4.1 22, अग्नि मथक और किसी मानव प्रजनन के लिए, देखें बृहदारण्यक उपनिषद् 6 4 22 तथा अन्य स्थल।

6. इस टिप्पणी के प्रथम प्रकाशन के बाद से कुछ अन्य पहलुओ की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया गया है। किंतु मै उन्हे वैसा कोई महत्व नही दे सकता। ए० एस्टेल्लर एस० जे०, ने व्यक्तिगत चर्चाओ मे मुझे यह यकीन दिलाना चाहा कि प्रसगाधीन सूक्त मे रहस्य की कोई बात नही है। शब्दो, चरणों और श्लोको का महज क्रम बदल देने और वैकरनेगेल (Wackernagel) कृत देह्न स्गंसेज (Dehnungsgesety) के आधार पर यत्र-तत्र सशोधन कर देने से सारी कठिनाइया दूर हो जाती हैं। उर्वशी ने अपने पति को छोड़ दिया, इसकी वजह महज यह थी कि वह उसे रोज तीन बार पीटा करता था, पत्नी की पिटाई भारत मे कोई असामान्य बात नहीं है। किंतु मुझे तो अब भी ऋग्वेद का असशोधित पाठ ही ग्राह्य है। प्रो० हेराल्ड ने, शीर्षक का गलत उद्धरण देते हुए, इसें मात्र आर्यो के समूह विवाह की एक घटना माना है। इसके लिए कोई प्रमाण पेश नही किया गया है, (सभवत) किसी (मार्क्सवादी) सिद्धात के तकाजे से ही वे ऐसे निष्कर्ष पर पहुच गए हैं।

7 ऋ० वे० 10-14-18 और 135 का अभिप्राय केवल यही हो सकता है कि वे विभिन्न प्रकार की बहु प्रक्रम अत्येष्टियो मे गाए जाने के लिए हैं। दीर्घ और जटिल विवाह सस्कार के सभी

प्रक्रमो का अनुसरण 10. 85 मे हुआ है, किंतु यह पूरा का पूरा सूक्त किसी एक ही व्यक्ति द्वारा गेय नही है, क्योंकि वर को स्वयं कुछ छदों का पाठ उत्तम पुरुष मे करना है। जहां तक सवाद की बात है, 10-10 (यम-यमी), 10. 108 (सरमा और पणि) करीब-करीब निश्चय ही अभिनेय थे, सभवत 3-33 (विश्वामित्र और यमल नदियां), 1. 165, 1. 179, 4 42 तथा कुछ अन्य भी।

8. समुद्र के कामविषयक के लिए, तुलना करें तुग्जाते वृष्णय, पम. परिदाय सरदुहे (ऋ० वे० 1. 105-2) और 1. 126. 6 में उल्लिखित यादुरी पर सायण का भाष्य, साथ ही, जे० ज्वायस कृत फिनेगन्स वेक का 'अन्ना लिविया प्लूराबेल' शीर्षक अध्याय।

9. महाभारत, 5. 187 39-40 के अनुसार, अम्बा अपने आधे शरीर से नदी बन गई। बताया गया है कि यह नदी वत्स देश मे प्रवाहित थी, घड़ियालों से भरी, एक पहाड़ी टेढ़ी-मेढ़ी नदी जो यात्रियो के लिए खतरनाक (दुस्तीर्था) थी। इन सारे ब्योरों के ऐसा प्रतीत होता है कि गंगा के मैदान मे इलाहाबाद से ऊपर कोई नदी मौजूद थी जो मातृदेवी अम्बा की प्रतीक स्वरूप थी। इससे यह सबक मिलता है कि शासो द रौला के आधार पर शार्लमैन का अथवा सौंग ऑफ बेलैंड या ड्रीम आफ मैक्सेन व्लेडिग के आधार पर थी। थिओडोशीअस और मैक्सिम के समय रोम का इतिहास लिखना उतना कठिन नहीं है जितना हमारे महाकाव्यों की मुख्य कथाओं से किसी इतिहास को उपलब्ध करना। अनुमान तो यहा तक किया जा सकता है कि मूल आख्यान आर्य पूर्व नाग लोगों से प्राप्त हुए और बाकी बचे लोगों के साथ ही इनका भी आर्यीकरण हो गया। ऐसा कहने का कारण है : बौद्ध आख्यान मे, और अन्यत्र सस्कृत में भी, धृतराष्ट्र महज एक नाग हैं, और राजधानी हस्तिनापुर को अक्सर नागपुर कहा गया है। अश्वत्थामा (मैगास्थनीज द्वारा उल्लिखित प्राचीन भारतीय राजा स्पतेम्बस), परपरागत पुराण आख्यान वाले किसी नाग के समान अपने ललाट में एक मणि धारण करता था, यह मणि जब उससे बलात छीन ली गई, तभी युधिष्ठिर को प्रभुसत्ता प्राप्त हो सकी। जिन पवित्र नागों की कल्पना की जाती है उनके मणिधर होने का विश्वास आज भी प्रचलित है।

10. बृहद्देवता से कहा गया है कि सूर्या, सरण्यु और वृषाकपायी तक उषा ही के प्रकार हैं (बृ० दे० 2. 10. 7. 120-21)। वाणी की देवी वाच को वहां दुर्गा, सरमा, उर्वशी, अतरिक्षवासिनी यमी के बराबर (2. 79-80 मे उषा के बराबर माना गया है। उर्वशी की व्युत्पत्ति उरुवासिनी के रूप में की गई है (2. 5. 9)। उत्तर वैदिक काल के ऐसे भाष्यों की समन्वयवादी प्रवृत्ति का भरसक पूरा लिहाज रखते हुए, एक बात स्पष्ट है कि कुछ ऐसा था जो इन देवियों मे सर्वनिष्ट था। वे मातृदेवियां थी, यही एक बात है जो उनमे समान रूप से रही होगी। सरमा तथा जिनके नाम के अत मे 'मा' लगा है ऐसी अन्य सभी देवियों के सबध में अमरकोष, जो बाद की रचना है, स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करता है, 1. 1. 28 . इदिरा लोकमाता मा क्षीरोदतनया रमा।

11. कीथ ने 'टैसिटस' के अपने पाठ मे जो छोड़ दिया है वह हमारे लिए विशेष महत्व का है। मैं उसे 'पेंग्विन क्लासिक्स' में प्रकाशित एच० मैटिंग्ली के अनुवाद मे यहा उद्धृत कर रहा हूं : 'उनकी विशिष्टता है कि वे सभी 'नर्थस' या धरती माता के उपासक हैं। उनका विश्वास है कि लोक कार्यव्यापार मे उसकी अभिरुचि और उनके लोगों के बीच से उसकी सवारी गुजरती है। सागर के एक द्वीप मे एक पवित्र कुंज है और उस कुंज में एक गाड़ी खड़ी रहती है जिस पर एक ओढ़ार पड़ा रहता

है। जिसे पुरोहित के सिवा दूसरा कोई नहीं छू सकता। उस पवित्रतम स्थान में पुरोहित को उस देवी की उपस्थिति अनुभवगम्य है, जब मवेशी उसकी सवारी को खींचे लिए चलते हैं तब पुरोहित अत्यंत श्रद्धा-भाव से उसकी सेवा में तत्पर रहता है। तदुपरांत, जहा-जहा वह देवी पहुंचकर, ठहरती है, वहा-वहा आमोद-प्रमोद का बाजार गर्म हो उठता है। युद्धप्रसंग में कोई नहीं जाता हथियार कोई नहीं उठाता, लोहे की हर चीज तालाबद हो जाती है, बस तभी, सुख और शांति का सम्यक ज्ञान और मान होता है, और जब वह देवी जनसमाज से परितृप्त हो जाती है तब पुरोहित उसे अपने मदिर में पुन प्रतिष्ठित कर देता है। उसके बाद उस गाडी को, उस ओहार को और, आप मानिए न मानिए, स्वय उस देवी को एक एकांत सरोवर में धोकर साफ किया जाता है। यह सेवा गुलामों से कराई जाती है जिन्हें ठीक उसके बाद उस सरोवर में डुबा दिया जाता है।' टिप्पणियां, 'नर्थस' भारतीय 'निऋ'ति'. मृत्यु देवी के तुल्य है, पवित्र कुज, पावन सरोवर और गुलामों का बलिदान, ये सब बड़े अर्थपूर्ण हैं, लोहे की सभी चीजों को तालाबद कर देना शायद पाषाण युग या कास्य युग का द्योतक है, सभवत पाषाण युग हो। 'आमोद-प्रमोद' से तात्पर्य है नर्थस-जोई उत्सव में कम से कम सामुदायिक नृत्य तो अवश्य ही और शायद कुछ उच्छृंखल पूजा कृत्य भी।

12. ऋग्वेद 4. 2 18 में, उर्वशियां निश्चय ही ऊषाए हैं, जैसाकि सन्निहित छदों मे, खास कर 16 और 19 मे, इन ऊषाओं के प्रति निर्देश से जाहिर है।

13. क्याक्रम से यह स्पष्ट है कि यहा सुपर्णी का मतलब सूर्य रश्मिया नहीं है, जैसा कि सायण तथा बहुतेरे नैमित्तिक अनुवादकों ने समझा है, कारण सूर्य का उदय अगली ऋचा तक नहीं होता, अत. उत्तरोत्तर ऊषाए ही तात्पर्यित हो सकती हैं।

14. ऋ० वे० 14-2-14, समूह विवाह के विषय में, ऋग्वेदीय सस्कार विधि की स्पष्ट अनुपूर्ति करता है: 'ओ पुरुषो, यह लो, इस (स्त्री) में बीज वपन करो,' 17वीं ऋचा में यह आशा व्यक्त की गई है कि वधू 'पतिहना नहीं' होगी, और इसके बाद वाली ऋचा में यह कि वह देवृकाम होगी। समूहपरक साक्ष्यों की भरमार है।

15 'इश्तर', किसी अप्सरा के समान, जलाशय की देवी भले न हो मगर वह, उषा के समान, महनीय माता, चिरकुमारी, और गणिका भी है। उसका प्रतीक है अष्टशृंग तारा। इसको भोर का तारा, शुक्र ग्रह माना गया है, जिसके योग से उसका साहचर्य उगते और डूबते सूर्य से होता है। ज्ञातव्य है कि सस्कृत में शुक्र पुल्लिंग है। फिर, अगर यह मान लिया जाता है कि बेबिलोनिया में इश्तर की गाडी में लाल बैल जोते गए थे तो लाल बैल (5 80 3), जो उषा की गाड़ी खींचते हैं, महज भोर के रंगों के रूपक नहीं हो सकते। अमर्त्य देवियां तो दोनों हैं, लेकिन, पूर्ववर्ती उषाओं की तरह 'पूर्ववर्ती इश्तरों' का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। भारतीय उषा देवी बार-बार जन्म ग्रहण करती है जो मेरे विचार से, एक मानव प्रतिनिधि द्वारा एक तथ्य की अभिव्यक्ति है, अन्यथा, मृत्यु के बिना पुनर्जन्म की कल्पना न तो सभव है न आवश्यक ही। इसका मिलान अधोलोक में इश्तर के अवतार से अवतरण से नहीं किया जा सकता, उसकी सही तुलना तो है वरुण के धाम से उषा का दीर्घकाल तक गायब रहना (ऋ० वे० 1. 123 8, दीर्घम् सचन्ते वरुणस्य धाम), जिसे अजीबोगरीब तौर से तोड़-मरोड़कर तिलक यह दूर की कौड़ी ढूंढ लाए हैं कि आर्यों का मूल निवास उत्तरध्रुव प्रदेश था।

। घट के भीतर कुछ अन्य वस्तुएं भी रहती हैं: नीबू, पाचों पाडवों के प्रतीकस्वरूप थोड़ा

जल, और थोड़ा सा नारियल का पानी। ताज्जुब है कि अतर्वस्तुओं मे नारियल का पानी भी शामिल है। और इससे भी आश्चर्यजनक बात यह कि नारियल, जिसका व्यापक चलन वराहमिहिर के समय के बाद तक नही हो पाया होगा, आज वस्तुतः प्रत्येक ब्राह्मण कर्मकांड मे किस कदर महत्वपूर्ण हो रहा है! कैसे ऐसा हुआ? मुमकिन है, केशगुच्छ, कठिन पटल (कड़ी खोपड़ी), आंखें, खाई जानेवाली गिरी (जो अक्सर टुकड़े करके प्रसाद स्वरूप बांटी जाती है), और पानी, इन सबसे युक्त नारियल के छिलकेदार फल का कर्मकांड घट से सादृश्य ही कारण स्वरूप रहा हो। उर्वरता पूजाओं मे रक्त-बलियां देने का रिवाज जब उठ गया तब इतने-इतने प्रतीकों की सहज गुंजाइश वाला नारियल ही ऐसा पदार्थ था जो सर्वोत्तम बलि बन सकता था। 'माउरी' लोग नारियल मे किसी मारे गए प्रेमी के सिर की कल्पना करते है (पीटर बक टे रंगी हिरोआ . वाइकिंग्स आफ द सनराइज, (पृ० 312)। भारत मे भी, नारियल की जटा और खोपडी पर तीन काले निशान (जिनमे से एक को हाथ की उंगली से दबाकर उतनी ही आसानी से फोड़ा जा सकता है जितनी नारियल के वर्धी अंकुर से) बड़े मजे से क्रमशः केश, आंखों और मुंह के प्रतिरूप बन जाते हैं।

17. आर० ब्रिफाल्ट : 'द मदर्स', (लंदन 1927) जिल्द 2, पृष्ठ 531-536, 550 और अन्यत्र। ब्रिफाल्ट की जबर्दस्त प्रमाणयुक्त और प्रेरणाप्रद तीन जिल्दों वाली किताब से यहा और सीधी सहायता नही ली जा सकी, महज इस वजह से कि पहले जिन बातों को विशुद्ध आर्य भारतीय संस्कृति का अंग माना जाता था, वे पुरातत्व विज्ञान की खोजों के परिणामस्वरूप आर्य पूर्व स्थिति का बहुत सारा ब्योरा हासिल हो जाने से, निराधार सिद्ध हो चुकी हैं। ब्रिफाल्ट अपनी कृति मे ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत नहीं कर सके हैं तो इसके लिए उनकी अपेक्षा उनके सूचना स्रोत कही अधिक दोषी हैं। उक्त विश्लेषण के अभाव मे उनका मुख्य कथ्य दूषित नही हुआ है सही फिर भी यथाप्रसग, उनके कतिपय विस्तृत निष्कर्षों को भलीभांति परखे बिना सीधे उठाकर रख देना खतरे से खाली नही है।

18. कश्यपों का स्थान ऋग्वेद में तो नगण्य है, लेकिन ब्राह्मण ग्रंथो के समय तक उन्होंने इतनी प्रतिष्ठा अर्जित कर ली थी कि अपनी जाति मे ऊंचे गिने जाने लगे थे। जैन और बौद्ध आख्यानो मे उनका उल्लेख जिस रीति मे हुआ है उससे जाहिर है कि ई० पू० छठी सदी मे उत्तर प्रदेश और बिहार मे वे विशेष रूप से गण्यमान्य थे। महावीर को, जो निश्चय ही क्षत्रिय थे, कश्यपगोत्री कहा गया है। वैसे ही, गौतम के पूर्व के तीन (कल्पित) बुद्ध भी कश्यप ही थे, (दीघनिकाय 14)। दैवज्ञ (भविष्य) 'असित देवल' शिशु गौतम के विषय मे यह सोचकर आंसू बहाता है कि यह बच्चा तो बड़ा होकर बुद्धत्व प्राप्त करनेवाला है; अफसोस कि मैं ही तब तक जीवित नहीं रह पाऊंगा। परंपरा, जो बिलकुल ऐतिहासिक जान पड़ती है, कहती है कि बुद्ध और सम्राट अजातशत्रु के समय मे 'पूरणकश्यप' एक तपस्वी उपदेशक के रूप मे प्रसिद्ध था। स्वयं बुद्ध ने जिन लोगों का धर्मपरिवर्तन सम्पन्न किया था उनमे सबसे अधिक अनुयायी तीनों कश्यप बंधुओं के थे। बुद्ध के देहावसान के बाद बौद्धों की प्रथम परिषद महाकस्सप ने बुलाई थी, जिससे बौद्ध मठ व्यवस्था (भिक्खु संघ) का नेतृत्व वस्तुतः उनके हाथ में होने का प्रमाण मिलता है।

चतुष्पथ पर मातृदेवी-पूजास्थलों का अध्ययन

समस्या

मृच्छकटिक वस्तुतः एक लोकप्रिय नाटक है, जिसके रचयिता शूद्रक हैं। इसमें घटना और क्रिया का सिलसिला एक अंधेरी रात में एक विचित्र कृत्य से शुरू होता है। नाटक का नायक चारुदत्त एक निर्धन किंतु पुण्यशील ब्राह्मण सार्थवाह है। उसने अपना संध्या-वंदन अभी-अभी समाप्त किया है। प्रथम अंक के आरंभ मे, वह अपने विदूषक ब्राह्मण मित्र मैत्रेय से अनुष्ठान की परिपूर्ति में सहायता देने का अनुरोध करता है : कृतो मया गृहदेवताभ्यो बलिः, गच्छ त्वमपि चतुष्पथे मातृभ्यो बलिम् उपहर। 'मैं गृह-देवताओं को बलि (अन्न की भेंट) दे चुका हूं, तुम जाकर चतुष्पथ (चौराहे) पर माताओं को (यह) बलि भेंट करो। इस सरल अनुरोध के अनुवर्तन से आगे चलकर नायिका वसंतसेना का, अपहरण से, उद्धार हो जाता है। कथानक के विकास की बात यहीं छोड़कर अब हम विवेचन प्रस्तुत करते हैं कि वह धार्मिक कृत्य क्या था।

अनाम मातृदेवी को दी जाने वाली बलि पक्वान्न पिंड (पके हुए अन्न का पिंडा) थी। यह बलि प्रदान रात्रि के आरंभ मे करना था, लेकिन यह जरूरी नहीं था कि बल प्रदान करने वाला व्यक्ति ही उसे चौराहे पर धरे, यह काम उसकी ओर से कोई दूसरा व्यक्ति भी कर सकता था। बहरहाल, प्रसंग से यह जाहिर है कि जिस स्थान का निर्देश किया गया है वह एक दूसरे को काटने वाली शहर की दो सड़कों से बना चौराहा न होकर, नगर से बाहर, राजमार्ग का चतुष्पथ है। चौराहे पर बलि भेंट करने के बारे मे उक्त नाटक मे या अन्यत्र टीका-टिप्पणी का अभाव साफ बतलाता है कि यह उन दिनों, जिस समय का यह नाटक है, एक मामूली धार्मिक कृत्य या अनुष्ठान था। नायक के रचनाकाल का तो ठीक निश्चय नहीं है, किंतु इतना तय

है कि मृच्छकटिक के प्रथम चार अंक, लगभग हूबहू, भासकृत (दरिद्र) चारुदत्त से ले लिए गए हैं। पूर्ववर्ती नाटक मे आवश्यक (और निसंदेह मौलिक) ब्यौरा दिया हुआ है कि चारुदत्त चांद्र मास (के कृष्ण पक्ष) की षष्ठी तिथि को देवपूजा कर रहा था : सट्ठी किद देवकय्यस्स। दोनों नाटकों में, चंद्रमा का उदय कुछ विलब से होता है, प्रथम अंक के अंत में, ठीक ऐसे समय, जब कि घर जाती हुई नायिका का पथ प्रकाशित हो जाए, जबकि नायक का दिल यह देखकर भर आता है कि उसके दारिद्रयग्रस्त घर मे तो चिराग के लिए तेल तक नदारद है। यहां मृच्छकटिक का पाठ है सिद्धी-किद, किंतु भाष्यकार पृथ्वीधर ने एक पाठांतर सूचित किया है जिसका अर्थ है षष्ठी वृत-कृत। दिया गया अनुदेश चतुष्पथे मातृभ्यो बलिम् उपहर, दोनों नाटकों में एक समान है। अत. (भास विषयक विवाद मे हम क्यों पडें ?) हमारी यह धारणा सही है कि उक्त रिवाज गुप्तकाल के पहले का है। यह व्यापक रूप से प्रचलित और साधारणत. विदित था। इसलिए, आश्चर्य होता है कि उक्त अनुष्ठान-विशेष का उल्लेख ब्राह्मण धर्मग्रंथों मे कही नही मिलता है, हालाकि अन्यथा उनमे ऐसी सावधानी बरती गई है कि किसी भी गृहपूजा का एक-एक ब्यौरा दिया हुआ मिलता है।

मनुस्मृति (3.81.92) मे दैनिक वैश्वदेव अन्नबलियो का पूर्ण वर्णन दिया हुआ है। एक पिंडा विशेष रूप से पित्तरों को, अर्थात पितृपक्ष के दिवंगत पुरुष पूर्वजों की आत्माओं को दिया जाता है। इस क्रम मे आखिरी पिंडा कुत्तो, चंडालों और पूर्वजन्म मे किसी पाप के दंडस्वरूप असाध्य रोग से पीड़ित पापात्माओं के निमित्त जमीन पर धर दिया जाता है। मातृदेवियों के समूह का उसमें कोई उल्लेख नहीं है, पितृदेवो के बारे मे भी नही, और चौराहो (चतुष्पथो) के बारे में तो कोई जिक्र तक नहीं। पी० व्ही० काणे कृत संक्षिप्त धर्मशास्त्र का इतिहास (हिस्ट्री आफ द धर्मशास्त्र)[1] में साध्य अन्नबलि का पूरा ब्यौरा दिया हुआ है (2.745 एवं आगे), किंतु उसमें उक्त कृत्य विशेष का निर्देश नही है, 2.217-8 मे मातृदेवियों तथा उन्हे दी जाने वाली बलि का उल्लेख हुआ तो है लेकिन बहुत मामूली, सरसरी तौर पर, मानव-विज्ञान के प्रति सामान्यत: उपेक्षा का भाव रखने वाले इस लेखक के ग्रंथ में ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

जाहिर है कि साहित्यिक स्रोत इस विषय पर कोई खास प्रकाश नहीं डाल सकेंगे। बाण ने एक जगह लिखा है . निशास्वपि मातृ-बलि पिण्डस्येव दिक्ष विक्षिप्य-माणस्य (हर्षचरित, एन० एस० पी० संस्क० पृष्ठ 223), इससे यह अनुमान होता है कि चारुदत्त ने जैसा किया वैसा कोई धार्मिक कृत्य 7वी शताब्दी के आरंभ मे भी प्रचलित और सुविदित था यहा चौराहो का कोई उल्लेख नहीं है, मातृदेवियो को दिया जाने वाला पिंड बाहर फैले रात के अंधेरे मे सभी दिशाओं में फेंक दिया जाता है। वराहमिहिर की बृहत्संहिता मे भी प्रतिमाशास्त्र, भविष्य कथन और शकुन विचार के बारे में तो पूरे विस्तार से कहा गया है, किंतु उससे प्रसंगाधीन विषय पर कोई प्रकाश नही पड़ता। वराहमिहिर सिर्फ यह बतलाते हैं (बृ० 58-56) कि मातृदेवियों में

जिसका नाम जिस देवता के नाम का स्त्रीलिंग रूप हो उसमें उस देवता के गुण आरोपित किए जाएं, यह व्यवस्था वैदिक पितृसत्तात्मक परंपरा में है जहां मातृदेवी, प्रधान न होकर महज पुरुष देवता के साथ लगी छाया जैसी है। विशिष्ट पुरोहितों को ही (वृ० 60-19) मण्डल-क्रम, अर्थात मातृदेवियों के मंडल के संस्कार ज्ञात थे। राजतरंगिणी (1.122, 333-5,348, 3.99, 5.55, तुल० 8 2779 भी, मातृग्राम) से पता चलता है कि ऐसे मडल वस्तुत विद्यमान थे। वराहमिहिर के अनुसार, किसी घर या सड़कों के संगम, चौराहे के पास अवस्थित होना उसकी बदनामी का कारण होता था (वृ० 53-89)। वृ० 51-4 में, ऐसी अवस्थिति की गणना कब्रिस्तान या उजाड मंदिर से निचले दरजे की मनहूस जगहों में की गई है।

मातृकाएं (मातृदेवियां)

बावजूद इसके कि काणे इस विषय मे मौन हैं, एक ऐसी संस्कार विधि जरूर थी जो ऊपर उद्धृत नाटको के पहले प्रचलित थी और जो प्रस्तुत प्रसंग से संबद्ध जान पडती हैं। कीथ[2] के शब्दो में, अंतिम अष्टका (पूजा) के पहले वाली साझ के लिए एक विचित्र सस्कार-विधि मानव शाखा (संप्रदाय) द्वारा विहित है: (इसके अनुसार) बलि देने वाला एक गाय को चतुष्पथ (चौराहे) पर मारकर उसके टुकड़े करता है, और मास को मुसाफिरों मे बाट देता है।

अष्टकाएं घरेलू अंत्येष्टि बलिया हैं जो वर्ष में तीन या चार बार दी जाती हैं। आर्य कर्मकाड के सामान्य तात्पर्य के अनुसार, ये बलियां पानेवाले मुख्यत: पितरगण होते है। यों मातृकाओं के लिए तो स्वतंत्र रूप से बलि देने का विधान है, तो भी ऐसा लगता है कि उन्होने अपने लिए धीरे-धीरे पितरों की पत्नियों के रूप में जगह बना ली। अस्तु! विशेष बात तो है वह विलक्षण मानव धार्मिक अनुष्ठान जिसे कृष्ण पक्ष की षष्ठी तिथि को संपन्न होना था। यह स्पष्ट नही है कि इस अनुष्ठान का स्थान चतुष्पथ (चौराहा) ही क्यो और किसे चढ़ाने के लिए गाय की बलि, कि जिसके मास का हिस्सेदार हर मुसाफिर को होना था। यह बलि प्रेत-पिशाचों के लिए हो, यह मुमकिन नही, वैदिक चतुष्पथों, श्मशानों, जलाशयादि में विहार करने वाले प्रेतनाथ रुद्र का भी यहा कोई उल्लेख नही। रुद्र का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (2.6.2.9) मे भले हुआ है जहा उन्हे एक चतुष्पथ बलि के अवसर पर आमंत्रित किया गया है: 'अपनी बहन अंबिका के साथ इसे कृपया स्वीकार करें', यहा बल दिया गया है बलियो के संयुक्त स्वरूप पर, और दोनो को इकट्ठे त्र्यंबकः कहा गया है, हालाकि रुद्र स्वयं ही त्र्यंबक हैं। अंबिका का अर्थ है 'छोटी मा' और यह उन तीन बहनों मे से एक है जो त्र्यंबक की संयुक्त माताओ के रूप मे अन्यत्र उल्लिखित हैं। प्रबल अनुमान है कि 'मानव' बलि मातृकाओं को दी जाती थी, महज इसलिए नही कि वे पुरखिनें थी, बल्कि इसलिए कि वे स्वतंत्र देवियो के रूप मे प्रतिष्ठित थी और उन्हें तुष्ट करना आवश्यक था, हालाकि वैदिक पद्धति मे खुले तौर पर ऐसा कोई

विधान नही है । आगे दिए विवरण से यह सही जान पडेगा कि यह
के अनार्यों की थी जो आर्यों ने अपना ली । चतुष्पथ बलियां प
नामोल्लेख नही होने का यही कारण होगा, और यही वजह हो
आदिम प्रथाएं जो अधिकाधिक अंगीकृत होती चली गई तो उ
बावजूद इसके कि गृह्यसूत्रों में इसका कोई उल्लेख नही है, अनाय
अतत. इससे इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि (उक्त ब
चतुष्पथ (चौराहा) ही क्यों, जैसा कि इस टिप्पणी के अंति
गया है ।

यह असभव है कि मातृकाए महज आर्य पुरखिनें रही हो
से उनके जुड़े न रहने से साफ जाहिर है । इसके अतिरिक्त, सम्मि
की पुरानी परपरा[3] का वैदिक पितृ अधिकार से मेल नही बैठाया
ही होगा कि परम वैयाकरण पाणिनि को सम्मिलित (साझे की) म
मान्य था, अन्यथा पाणिनि 4 । 115 का अर्थ स्पष्ट नही हो स
अर्थ तीन आखों वाला, बाद की सूझ और व्याख्या है, वस्तुत: इ
माताओ वाला' । यद्यपि दैहिक दृष्टि से यह असभव प्रतीत हो
माताओं से जरासध के उत्पन्न होने की, और सम्मिलित रूप से
'जतु' के उत्पन्न होने की पौराणिक कथाएं तो इसी अकाट्य पर
करती है कि किसी एक शिशु के भी समान प्रतिष्ठा वाली अने
करती थी । इन पौराणिक कथाओ का उद्देश्य है उस मूल धारण
पर प्रकाश डालना जो आगे चलकर, जब समाज बिल्कुल बद
कल्पना सी प्रतीत होने लगी । जरासध के बारे मे तो यह निश्चि
राजगीर का ऐतिहासिक राजा था । (बिना किसी खास पिता के)
को समान रूप से जन्म देने वाली अनेक माताओ का अस्तित्व तो
पितृसत्तात्मक समाज की एक आदिम धारणा है, और आश्चर्य
अव्याख्येय धारणा ऋग्वेद तक में मौजूद है । किंतु वहां ऐसा विधा
माताओ को दिया जाने वाला पिंड चौराहे पर दिया जाए, कारण
वाली गार्ह्य बलिया विशेष देवताओं को और परिवार के पुरख
उक्त दोनों नाटकों मे जिन मातृकाओं का निर्देश है वे किसी प्रका
थी । लेकिन थी वे समूहबद्ध मातृदेवियां ही, जिनके व्यक्तिवा
नही है । अमरकोप 1.1.37 के अनुसार, उनकी नामावली ब्राह्मी
लेकिन भाष्यकार लोग इन नामों या इनकी कुल संख्या के बारे
पहले, वैदिक काल मे, इनकी सख्या तीन या सात अथवा, एक अ
अनुसार, सोलह थी । तीन की संख्या के लिए तो त्र्यबक ही प्र
चिर अविरत (? यही) सत्य (ऋत) की माताएं । कालातर में
बहुत अधिक हो गई । स्कंद की पुराणकथा में, जो कालिदास के

प्रथा मूलतः भारत
ने वालो का स्पष्ट
ी कि ब्राह्मणधर्म मे
त अनुष्ठान विशेष,
स मान्य हो गया ।
लिया देने की जगह)
म अंशों मे बताया

, जैसा कि पितृदेवों
लत रूप से मां होने
जा सकता । मानना
ाताओं का अस्तित्व
केगा । त्र्यंबक का
सका अर्थ है 'तीन
ता है, तो भी, दो
क सौ माताओं से
परा की ओर इंगित
कानेक माताएं हुआ
ा और वास्तविकता
ल गया, ऊटपटांग
चतप्रायः है कि वह
किसी एक ही शिशु
कई किस्म के प्राक्-
तो यह है कि यह
न नही है कि ऐसी
ंध्या समय दी जाने
ों को दी जाती हैं ।
र की स्वतंत्र देवियां
चक नाम निर्दिष्ट
से शुरू होती है ।
में एकमत नही हैं ।
ौर प्राचीन सूची के
ाण है और सात हैं
यह संख्या पूर्वापेक्षा
असमाप्त या अपूर्ण

कुमारसंभव की कथावस्तु है, दो प्रक्रमों को संयुक्त कर दिया गया है। तरुण देवता स्कंद को (गंगा नदी की मध्यस्थता से) सम्मिलित रूप से छः माताओं (कृत्तिका तारावली) ने षडानन के रूप मे जन्म दिया, एक-एक सिर प्रत्येक मां के स्तनपान के लिए। (इससे त्र्यंबक शिव के तीन सिर होने के कारण पर प्रकाश पड़ता है और यह निश्चय होता है कि मूलतः वे तीन आंखों वाले न होकर तीन माताओं वाले देवता रहे होंगे। प्रसंगतः मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक मुहर पर इन्ही के समान एक त्रिमुख देवता की छाप देखने में आई है। अनेक 'मातृकाएं' तथा अनेक सिर होने का रहस्य कई नदियों के साथ बहने से भी समझा जा सकता है।) स्कंद को (बैबिलन स्थित अपने ही आद्य रूप मर्दुक के समान) तारकासुर नामक उपद्रवी दैत्य को मारने का काम सौंपा गया था। स्कंद ने बेताल-पिशाचों से अपनी सेना खडी की। उसमे मातृकाएं भी सम्मिलित हो गईं, वे नही, जिन्होने उसे जन्म दिया था, बल्कि अन्यान्य हजारों जिनमें से कोई 192 की नामावली महाभारत के शल्य पर्व के (प्रचलित पाठ के) 46वें अध्याय मे दी हुई है। इनमें से तीन नाम विशेष ज्ञातव्य है। एक सह मातृका है चतुष्पथ निकेतना, अर्थात चौराहे पर बसने वाली, दूसरी का नाम है चतुष्पथ रता, अर्थात चौराहे पर आसक्ति वाली। इनसे भी बढकर महत्वपूर्ण है पूतना। इसी नाम की एक दानवी ने गोकुल मे शिशु भगवान कृष्ण को अपने जहर लगे स्तन का दूध पिलाकर मार डालने का प्रयत्न किया था किंतु कृष्ण ने उसके ही प्राण दुह लिए। नामुमकिन है कि यह नाम महज एक सयोग[1] हो, क्योकि इन साथी मातृकाओं को भयानक तेज दात और नख, बाहर निकले होंठ, इत्यादि दानवियों के सारे विशिष्ट लक्षणों से युक्त, साथ ही, चिरयौवना सुदरियों के रूप मे वर्णित किया गया है। उनकी एक दूसरे से भिन्न अपनी-अपनी भाषा थी, जिससे साफ जाहिर है कि उनका उद्भव विविध जनजातियों से हुआ था। अतः, तत्संबंधी पूजा पद्धतिया तो निस्संदेह आर्यों से पहले की थीं, हां, यह अवश्य है कि वे आत्मसात्करण की प्रक्रिया से गुजर रही थी। ऐसा जान पडता है कि मातृकाओं को उनके शिशु स्कद के जरिए वश मे करना कहीं आसान था बनस्वित इसके कि बेतरह विपरीत पितृसत्तात्मक पूजा पद्धतियां उन पर थोप दी जाती। अतः यही वह विशेष प्रयोजन था जिसके लिए स्कंद को आविष्कृत किया गया।

यह सारा आख्यान-व्याख्यान फिर भी इस माने में अपर्याप्त है कि इसमें ऐसी कोई विशेष बात नही जिससे इस प्रश्न का समाधान हो सके कि पूजा बलि चतुष्पथ (चौराहे) पर ही क्यों। इस संबंध मे जो भी व्याख्या प्रस्तुत की जाए उसमें उक्त स्थल (चौराहे) का खास लिहाज तो रखना ही होगा, साथ ही, नामधारी या बेनाम मातृकाओं की संख्या मे अतिशय वृद्धि का भी।

क्षेत्रीय शोधकार्य से प्राप्त जानकारी

बाण की रचना और कथासरित्सागर इत्यादि के अनुशीलन मे यह आसानी से जाहिर हो जाएगा कि मातृदेवी पूजा उत्तरोत्तर जोर पकडती गई। लेकिन, मेरा ख्याल है कि

ऐसा अनुशीलन प्रस्तुत धार्मिक कृत्य पर उतना तीव्र प्रकाश नहीं डाल सकेगा जितना कि क्षेत्रीय अनुसंधान। यहा हम कुछ उदाहरण पेश करने जा रहे है जो महाराष्ट्र से प्राप्त है, कारण, अन्यत्र उतने व्यापक क्षेत्र मे और उतने व्यौरे के साथ अनुसंधान संभव नही हो सका है। सारभूत बातों के बारे में ऐसी ही जानकारी देश के अन्य बहुतेरे भागो मे उपलब्ध हो सकती है, आशा है, कुछ पाठकगण उसे संगृहीत करेंगे।

मातृदेविया असंख्य है, बहुतो का उल्लेख वर्गबद्ध या समूहबद्ध रूप से ही हुआ है, खास नाम से नही। उनमें प्रमुखतम है मावलाया, जो अप्सराएं (जलदेविया) है और जिनका उल्लेख सदैव बहुवचन मे ही होता है। उनका प्रसार 'मावल' और पाउन मावल' नामक दो तालुकों मे है। उनके नाम का अर्थ है लघु माताएं। उत्तरपद आया का अर्थ भी माताएं ही है, अतः इस नाम में उक्त अर्थ की पुनरावृत्ति है। यह नाम उक्त इलाके मे दो हजार वर्ष से भी पहले से ज्ञात है, क्योंकि कार्ले स्थित चैत्य गुफा के मुहरे[5] पर जो सात वाहन अधिकारपत्र उत्कीर्ण है उसमें मामाल-हार और मामळे उल्लिखित हैं, जिससे यह जाहिर होता है कि उस प्रदेश मे जो मातृदेवी पूजा प्रचलित थी उसी से उसका नाम मावल पड गया। गढी हुई मूर्तियों जैसी उनकी कोई प्रतिमाएं नही है, उनके प्रतीक है सिंदूर लगे बहुतेरे अनगढ छोटे-छोटे पत्थर, या तालाब के किनारों पर, या चट्टान पर, या पानी के समीप किसी पेड़ पर लगे लाल निशान। उक्त दोनों तालुको के परे उनकी प्रसिद्धि साती आसरा (सात अप्सराएं) के रूप में हैं, हालांकि यह जरूरी नही कि वस्तुतः उनकी संख्या सात ही हो। इसी तरह, बहुत से गांवों मे लक्ष्मीआई देवी भी लाल लेप वाले अनगढ़ पत्थरो के ढेर के रूप में प्रतिष्ठित है, जिससे जाहिर है कि विष्णु की सुदर पत्नी लक्ष्मी से उसका कोई सरोकार नही। उसकी पूजा उस लक्ष्मी की पूजा का बिगड़ा हुआ रूप नही है जो मराठी मे रखुमाई कहलाती है और जिसकी प्रतिमाएं, अपने पति विठोबा या पाडुरंग के साथ, मंदिरो में खुदी हुई हैं। यह विशेष बात है कि पंढरपुर में, जो विट्ठल पूजा का प्रधान स्थल है, उक्त लक्ष्मी का विठोबा मंदिर में स्थान न होकर अपना अलग मंदिर है, और वह स्वतंत्र रूप से पूजी जाती है। इस विलगाव के बारे मे जो आख्यान है वह बाद मे गढ लिया गया है। फिर, आर्थिक दृष्टि से यह जो कहा जाता है कि अलग-अलग दो पूजाओं का विधान इस हेतु से है कि अनेक पुरोहितो की परवरिश हो सके, यह भी मूल कारण नहीं हो सकता। निश्चय ही, देवता-पति से रहित (जैसा कि अंत्य-पदआई से जाहिर है) मातृदेवी के रूप में लक्ष्मीआई की पूजा का विधान आरंभ से ही रहा होगा, पंढरपुर मे पहले स्वतंत्र रूप से वही पूजी जाती थी, पुरुष देवता तो यहां, संभवतः कन्नड़ प्रदेश से, बाद में आ जुड़े, जो आगे चलकर विष्णु रूप में पूजे जाने लगे। उसी प्रकार, महाराष्ट्र के एक प्रमुख ग्राम देवता खंडोबा और उनकी डरावनी 'पत्नी' म्हालसा के मंदिर भी सामान्यतः अलग-अलग ही हैं। यह सिद्ध करना कठिन नही है कि ऐसी दिव्य जोड़ियां कभी-कभी दो विभिन्न समाजों की पूजा-पद्धतियों के द्योतक ऐसे देवी-देवता से मिलकर बनी होती हैं जो पूर्वतर काल मे वस्तुत. एक

दूसरे के वैरी थे। अन्न संग्राहक लोग देवी की पूजा करते थे, उसमे देवता का प्रथम
आविर्भाव तो तब हुआ जब पशुचारण जीवन शुरू हुआ। इन मातृदेवियों का विवाह
उसी भांति परवर्ती संयुक्त समाज की एक वास्तविक घटना है, जिस भांति मानव
विवाह के वे प्रकार, जिनके बिना व्यक्तिगत मातृत्व और पितृत्व निरर्थक हो जाते हैं।

उक्त प्रदेश मे प्रत्येक गाव मे कम से कम एक मातृदेवी की पूजा प्रचलित
है। अक्सर ऐसी देवी का कोई खास नाम नही होता, वह सिर्फ आई, अर्थात माता
कहलाती है। कही-कही उसे, कुछ और इज्जत देने के लिए, अंबाबाई (मातृदेवी)
कहते हैं, जो संस्कृत नाम पद्धति के नजदीक है। इसी तरह के नाम लाडुबाई (प्यारी
देवी) और कालुबाई (कालीदेवी) भी हैं। इनके सिवा, कुछ बेतुके स्थानीय नाम भी
है जो अन्यत्र नही पाए जाते (हालांकि बाद में, कुछ ब्राह्मण प्रभाव के परिणामस्वरूप
कही-कही उन्हें दुर्गा या लक्ष्मी समझा जाने लगा)। उदाहरणार्थ, तुकाई (कोण्डणपुर)
अपेक्षाकृत दुर्लभ है, हालांकि उसकी मौजूदगी एकाधिक जगहो मे है। तुकाराम का
नामकरण उसी के लिहाज से हुआ था। अनुमान है कि जाखमाता वही है जिसे
जौखाई कहते हैं, जिससे कुछ लोग उसका संबंध जोड़ते हैं, व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह
नाम स्पष्टत: यक्षी और डाकिनी से संबद्ध है। कही-कही ऐसी मान्यता है कि जो
औरतें बच्चा जनते समय अथवा डूबकर मर जाती हैं वे ही ऐसी प्रेतात्मा या
पिशाची बन जाती हैं और उन्हे इस नाम से पूजा जाता है। ऐसे मामलों मे, पूजा
का रिवाज तब चल पड़ता है मृतात्मा कुछ ग्रामीणों के सपनो में उपस्थित होकर
पूजा की माग करती है। (पूना के ठीक बाहर, शोलापुर रोड से आगे) राइफल रेंज
(चांदमारी) के अंत मे एक अनगढ, लाल सिंदूर पुती स्त्री प्रतिमा है जो ऐसी प्रेत
पूजा की प्रतीक है। यह मूर्ति एक अज्ञात तेलिन की है जो एक बहकी हुई गोली के
लग जाने से अकालमृत्यु का शिकार हो गई। प्रेत बन जाने पर वह लगी उत्पात
मचाने। उसके उपद्रव के मारे तेली जाति के उसके कुटुंबियों को चैन से सोना दुश्वार
हो गया। शांति तब जाकर हुई जब उसकी मूर्ति प्रतिष्ठित कर लोग उसे पूजा चढाने
लगे। घटना तो यह हाल ही की प्रतीत होती है, फिर भी, लोकसमाज मे इसे पूजा-
प्रतिष्ठा कितनी तेजी से मिल गई इसका प्रमाण है कि पंढरपुर जाने वाली वार्षिक
पालखी (शोभा यात्रा) नियमत: उस जगह ठहरकर उस देवी की आरती करती थी,
और यह रिवाज तब जाकर छूटा जब यात्रा सास्वड वाले रास्ते को छोडकर सुगमतर
दिवा घाटी से होने लगी। ऐसी पूजा के आत्मसात्करण का एक प्रबल दृष्टांत, जो
कोई बेजोड़ बात नही है, मडवली से एक मील आगे, देवलें गांव के पास देखने को
मिलता है। वहा मातृदेवी एक झुरमुट मे (जो उसका सामान्य निवास है) सिंदूर पुते
पत्थर के कई ढोकों के रूप मे प्रतिष्ठित है, किंतु नाम उसका है सती आई। वास्त-
विक सती स्मारक (सती चौरा) वहां से पचास फुट दूर है। यह सामंतकालीन अज्ञात
विधवा का स्मारक है, जो उस जगह सती हो गई थी। अब वह स्थान गोपाल पौरा
कहलाता है, ग्वालबाल नृत्यस्थल, क्योंकि रिवाजत: वहा खास-खास दिन लडके टोली

बांधकर नृत्य करते हैं। आदिम देवी ही वहां सती रूप में पूजी जाने लगी, और इस तरह दोनों पूजा पद्धतियां मिलकर एक हो गई हैं। मानवी सती कौन थी, क्या थी, इसकी कोई स्मृति भले न रह जाए, लेकिन उसका स्मारक तो बना रह ही जाता है, जिसकी प्रचलित पहचान है मुड़ी हुई बांह और खुली उंगलियों वाला हाथ (हालांकि
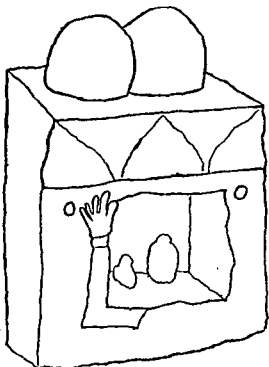
3.1 भंवरनाथ का सती स्मारक; ऊंचाई लगभग 45 सें०मी०

जरूरी नहीं कि यह निशान ही हो)। मैं नहीं समझता कि मेरा यह खयाल बहुत गलत है कि सती प्रस्तर के ऊपर तल पर स्तन जैसे दो गोल टीले (चित्र 3, 1) सहगमन के द्योतक हैं, अर्थात इस बात के परिचायक कि वह विधवा अपने पति के शव के साथ उसी चिता पर सती हो गई, और एक ही गोल टीला होने का मतलब है अनुगमन, यानी यह कि वह अपने पति के शवदाह के कुछ दिन बाद एक अलग चिता पर चढ़कर परलोकगत हो गई। ऐसे स्मारक बोलाई में हैं और अन्यत्र हमारे गावों में भी। कहीं-कहीं ऐसी सती को लोग स्मरण भर कर लिया करते हैं, विशेष कुछ चढ़ाते नहीं, बहुत हुआ तो सिंदूर लगा दिया या फूल चढ़ा दिया, जैसे, देवघर और भंवरनाथ में। प्रायः उसका नाम तक याद नहीं रह जाता, फिर भी, वह उस गांव की विशेष रूप से रक्षा करने वाली मानी जाती है, जैसे, पिम्पलोली में, जहां हर रविवार को उसकी पुती समाधि के सामने एक नारियल फोड़कर उसकी गिरी प्रसाद के रूप में बांटी जाती है। श्री एन० जी० चापेकर ने अपनी बदलापुर (पूना 1933 पृ० 320) में

एक चतुष्पथ पूजा का उल्लेख करते हुए बताया है कि इसका निमित्त महर जाति का एक आदमी है जो अनुमानतः कुलकर्णी परिवार के किसी सामंत सदस्य द्वारा मार डाला गया था। मृतात्मा ने अपने को उस खास जगह पर प्रतिष्ठित करने की माग की। कुलकर्णी लोग पहले वहां भैंस का पाड़ा चढाते थे, अब नियमित रूप से बकरे की बलि दिया करते है।

सती और सती आसरा एक दूसरे से भिन्न तो है ही, 'सठवाई' या 'सटवी' से भी भिन्न हैं, जो एक महत्वपूर्ण आदिम और खतरनाक मातृदेवी है। मराठा मे सटवी शब्द अब, एक गाली के रूप मे, किसी नागवार कर्कशा बुढ़िया के लिए प्रयुक्त किया जाता है। निस्संदेह यह शब्द संस्कृत षष्ठी (छठी) से व्युत्पन्न है, मूल नाम इस देवी का चाहे जो भी रहा हो। सटवी देवी की तुष्टि के लिए, उसकी पूजा किसी बच्चे के जन्म से छटी रात को की जाती है, पूजा मे एक दीपक रात भर जलता रखा जाता है और देवी को और चीज भी चढाई जाती हैं (ऐसी हर चीज, भोर होने पर, धाई की हो जाती है)। इन चीजों मे चाहे तो लोढा सिलोटी को भी शामिल कर सकते हैं, लेकिन लेखन सामग्री का होना तो अनिवार्य रूप से आवश्यक है। उस रात बच्चे के ललाट पर अदृश्य किंतु अटल रूप से उसका भाग्यलेख लिखने के लिए यह देवी स्वयं पधारती है। सस्कृत मे इसी का ब्रह्म लिखित कहते हैं। इस देवी की शक्ति मे कोई सदेह नही, फिर भी, पुरुषो को कर्मकाड से कोई सरोकार नही होता। यह देवी स्वयं चांद्र मास की छठी तिथि भी है और यही इसकी विशेष पूजा का दिन भी है। स्कंद, जो मातृकाओं से विशेष रूप से संबद्ध हैं, *षष्ठी प्रिय कहलाते है*, और परिवर्ती थे देवीभागवत पुराण मे षष्ठी को उनकी पत्नी कहा गया है। अततः, हालांकि ऐसा बताया गया है कि षष्ठी (या सठी, सटवी) ही दुर्गा हैं, सामान्य धारणा है कि यह देवी कुमारी ही है: 'म्हसोबा के कोई पत्नी नही, और सटवाई के कोई पति नहीं (दादला)।' माता होते हुए भी, इस देवी को कोई पति ग्राह्य है ही नहीं। म्हसोबा वही महिषासुर है जिसे दुर्गा पार्वती ने मार डाला था, और फिर भी वह, अक्सर देवी मंदिर के समीप ही, देवता के रूप मे नियमित रूप से पूजा जाता है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण पूना में है जहा पार्वती पर्वत मंदिर की तराई मे म्हसोबा की पूजा प्रचलित है। सटवी देवी की पूजा का स्वरूप कभी-कभी यह होता है कि, अक्सर सडक के किनारे या चौराहा पर, मार्ग के दूर किसी पत्थर या चट्टान पर सिंदूर और कुछ मामूली खाद्य एवं एक नींबू के भेंट के रूप मे चढा देते है। यह कृत्य, सामान्यतः अंधेरे मे, किसी भक्त नारी द्वारा संपन्न किया जाता है।

इन देवियों के निराले नाम देखकर ऐसा लगता है कि इनका संबंध ऐसे किसी छोटे-मोटे जनजातीय समूह से रहा है जो अब या तो निःशेष है या सामान्य देहाती आबादी में इस कदर घुल-पच गया है कि उसका कोई चिन्ह शेष नही है। *कुछ नाम* तो गांव के नाम से संबद्ध हैं, जैसे, फागणे गाव में फागणाई और तुगी गाव मे तुंगाई। व्युत्पत्ति से तुगी का अर्थ तो निकाला जा सकता है, ऊचा स्थान, किंतु

फागणे को समझना मुश्किल है। अन्यान्य नामों की व्युत्पत्ति तो और भी दुरूह है। ऐसी देवियां हैं इंदुरी में करजाई, ननोली के निकट प्राचीन बौद्ध गुफाओं में फिरंगाई (जो स्पष्टतः कुरकुंम स्थित महादेवी फिरंगाबाई की प्रतिमा का प्रतिनिधित्व करती है), जुन्नर के परे वरधूवाई, (करसंबले-दूदगड बौद्ध गुफाओं के समीप) नेणवली की दबालाई, भाजा में सुरालाई (सुराल और सुरालय का अर्थ तो है देवताओं का निवास।

3.2 छिदवाड़ा में वेताई 3.3 वाघोवा (सिंह स्वामी)

फिर भी, इस गांव की संरक्षिका देवी है जाखमाता)। पूना के समीपस्थ इन बेजोड़ देवियों में सबसे प्रसिद्ध है बोलाई या बोल्हाई, जिसका स्थान वाड़ें-घोड़ें गांव से एक मील पर है, जो कोरेगाव से ज्यादा दूर नहीं। यह देवी बिलकुल आदिम युग की है क्योंकि बावजूद इसके कि पेशवाओं के शासनकाल में इसके लिए एक मंदिर का निर्माण हो गया, और गायकवाड़ों ने इसके लिए धर्मदाय (अक्षय निधि) की व्यवस्था कर दी, इसका ब्राह्मणीकरण बस इसी हद तक हो पाया है कि इसे पांडवों की 'वहन' की संज्ञा दे दी गई है। हर रविवार को (जो इस देवी का खास दिन है) इसे कम से कम एक बकरे की बलि दी जाती है। वैसे, किसी भगत को जरूरत पड़ती है तो इस देवी को किसी अन्य अवसर पर भी रक्तबलि चढ़ाई जाती है। आज भी यह देवी आखेटिका (शिकारिन) ही बनी हुई है जो जाड़े की ऋतु में दो महीने के लिए आखेट के दौरे पर निकलती है, जिसका प्रतीक है इस दौरे के आदि और अंत में निकलने वाला पालकी जुलूस।

इन देवियों की पुरातनता इस बात से प्रमाणित होती है कि इनमें से किसी के कोई पुरुष संगी या पति नहीं है। प्रतिक्रिया, जिसका आरंभ म्हसोबा पूजा में प्रति-

विवत है, एक पशुचारण समाज के पूर्ण विकास के साथ घटित हुई, जैसा कि भले अनूठे पुरुष देवता बापूजी बाबा के आविर्भाव से भी प्रमाणित होता है। बापूजी बाबा विशेषतः मवेशियों के देवता हैं, मगर महिलाएं उनके पास फटकती तक नहीं, क्योंकि ऐसा करने में भारी खतरा है। एक देवमंदिर राष्ट्रीय रक्षा अकादमी क्षेत्र में भी है। उस मंदिर के इर्द-गिर्द जो पांच गांव हैं उनका काम उसी से चलता है। कभी-कभी और दूर से भी लोग वहां आते हैं। उसी तरह झील के उस पार, खानापुर के निकट भी एक देवमंदिर है। ऐसे अन्य देवमंदिरों की अवस्थिति इस प्रकार है: आकुर्डी स्थिति जीर्ण विष्णु मंदिर के परकोटेदार अहाते के पश्चिमोत्तर कोने में, केंद्रीय रेलपथ पर मलवली के निकट, इदुरि और महालुंगे के बीच। काढवा और सासवड के बीच पुरानी घाटी की चोटी पर प्रतिष्ठित बापदेव भी अनुमानतः वही देवता हैं। अपेक्षाकृत लोकप्रिय वेताल भी, जिसे उक्त देवियों के बाद आविर्भूत सिद्ध किया जा सकता है, वैसा ही अनगढ है। चिंचवड में उनकी मूर्ति (चित्र 3.2) सिदियाई टोपी पहने सिर के रूप में है और कहीं-कहीं हूबहू शिवलिंग से मिलती-जुलती है (चित्र 3.3)। यह प्रमाणित किया जा सकता है कि कई स्थानों में उसके पत्थर क्रमशः शिव-लिंग बन गए हैं। सामान्यतः, उसके पास भी महिलाओं का जाना वर्जित है। उसका पुरुष पुजारी अगर सचमुच कट्टर होगा तो पूजा के पहले किसी स्त्री के स्पर्श या चूड़ियों की खनक सुनने से बचेगा। तत्संबद्ध वानरमुखी देवता हनुमान या मारुति, जो कट्टर ब्रह्मचारी हैं, उसकी अपेक्षा कुछ ज्यादा सहिष्णु हैं (हालांकि कृषक वर्ग में ये एक शक्तिशाली देवता के रूप में सामान्य है, जैसा कि उत्तर वैदिककाल में मरुतगण थे), महिलाएं इन्हें पूज सकती हैं। बालेश्वर स्कन्द भी, जिन्हें स्पष्टतः मातृदेवियों तथा उनकी पूजा पद्धतियों को पुरुष नियंत्रण में लाने के लिए परिकल्पित किया गया, उक्त पौरुषेय परंपरा से बच नहीं पाए हैं। महाराष्ट्र में, जहां वे कार्तिक-स्वामी नाम से पूजे जाते हैं, महिलाओं को उनके पास जाना मना है। यों, यह बात पुराणों में प्रतिकूल प्रतीत होती है, लेकिन स्मरणीय है कि इसी देवता के एक पवित्र कुंज में अतिचार (अनाधिकार प्रवेश) करने के कारण, कालिदास कृत विक्रमोर्वशीयम की नायिका, अप्सरा उर्वशी को अंगूरलता के रूप में परिणत कर दिया गया था, जिससे जाहिर है कि महिलाओं को उक्त देवता के पास जाना मना था। कुछ आगे चलकर हम यह सिद्ध करेंगे कि स्कन्द के विकास में एक ऐसा प्रक्रम था जो विस्मृत हो चुका है और उक्त निषेध इसी प्रक्रम का द्योतक है, और यह भी कि मूल निषेध बिल्कुल भिन्न था, जैसा कि यह निषिद्ध कुंज था।

ये देवियां हैं तो माताएं (मातृदेवियां) किंतु अविवाहिता हैं। जिस समाज में इनका उद्भव था, उसकी दृष्टि में किसी पिता का होना आवश्यक नहीं था। आगे चलकर इनका ब्याह किसी पुरुष देवता से होने लगा। जागूबाई के साथ म्हतसोबा नामक उनके एक 'पति' कोथरूड और वाकड में प्रतिष्ठित है। इस ब्याह के विषय में एक विलक्षण बात यह है कि म्हातसोबा वस्तुतः म्हसोबा महिषासुर है, और उनकी

पत्नी जोगूबाई योगेश्वरी=दुर्गा है, जिनका परम प्रसिद्ध कार्य था महिषासुरवध। यह कोई निराली घटना हरगिज नही है, क्योंकि पुन: वीर मे भी जोगूबाई के साथ हसोबा का विवाह म्स्कोबा नाम से सपन्न हुआ है। जाहिर है इन दोनों मामलों में नाम मे जरा सा परिवर्तन विवाह होने देने के लिए किया गया है। वीर देवता की स्थापना ग्रामवासी गड़रिया (चरवाहों) ने की थी, और अब भी, साल मे एक बार, उनका जुलूस निकलता है जो उनकी पूजा-प्रतिष्ठा वाली पहाड़ी से सटी हुई एक पहाडी तक जाता है। यह पहाड़ी अब भी तुकाई की चरी कहलाती है और वहा उनका जो चौरा (देवी स्थान) है उसमे एक आक्रांत भैंसे का वध करती हुई देवी महिषासुरमर्दिनी की भोंडे ढंग से उकेरी हुई है, जिस पर लाल लेप चढा हुआ है।

ये देवगण मृत्युदेव वीर, और ये देविया भी, अगर इन्हें तुष्ट न किया जाए, तो प्राण हर लेती है। इनका प्रभुत्व संक्रमण रोगों पर है। देवी सामान्यत: बड़ी माता (चेचक)को कहते है। इस बचाव के लिए मरी-आई को पूजना पडता है। शीतला देवी वह विशिष्ट देवी हैं जो शिशुओं को शीतला(बडी माता या चेचक) से बचाती है, और गोरा वा मसूरिका (खसरा) से। इन सभी देवियों को, आश्विन शुक्ल पक्ष के आरंभ से नौ दिनों की अवधि नवरात्र के दौरान, नगरो मे प्रायः महिलाएं ही पूजती हैं (भले ही पुरोहितगण पुरुष हो)। फसल कटनी से इस नवरात्र का संबंध जोड़ना कठिन है, वास्तविक फसल उत्सव तो लगभग एक माह बाद मनाए जाते है। इसके अलावा, इनमे से अधिकाश देवियों को खास-खास चढ़ावे दिए जाते हैं। गावो मे रक्तबलियां देने का रिवाज तो है ही, हा, जहां कही ऐसी पूजा ब्राह्मणीकृत हो गई है, अर्थात तत्सबद्ध देवी का एकात्म्य किसी पौराणिक देवी से कर दिया गया, वहा बलि पशु को देवी के सामने नही काटा जाता, देवी को उसका दर्शन भर करा देते हैं और तब उसे कुछ दूर ले जाकर काटते हैं। रक्तहीन चढावा विरले ही कही दिया जाता है। आखिरी बात यह कि षष्ठी और अमावस की रातें भी इन देवियों की पूजा के सबंध मे विशेष महत्व रखती है, जैसे वेताल की पूजा के लिए अमावस की रात। ऐसी रातों में रक्त बलिया देने का स्पष्ट निर्देश है(और वस्तुतः ऐसी बलिया यदा-कदा अब भी दी जाती है।) इस प्रथा की झलक पूना स्थित बडी जोगेश्वरी मे मिलती है, जो उस शहर की सबसे बडी देवी है। रोज सुबह, उनकी मूर्ति को वस्त्राच्छादित करके उन्हे चादी का मुखौटा पहना दिया जाता है। इस क्रम मे व्यवधान बस एक ही दिन पड़ता है। वह आपवादिक दिन है अमावस की तिथि। मुखौटे के नीचे छिपी रहने वाली उकेरी हुई प्रस्तर प्रतिमा उस दिन खुली छोड़ दी जाती है, और उस पर (तिल मे सिंदूर मिलाकर) लाल रग का नया लेप चढ़ा दिया जाता है, जो स्पष्टतः और भी पहले प्रचलित रक्त बलि देने की प्रथा का परिणत रूप है।

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वाला प्रसिद्ध श्लोक गहन अंधकार पर जोर देता है। आगे मृच्छकटिक मे जो विविध घटनाएं घटित हुई उनके लिए घुप अंधेरा सचमुच आवश्यक था लेकिन नायक के दारुण दारिद्रय का द्योतन अमावस की रात से संभव नही था।

कृष्ण पक्ष की षष्ठी तिथि की रात को चारुदत्त ने जो अन्न पिंड का चढ़ावा दिया उसे बलि कहा गया है, जिससे साफ जाहिर है कि वह चढ़ावा, उसकी वैश्वदेव बलियों के समान, रक्तबलियो के एवज मे था। अतः, चारुदत्त इस प्रकार एक प्राचीन प्रथा का अनुसरण कर रहा था जो उन सदियों के दौरान गृहीत हो गई थी जब आदिवासी आबादी के साथ आत्मसात्करण का सिलसिला जारी था। तो, अब समझने को सिर्फ एक बात बाकी रह जाती है, बलि प्रदान का स्थान, चतुष्पथ (चौराहा)।

आदिक (पावन स्थान) पथ

किसी मातृदेवी का चौरा ब्राह्मणधर्मीय पहचान से रहित और गांव के बाहर हुआ करता है। कभी-कभी, उसकी विशेष अनुमति से, कोई प्रतिनिधि पत्थर गांव के भीतर किसी मंदिर में ला रखा जाता है ताकि बरसात मे उसकी पूजा करने में लोगों को सुभीता हो। मातृदेवी के स्थान में बस्ती का विकास तो तभी संभव है जब उसकी पूजा दूर-दूर तक प्रचलित हो जाए, जैसे, तुलजापुर में तुलजा की पूजा। किसी नगर के मध्य में चौरे की अवस्थिति का मतलब है कि उस जगह का विकास आर्थिक कारणों से हुआ है, और पूजास्थल ज्यों का त्यों रह गया। मावलाया और साती आसरा जैसी विशिष्ट जलदेवियों (अप्सराओं) को छोड़कर 'प्राचीनतम मातृदेवियों की अनगढ़ मूर्ति के आसपास रान, अर्थात जंगल, हुआ करता है। लेकिन अब अधिकांशतः, जंगल की जगह ऐसे झाड़ी झुरमुट भर रह गए है जो ईंधन लायक भी नहीं, फिर भी, कहीं-कहीं कोई कुंज मिल जाता है जो अच्छा-खासा जंगल ही है।

पऊना घाटी के मध्य मे फाग्णे स्थित मातृदेवी का वन, जो लगभग तीन सौ मीटर लंबा और पचास से सौ मीटर तक चौड़ा है, बड़ा ही प्रभावोत्पादक दृश्य है, अनायास ही मन को मुग्ध कर लेता है। बावजूद इसके कि वहां ईंधन की कमी है, किसी भी हरे-भरे पेड़ की एक शाखा नहीं काटी जा सकती, इमारती लकड़ी के लोभी ठेकेदारों ने बहुतेरा चाहा कि बकरे की बलि और वस्त्र, नारियल तथा आभूषण के चढ़ावे देकर देवी को प्रसन्न और राजी कर लें लेकिन देवी अनुमति देने से बराबर इंकार ही करती रही हैं। फाग्णे के बुजुर्गों में (जिनका कुलनाम, अधिकांश मुलूत है) यह अनुश्रुति है कि वे लोग भोर राज्यांतर्गत मुले से आकर बसे थे। उनका विश्वास है कि फाग्णाई उनके साथ ही वहां आई थी, और यह कि तदनंतर उसके भाई धंडोबा नदी के पाट मे प्रकट हुए (जो अब धारा की दिशा बदल जाने से कीचड़ से भर गया है, हालांकि उस स्थान का निशान आज भी सुस्पष्ट है)। निकुंज के ठीक पीछे और दोनों ओर, अकरदित गिरि पार्श्व और पर्वत कूटों पर बड़े उत्तम लघुपाषाण पाए जाते हैं, जिससे यह अनुमान होता है कि उक्त आप्रवास के पूर्व अवश्य ही कोई आदिम देवी उस स्थल पर प्रतिष्ठित रही होगी। असाधारण बात है कि नवरात्र के दौरान उस निकुंज में, और उस मंदिर के समीप, महिलाओं का जाना वर्जित हो जाता है, और उसकी रखवाली के लिए एक रक्षी को तैनात कर दिया जाता है। उन नौ रातों के

लिए यह सामान्य देहाती निषेध है, शहरी मंदिरों में इसका अनुपालन नहीं हो पाता। 'इल-इला' पौराणिक उपाख्यान से पता चलता है कि ऐसे वन निकुंज आदियुगीन हैं, मूलतः वहां पुरुषों का प्रवेश बिलकुल निषिद्ध था, क्योंकि जो पुरुष प्रवेश करता उसे स्त्री में बदल दिया जाता। उपर्युक्त वन निकुंज के संबंध में यह निषेध जो उलटकर स्त्रियों पर लागू हो गया है उसका कारण यह है कि पुरोहिताई को पुरुषों ने हस्तगत कर लिया है। लेकिन वह्निसंघ, पवित्र निकुंज, पुरुष प्रवेश निषेध, और यह दंड व्यवस्था कि जो पुरुष ऐसे निषेध को न मानेगा उसे फौरन वह्निसंघ में दाखिल कर लिया जाएगा और तब से उसे एक स्त्री की भांति जीवनयापन करना पड़ेगा, ये सारी बातें अफ्रीका के भूभागों में आज भी विद्यमान हैं (जैसे, अट्टंगा लोगों में)। फाग्णे में, बावजूद इसके कि महिलाएं कभी-कभी उस पवित्र निकुंज के एक कोने को सीधे पार कर जाया करती हैं, उक्त निषध का सामान्यतः सर्वदा अनुपालन होता है, और यह तो स्पष्ट ही है कि जो निषेध मूलतः पुरुषों के प्रवेश पर लागू था वह यहां उलटकर स्त्रियों पर लागू हो गया है।

फाग्णे के भव्य निकुंज को देखकर हमारा ध्यान बरबस अरिसिया स्थित डायना के भव्य निकुंज नेमस की ओर आकृष्ट हो जाता है जिसकी चर्चा से फ्रेजर ने अपने गोल्डेन बाउ का विषयारंभ किया है। खासतौर से कुतूहल तो तब होता है जब हम देखते हैं कि (वर्जिल के काव्य) इनीड (7.774.788) में चौराहे वाली देवी डायना को त्रिवीय (त्रिपथा) विशेषण से विभूषित किया गया है। संस्कृत के अनुसार, सही पर्याय होता क्वाड्रिवीय (चतुष्पथा), किंतु यूरोपीय मातृदेवियां तो त्रिमूर्ति थीं, इसलिए त्रिपथ (या द्विपथ) संगम उनकी रूपाकृति के अधिक अनुकूल पडता यहां यह उल्लेखनीय है कि फाग्णे में दो प्राचीन महामार्गों के संगम पर अवस्थित है। एक रास्त पऊना घाटी जाता है और दूसरा 'तिकोणा' से परे, भाजा से आडे-तिरछे, चाक्सर हो जाता है। मुल्शी बांध बनने के पूर्व, यह रास्ता डेरा, वाग्जाई और सवासणी के पहाडी दर्रों को जाता था, और आज भी यह उस इलाके में सबसे अच्छा रास्ता है। इस मार्ग पर सुभागढ़ और कौरीगढ जैसे दुर्गों के पडने से, और कर्सम्बले तथा ठाणाला के विशाल भग्नावशिष्ट बौद्ध गुफा समूहों के पार्श्वस्थ होने से, पूर्वतर युग में इस मार्ग का पर्याप्त महत्व था। सम्प्रति जो कुंज बचा रह गया है उससे यह साबित होता है कि यहां एक ऐसा विशाल आदिम वन था जिसे पाषाणयुगीन मानव न तो अपने औजारों से साफ कर सका न आग से। नंगे खुले पड़े पर्वत स्कंध पर, जहां हरियाली अब सिर्फ देवी के परिरक्षित स्थान में ही बच रही है, एक बेहद लंबी (लघुपाषाण) पगडंडी देखने को मिलती है। फाग्णे में और उसके आसपास अन्य अपेक्षाकृत ऊंचे भूखंडों पर, एक नदी किनारे भी बहुत बढ़िया लघुपाषाण मिले हैं, लेकिन, उस स्थान में न तो और बड़े औजार देखने में आए हैं न प्रागैतिहासिक मृद्भांड (मिट्टी के बरतन) ही।

इन प्रचलित पूजा पद्धतियों का (और वेताल पूजा का भी) आदिम उद्भव

और स्वरूप इस हिदायत से साबित होता है कि पूजा के पाषाण के ऊपर कोई आच्छादन नही, खुला आगमन होना चाहिए। उसके ऊपर छत डाल देने से पथभ्रष्ट पुजारी पर भारी विपत्ति आ पड़ती है। लेकिन, गाव वाले जब पर्याप्त धनी हो जाते हैं तब प्राय: देवी को मनाकर उसके लिए राजी कर लेते हैं। अब ये पूजा पद्धतिया उस जमाने की हैं जब घर बनाने का चलन नही था और जब गांव चलते-फिरते हुआ करते थे। लेकिन निकुज को अन्यत्र ले जाना तो शक्य था नहीं, अत: निश्चय होता है कि उसके लिए स्थान का चुनाव गाव की समीपता के विचार से नही बल्कि अन्य कारणों से किया गया होगा। कौन से कारण ?

जो अधिक लोकप्रिय पूजास्थल हैं वहा आसपास की आबादी के विचार से, बेशुमार लोग परिदर्शनार्थ जाते हैं, जैसे, बोलाई, आलंदी और पंढरपुर मे। अनुमान है कि ये स्थानीय पूजा पद्धतियां उन स्थानों में या उनके आसपास प्रचलित थी जहा से उपनिवेशन (नई बस्ती बसाना) शुरू हुआ। लेकिन यह उपनिवेशन इत्तिफाकिया या बेतरतीब नही था, प्रमाण उपलब्ध हैं कि ये स्थान पर्याप्त प्राचीन मार्गों पर अवस्थित हैं। आरंभ में ये मार्ग अवश्य ही ऐसे रास्ते रहे होंगे जिससे होकर मनुष्यगण और पशुवृंद मौसमी क्षेत्रांतरण करते होंगे। आज भी अहमदनगर जिले के भेड़पाल लोग अपने भेड समूह सहित प्रतिवर्ष पैदल चलकर इस तरह का कोई 400 मील का चक्कर लगते है। लेकिन, खेती के विस्तार के चलते, उनके रास्ते अब बदल गए हैं। भेड़पाल अपनी भेड़ो को निर्दिष्ट खेतों में एक या दो रात के लिए बैठाते हैं, और इस प्रकार वहा की कमजोर मिट्टी को उर्वरा बनाते है, जिसके बदले मे उन्हे अनाज दिया जाता है। आलंदी और पंढरपुर को जोड़नेवाला जो तीर्थयात्रा का मार्ग है उस पर भी बहुतेरी खानाबदोश (तीर्थयात्रा-काल के अलावा) सामयिक रूप से आते-जाते रहते हैं, जिसकी एक वजह यह भी है कि इस रास्ते में बहुत से पूजास्थल पड़ते हैं जिनके चलते भिक्षा सुलभतर हो जाती है। तनिक अन्वेषण से, ठहराव के अनेक स्थानों मे उत्तरपाषाणयुगीन उपकरणों के जमाव स्पष्ट परिलक्षित हो जाते हैं और साफ जाहिर हो जाता है कि यह मार्ग प्रागैतिहासिक है। बोलाई निश्चित रूप से ही एक मार्ग पर पडती थी, अब भले वहां आवागमन बहुत कम हो गया है क्योंकि वर्तमान पूना-अहमदनगर सड़क दूसरी समांतर घाटी से गुजरती है। वाघोली के निकट केसनद स्थित प्राकृतिक गुफाए भी उसी परित्यक्त व्यापार मार्ग पर पड़ती हैं जो उन्हे बोलाई से जोड़ता है। थेऊर एक प्रागैतिहासिक मार्ग एवं महत्वपूर्ण नदी पारण पर अवस्थित था, और वहां जो गणेश मूर्ति है वह उन आठ आदिवासीय अष्टविनायक गणेश प्रतिमाओं मे से एक है जिन्हें कम से कम महाराष्ट्र मे अन्य सभी गणपतियो से श्रेष्ठ माना जाता है। फागणे (तुंगी से होकर सुधागढ़ दर्रा तक चाउल बंदरगाह को पहुचाने वाले) पऊना घाटी व्यापार मार्ग पर अवस्थित है जो वेड़सा और शेलवीडी गुफाओं को स्पर्श करता है (जिनका स्थानीय नाम घोरव्डी गुफा है)। ऐसा ही मेरे दिए अन्य उदाहरणों के संबध मे भी है।

इस दिशा मे आगे खोज अभी काफी दूर तक की जा सकती है। अपने क्षेत्र-कार्य के दौरान मुझे अप्रत्याशित रूप से बहुतेरे पूजास्थल गिरिपार्श्व की ढलानो पर मिले। वे पहाड़ी की चोटी की अपेक्षा घाटी के नितल के नजदीक थे, लेकिन उनकी स्थिति निकटतम गाव से और वर्तमान जल स्रोतों से काफी दूरी पर थी (सामान्यतः 1 से 2 मील)। यह मुमकिन नही कि उस समय, जब जगल साफ किए जा चुके थे और हल-खेती आमतौर पर होने लगी थी, वे किसी गाव के समीप रहे हों। लेकिन, दिक्कतों के बावजूद, कोई मंदिर या चौरा न रहने पर भी, ऐसी पूजा की परंपरा भग नही होने पाई है। कोई मदिर बनाया गया हो या नही, इन छुटपुट पूजा-पद्धतियों के बारे मे एक बात महत्वपूर्ण है जहां इनका चलन है वही लघुपाषाण निकटस्थ किसी अन्य स्थान की अपेक्षा कही अधिक संख्या मे इकट्ठे हुए मिलते हैं। वस्तुत, पत्थर के बृहत्तर उपकरण तो वहा अनुपलब्ध ही हैं। अवावाई का अनगढ़ और दस्तूर सिंदूर पुता पत्थर इसका एक अच्छा प्रमाण है, जो घेड़सा गुफा घाटी को जाने वाले मार्ग पर, बवई पूना सड़क और केंद्रीय रेल के चौराहे के पास अवस्थित है। एक दूसरा उदाहरण है, देहू क्षेत्र के पास, रायरी के निकट अवस्थित एक (शव) समाधि मंदिर। ऐसे और भी अनेक उदाहरण हैं। अब भले ये सभी मातृदेवियों के रूप में पूज्य नही हैं, लेकिन यह विश्वास करने का कारण तो है ही, और इसके लिए विस्तार से बहस की जरूरत नही, कि कतिपय पुरुष देवताओं को भी सप्रति जो रूप प्राप्त है वह अभिलोपित मातृ पूजाओं का ही संपरिवर्तित रूप है।

इन लघुपाषाणों का स्थानीय महत्व तो है ही, इसके अतिरिक्त एक विशेष बात यह है कि आकार, प्रकार, द्रव्य और निर्माण शैली, इन सभी बातों मे ये ठीक उन लघुपाषाणों के समान है जिन्हे ए० सी० कार्लाइल ने दक्षिण मिर्जापुर गुफाओ मे खोज निकाला और 1885 मे प्रतिवेदित किया। ऐसे पत्थर अन्य देशों मे भी विदित हैं (ह्वी० ए० स्मिथ : आई० ए० 35-1906-185-95), और ये धातु युग से पहले के हैं। समीपस्थ गगा मैदान मे अवस्थित तुमुली मे मिट्टी के बरतन, बृहदाकार पत्थर के औजार और लघुपाषाण तो उपलब्ध हुए हैं, लेकिन कोई (खनिज) धातु कदापि नही। विंध्य-गुफाओ तथा उपस्थिति शैलाश्रयो में तो ऐसे प्रस्तर उपकरण (पत्थर के औजार) भी नही मिले, और जो थोड़े से मृद्भाड (मिट्टी के बरतन) उपलब्ध हुए हैं वे लघु-पाषाणों से असंबद्ध प्रतीत होते हैं। इन गुफाओ हीमाटाइट, (शीत से बचने के लिए विभिन्न आदिम जातियों द्वारा प्रयुक्त एक चूर्ण) के ढेर और बहुत छोटे-छोटे शिल्प-उपकरण मिले हैं। इनका प्रयोग गुफा भित्तियो पर तस्वीरें खीचने मे होता था जिनसे जाहिर होता है कि वहा के औजार बनाने वाले लोग धनुषबाणधारी थे। लघुपाषाण स्थलों की शृखलाओं अथवा अनुचिह्नो पर अभी सक्षम पुरातत्वीय क्षेत्र-कार्य होना बाकी है ताकि दक्षिण-महामार्ग के गांगेय छोर से आगे दक्षिण की ओर उनकी खोज की जा सके। किंतु, यह असभव है कि यह छोर मिर्जापुर मे रहा हो, कारण दक्षिणा-गिरि नामक इलाके मे आवागमन बुद्ध के समय से बहुत पहले नही शुरू हुआ था।

गुफाओं में अंकित शत्रुतापूर्ण धावा बोलने वाले आर्य रथवानो के चित्र के रूप में निश्चय ही लोहा तथा अन्य कच्ची धातुओं की खोज का नेतृत्व निरूपित किया गया होगा जिसका परिणाम हुआ राजगीर का बसना और अंततः मगध का आधिपत्य।

महाराष्ट्र क्षेत्रीय उल्लिखित पूजास्थल ही ऐसी जगहें नही हैं जहां लघुपाषाण एकत्रित मिलते है। ऐसे प्राप्तिस्थल पहाड़ियो की तराई में भी क्रमश. समान ऊंचाई पर पाए जाते हैं। वहा औजारों के साथ मृद्भाड (मिट्टी के बरतन) उपलब्ध नहीं हुए है, और अधिकाश स्थानों मे इतनी मिट्टी भी नही बच रही है कि उनका कोई स्तरबद्ध अनुक्रम निर्मित किया जा सके। किंतु पहाडो के साथ-साथ इन लघुपाषाण समूहों के अनुसरण से अनिवार्य निष्कर्ष पर पहुचना पडता है कि ये औजार उस धातु पूर्व और मृद्भांड पूर्व प्रक्रम के हैं जब नीचे घाटी में जंगल साफ नही हो पाए थे। यह सारा संग्रह अभिलक्षक है उन पुरानी संस्कृतियों का जिनका प्राचीन नाम मध्यपाषाणयुगीन संस्कृतिया है और जो उस जमाने मे थी जब लोग मवेशी पालते थे, छुटपुट रूप से थोडी खेती करते थे जिससे पर्याप्त अन्न-संग्रहण हो जाता था, और कुछ आखेट कर लिया करते थे।

ऐसी आवदी को एक जगह से दूसरी जगह बदलते रहना पडता था। स्थाई बस्ती का होना सस्ती धातुओं के जमाने, अर्थात, लौहयुग के पूर्व संभव ही नही था। मौर्य विषय के बहुत पहले के समय मे दक्षिण मे कही भी लोहे के आम इस्तेमाल की कल्पना करना कठिन है। कच्चे तांबे की खानें इस इलाके में कही भी सुलभ नहीं हैं, और दक्षिणी अर्थशास्त्र मे लोहे का कही उल्लेख नही है। दलदली या जंगलवाली घाटी की जमीन के कृषि योग्य बनाए जाने के पूर्व जंगली लोगों के स्वाभाविक मार्ग का स्तर ठीक वही रहा होगा जिसका निर्देश पहले किया जा चुका है, और यह मार्ग पतली पगडंडी के रूप मे न होकर एक चौडी किंतु विषम पट्टी के रूप मे रहा होगा, जिसमे दर्रे स्थिर स्थलो के रूप मे रहे होंगे। नवरात्र उत्सव के ठीक बाद वार्षिक सीमा पारण निश्चय ही आदिम क्षेत्रातरण के प्रारंभ का द्योतक है।

इन पथों से गुजरनेवाले समूह बहुसख्यक नही रहे होंगे। जमीन उनके कब्जे मे हो इसका तो कोई सवाल ही नही था क्योंकि भू-स्वामित्व कोई आदिम सकल्पना नही है। नियत प्लाट (किते) बेमानी है जब तक जमीन हल से न जोती गई हो। और, हल से जुताई के लिए यह जरूरी है कि तलहटी की उर्वर जमीनो मे उगे जंगल साफ कर दिए जाएं, और जमीनें साफ रखी जाएं। यह काम इस मानसून देश मे भरपूर लौह उपकरणों के बिना सभव नहीं। जगली लोगो के लिए जमीन अमलदार होती है, संपत्ति नही। मुझे ऐसा लगता है कि गाव सई की महाराष्ट्रीय प्रथा जिसकी याद अभी तक बनी हुई है, बस्ती पूर्व युग की चीज है। यह प्रथा थी (भगत द्वारा यथानिर्धारित तिथि को) सभी स्थानीय देवताओं, आत्माओं तथा भूत-प्रेतों को तुष्ट करने की। इसमे महत्व की बात यह है कि हर आदमी को सात या नौ दिन के लिए गाव की (मावासीय) सीमा से बाहर जाकर रहना पड़ता था और इस अरसे

मे बस्ती बिलकुल वीरान हो जाती थी। उक्त समय तक खेतों में या पेडों तले रहने के बाद, और आवश्यक पूजा तथा रक्तबलियां संपन्न कर चुकने पर, ग्रामवासी लोग गाव लौट आते थे इस भरोसे के साथ कि फसलें बेहतर होंगी, रोग-शोक कम होगा, और आमतौर पर कल्याण-वृद्धि होगी। ऐसा समझा जाता है कि यह वापसी समारोह पुनःस्थापन (दुबारा बसने) का द्योतक है। कृषि-पूर्व युग के ऐसे विनिमय के लिए एकत्र हुआ करते थे जिसके साथ उनके समारोह और साम्प्रदायिक कर्मकाड सदैव सपन्न हुआ करते थे, अथवा जहा विभिन्न समूह अपना-अपना उर्वरता पूजोत्सव सम्मिलित रूप से मनाया करते थे। अतः, तर्क के अनुसार, मातृदेवी-पूजा के मूल स्थल चतुष्पथ (चौराहे) ही हैं।

व्यापार मार्ग

इस इस विषय पर महज अटकलबाजी नही बल्कि कुछ ठोस विचार किया जा सकता है। यदि प्रागैतिहासिक पथो की रूपरेखा वही थी, जो ऊपर प्रस्तुत की जा चुकी है, तो यह बात बिलकुल तर्कसंगत होगी अगर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचें कि कतिपय परवर्ती व्यापार मार्ग तथा आधुनिक पथ उन्ही रास्तों मे से ही कुछ के विकसित रूप हैं। किंतु आधुनिक पथों को हम ऐसे विकास की नितांत आवश्यक परिणति नही कह सकते, कारण बस्तियों का अपनी जगह मे हटकर नीचे घाटी से, नदी किनारे, बसना तो उसी क्रम से हुआ जिस क्रम से जंगल साफ होते गए। ऐसे स्थान परिवर्तन के चलते निश्चित प्रमाण की उपलब्धि जरा मुश्किल हो गई है। फिर भी पुराने और नए रास्तों में जो चीजें उभयनिष्ट है, खासकर दर्रे वे हमारी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं। कर्सबले, थाणला, भाजा, कार्ले, बेड्सा और जुन्नर स्थिति महान बौद्ध गुफा विहारों ने (जो सबके सब-पहाडी दरो के पास अवस्थित है) मुख्य-मुख्य व्यापार मार्ग निसंदेह निर्धारित हो जाते हैं, खासकर जब हम देखते हैं कि मध्यवर्ती लघु गुफाएं भी उन्ही रास्तो में पडती है। तर्कसंगति यही कहती है कि उस इलाके में हल प्रयोगी गावो के स्थिर रूप मे बसने के पूर्व वहां जो भी लोग रहते थे उनका अधिकतर आवागमन जिन रास्तों से होता था, व्यापारी लोग भी उन्ही रास्तो से गुजरते होंगे। अहिंसा तथा शातिपूर्ण सामाजिक व्यवहार का प्रचार करने के लिए इस वन्य प्रदेश में प्रवेश करने वाले बौद्ध भिक्खुओ ने, जो मात्र भिक्षाजीवी ही नही अपितु कुशल अन्न संग्राहक भी थे (तुल० सु० नि० 239 एवं आगे तथा अनेक जातक कथाए), आरंभतः इन्ही पथों का अनुसरण किया होगा ताकि अधिकाधिक संख्या मे जंगली लोगो से मिला जा सके। उनका धर्म रक्तबलियां बंद करने पर जोर देता था, इसलिए, बहुत मुमकिन है कि वे अपना धर्म प्रचार इन पूजास्थलों मे ही करते हो। अत. ये पूजाए और प्रधान बौद्ध गुफाए, जो स्पष्टतः व्यापार महामार्गों के संगम स्थलों पर स्थित हैं, दोनों के बीच कुछ ऐसा प्रकट संबंध होना चाहिए जो कि व्यापक रूप मे अन्नोत्पादन प्रारभ होने के पश्चात मार्गों के परिवर्तित हो जाने पर भी पूर्णतः अभि-

लोपित कभी नही हो पाया। वास्तव मे बात है भी यही।

यमाई देवी की एक प्रतिमा है जो बेड्सा विहार गुफा मे हलकी उकरी हुई है (चित्र 3.4)। वर्ष में एक बार, नवरात्र मे, उस गुफा के सामने एक बकरा उसे बलि चढ़ाया जाता है। कभी-कभी कोई मानता उतारने के लिए, अथवा इस डर से कि बहुत दिन तक उपेक्षित रह जाने पर यमाई देवी निश्चय ही दुःस्वप्न देकर सोना हराम कर देगी, अपनी सुख-शांति के लिए, गांववाले उसे मुरगा या आमतौर पर नारियल चढ़ाते है। इसके बावजूद, गांव में इस देवी का कोई मंदिर नहीं है, हालांकि अगर होता तो वर्षाऋतु में यह लोगों के लिए बहुत अधिक सुविधाजनक होता। यों, मदिर उस गाव मे है जरूर, लेकिन वे अपेक्षाकृत अधिक सभ्य और आमतौर पर पूजे जानेवाले देवताओं के हैं। कार्ले मे गुफाओं मे ही, न कि नीचे गाव मे यह देवी बने

3.4 बेदसा की यमाई

सोन कोली मछुओं की कुलदेवी के रूप मे स्थापित है। ये मछुए अपनी मनौतिया मानने, देवी को पूजने और अपने बच्चे उस पर निछावर करने के लिए दूर-दूर से चलकर वहां आते हैं। (इस देवी का स्थानीय नाम अंबाबाई और वेहेर-आई = गुफामाई है।) चूंकि उस पवित्र स्थान मे यह देवी उद्भूत प्रतिमा के रूप मे ही है, जो ठीक चैत्य के प्रवेश द्वार पर ही है, इसलिए यमाई देवी की विधिपूर्वक प्रदक्षिणा के लिए वृहत स्तूप की परिक्रमा की जाती है, न कि सामनेवाली उसकी उकेरी प्रतिमा की। यानी सोन स्तूप को ही साक्षात देवी मानते हैं, हालांकि इसका कारण उन्हें भी नही मालूम। हमेशा ही, जिस बच्चे के जन्म के लिए यमाई देवी की मनौतिया मानी जाती है, उस बच्चे को निश्चित रूप से स्तूप के प्रति प्रदर्शित किया जाता है। किसी स्तूप को (जिसे

आवश्यकतानुसार काट-छाटकर सुडौल बना दिया गया हो) शिवलिंग के रूप मे मान लेना तो स्वाभाविक है, जैसा कि कई अन्य मामलो में हुआ है, लेकिन इसका मातृ-देवी के रूप में मान लिया जाना तो विलक्षण ही है। भाजा की गुफाओ मे कोई पूजा प्रचलित नही है, कारण, कोई 50 बरस हुए वहा का छोटा सा गांव, जो पहाड़ी
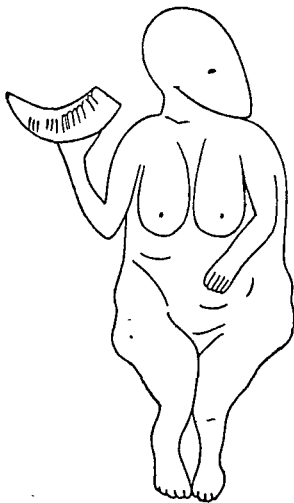
35 लाल रग की देवी (फ्रास)

ढलान पर स्थित था, अपनी जगह से हटकर निचान में आ बसा। इसी रास्ते पर, आगे थोड़ी दूर पर, भामचंदर में तुकाराम की गुफाएं हैं। मूलतः ये प्राकृतिक गुफाएं हैं जिन्हें अब, अधिकांशतः हाथ से काट-छाटकर, सामान्यतः मंदिर बना दिया गया है। इस बात की ओर किसी का ध्यान नही जाता कि यहां से दो मील दूर, नदी के नज-दीक जो गाव है उसकी सिंदूर पुती मातृदेविया आज भी वही अवस्थित है। अगली

भंडारा पहाड़ी पर (जहा तुकाराम ने भी ध्यान किया था) एक अच्छा लघुपाषाण-स्थल है जहा एक स्तूप और बौद्ध गुफाएं हैं जिनका उल्लेख न तो गजेटियर मे है न उनकी ओर पुरातत्वज्ञो का ही ध्यान गया। वहां पहले जो पूजा प्रचलित रही होगी वह तुकाराम और उनके विशिष्ट देवता विठोबा के प्रभाव से विलुप्त भले हो गई किंतु लघुपाषाण-पथ (के रूप मे उस पूजा का अनुचिह्न) तो आज भी बहुत समीप ही अवस्थित है। फर्गुसन कालेज, पूना के मैदान मे जो गुफा-मदिर है (जिसे पुराने जिला गजेटियर मे गलती से एक दूसरी पहाड़ी पर अवस्थित दिखाया गया है) वह मूलत, लगभग निश्चय ही, बौद्धों का विहारकोष्ठसमूह था। उसके ठीक ऊपर हनुमानजी का एक छोटा सा मदिर है जो पहले पेंशनभोगियो के वेताल का पूजास्थल था। इस मदिर के समीप लघुपाषाण प्रचुर परिमाण मे उपलब्ध है, और गुफाओ के नीचे तो और भी बेहतर लघुपाषाण और अधिक सख्या मे है। इन सभी मामलों में, प्रत्यक्षत सही तो यही प्रतीत होता है कि विहारो के निर्माण के पूर्व वहा मातृदेवी-पूजा प्रचलित रही होगी, लेकिन इस बात को साबित करना कठिन है।

सबसे दिलचस्प समष्टि (कम्प्लेक्स) तो जुन्नर मे है, जहा अनेक व्यापारमार्गों का सगम था। इस जीर्ण हो रहे नगर के इर्द-गिर्द चार वृहत गुफा समूह हैं। इनमें से एक है गणेश लेणा समूह, जिसमे कोई छोटी देवी प्रतिष्ठित है। वहा की वृहत्तर गुफाओ से एक मे (आदिवासीय अष्टविनायक देवो मे से एक) गजानन गणेश देव का आधुनिक मंदिर बन जाने पर उसकी आबताब ने उक्त देवी को श्रीहीन कर दिया। *गणेश तो आखिर महायान देवगण में दाखिल कर लिए गए थे*, इसलिए, इस गणेश को

जो आखिर महायानदेवगण मे दाखिल कर लिए गए थे, इसलिए इस गणेश को जो विशेष महत्व प्राप्त है उसे देखते हुए भी अगर इस बात पर जोर दिया जाए कि ये गुफाए प्राचीनतर (मातृदेवी) पूजास्थल थी तो इससे काम नही चलेगा। तुलजा गुफाओ मे भी तुलजा देवी की एक आधुनिक प्रतिमा इसी प्रकार सन्निविष्ट है। किंतु मानमोडी पहाड़ी पर हम पाते है कि अनूठी आदिम देवी *मानमोडी यहा* की एक गुफा मे पूजी जाती है, और यह तो हम जानते ही है कि यह नाम कम से कम उतना ही पुराना है जितनी ये गुफाए। एक शिलालेख मे उस धर्मसंघ का उल्लेख है जो मानमकुड मे रहता था। स्मरणीय है कि प्राकृत उच्चारण शैली मे 'क' का उच्चारण 'अ' की तरह होता है, अत यह मानमकुड वस्तुत मानमोडी ही है। तुलजा और गणेश के विपरीत, यह देवी अन्यत्र किसी प्रसग मे उपलब्ध नही है। सम्प्रति वस्तुतः एक साथ तीन बौद्धोत्तर प्रतिमाओ की पूजा की जाती है जिन्हे गजेटियर के लेखको ने जैन तीर्थंकर आदिनाथ और नेमिनाथ तथा उनकी सहवर्ती देवी अंबिका की प्रतिमाओं के रूप में परिलक्षित किया है। इन तीनों को इकट्ठे मनमोडी (कभी-कभी अंबिका) कहा जाता है और ग्रामीण लोग, बिना किसी भेदभाव के इसी रूप में इनकी पूजा करते है,। इस नाम का शाब्दिक अर्थ है ग्रीवा-भंजक जिसमे हमे सहसा, आठ मील दूर, सलग्न 'आर' घाटी मे अवस्थित कवडदरा (कपाल-विदारिका) देवी की याद हो आती है।

जुन्नर स्थित गुफाओं का चौथा वृहत समूह तो और भी दिलचस्प है। इन गुफाओ का सिलसिला उस खडी चट्टान के पार्श्व मे है जिसकी चोटी पर शिवनेरी दुर्ग अवस्थित है। इस गढ के नाम की व्युत्पत्ति शिवाबाई से है। शिवाबाई एक आदिम देवी है जो बाहरी किलेबंदी के भीतर (यवन चिट द्वारा उसकी ओर से दान मे दिए गए भोजनकक्ष के समीप ही) एक पुरानी बौद्ध गुफा मे प्रतिष्ठित है। इस अत्यंत लोकप्रिय स्थानीय देवी के कोई देवता पति नही हैं, यह अकेली है। इसकी आधुनिक

3.6 हड्डी पर उत्कीर्ण देवी की मूर्ति (यूरोप के प्रस्तर युग की)

प्रतिमा (जो महिषासुरमर्दिनी के रूप में है) किसी मानव रंगमंच अभिनेत्री के अनुकरण मे गढी गई होगी, विशेषता सिर्फ यह है कि बाहे दो से ज्यादा हैं। मूल अनगढ प्रतिमा, जो सिंदूर पुती थी और जिसमें आंखें चित्रित थी, 1974 मे एक रात किसी धर्मांध कलाकृति ध्वंसक ने चूर-चूर कर दी, लेकिन चूर्ण रूप मे उसका प्रतिरूप आज भी मौजूद है। संस्कृत शब्द शिवा अनेक वनस्पतियों का द्योतक है जिनमें एक पवित्र शमी वृक्ष भी है। शिवा का एक अर्थ सियारिन भी होता है। जिन पुरोहितों से मेरी मुलाकात हुई उन्होने तो नही बताया कि इसका शिव से कोई सबंध है, किंतु अमरकोश 1.1.39 में पार्वती की नामावली मे शिवा या शिवी का भी उल्लेख है। यह संबंध उतना तर्कसंगत नही है जितना प्रथमदृष्ट्या प्रतीत होता है, क्योकि उसी श्लोक में पार्वती को

भवानी, शर्वाणी और रुद्राणी भी कहा गया है। वैदिक रुद्र (भयानक) ही शायद आगे चलकर शिव (मंगलमय) हो गए, किंतु भव और शर्व तो बिलकुल सुभिन्न, दो अन्य वैदिक देवता हैं। उच्चस्थानीय आदिम देवी को अलग-अलग अनेक आर्य देवताओं की पत्नी के रूप में मान लिया गया और तब इन (विभिन्न) पतियों को एक दूसरे से अभिन्न समझा जाने लगा। अगर यह पूजा-पद्धति पाशुपतों की चलाई हुई होती, जो उत्तर भारत के बौद्ध विहारों में बलात घुस पड़े थे, तो पुरुष-देवता की कोई प्रतिमा प्रतिष्ठित हुई होती और यह देवी भी महज एक अनगढ़ प्रस्तर पिंड के रूप में नहीं रही होती। आधुनिक इतिहास के रंगमंच पर इन गुफाओं का प्रवेश 1929-30 में होता है। एक मराठा सरदार, जो अहमदनगर, बीजापुर और दिल्ली की मुगलमानी सल्तनतों के बीच राजभक्ति की सौदेबाजी का खतरनाक खेल खेलने में लगा था, अपनी गर्भवती पत्नी को आप अपनी बुद्धि और भाग्य के भरोसे जुन्नर में अकेली छोड़ गया। वह एक कुलीन और स्वाभिमानी महिला थी, आप अपने मायके लौट जाती तो कैसे? दूसरे, वह अपने पति के विरक्त भाव से भी अनभिज्ञ थी (वस्तुत: दो वर्ष बाद उसके पति ने दूसरी पत्नी भी कर ली)। अत: उसने उपर्युक्त गढ़ में आश्रय ग्रहण किया और वहां की देवी (शिवा) से एक और पुत्र प्रदान करने की प्रार्थना की। ऐसे संकट समय में उसकी ऐसी प्रार्थना के फलस्वरूप उसके एक पुत्र पैदा हुआ जिसका नामकरण, जैसा कि बखर-गण बताते हैं, उक्त देवी के नाम पर हुआ। यही बालक आगे चलकर प्रसिद्ध मराठा शिरोमणि छत्रपति शिवाजी हुआ। भवानी, जो अमरकोश के अनुसार शिवा का ही दूसरा नाम है, शिवाजी की आजीवन संरक्षिका बनी रही।

इन विहार गुफाओं के अभिलेखों से पता चलता है इनका सरक्षण और प्रचुर धर्मदायपूर्वक संपोषण अधिकांशत व्यापारी लोग ही करते थे जिनमें अनेक दूर-दूर के निवासी थे। वास्तव में, ये गुफा विहार बड़े महत्वपूर्ण ग्राहक ही नहीं अपितु व्यापारियों के लिए बड़े साहूकारे (बैंकिंग-हाउस) और पूर्ति केंद्र भी थे। इनके लिए स्थल आदिम पथों के संगम पर निर्धारित किए गए थे जो प्रधान व्यापार मार्गों के चतुष्पथ (चौराहे) बन गए। एक और बात थी जिससे भिक्खुगण ऐसी ही जगह चुनने को प्रेरित होते थे, और वह थी बर्बर पूजा-पद्धतियों की निकटस्थता, क्योंकि बौद्ध धर्मसंघ का एक प्रधान लक्ष्य था समझा-बुझा कर अनुनय-विनयपूर्वक समस्त कर्मकांडी हिंसा का अंत करना। पुरातन बौद्ध धर्मग्रंथ सुत्तनिपात (सु० नि) से इस बात की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। भिक्खु के लिए यह व्यादेश (ताकीदी हुक्म) है कि भिक्षाटन को छोड़कर अन्य किसी प्रयोजन से वह किसी ग्राम या नगर में प्रवेश न करे। रात को वह किसी गिरि पर, गुफा में, गांव से बाहर किसी एकल वृक्ष के नीचे अथवा श्मशान (सुसान, तुल० सु० नि० 958) के पास वास करे। गौर करने की बात है कि ये ही वे जगहें थीं, जहां दारुणतम अनुष्ठान संपन्न किए जाते थे। वास्तव में, भिक्खु को साफ-साफ जता दिया गया है कि विलक्षण पूजापंथियों से, उनके भयानकतम अनुष्ठान देखकर भी, वे भयभीत न हों। जो बहुजनहिताय धर्ममार्गी है उसे ये और इस तरह के

दूसरे-दूसरे खतरे झेलने ही चाहिए (सु० नि० 965)। इस संबंध मे बुद्ध ने आप अपने आचरण से उदाहरण उपस्थित किया था, उन्होने ऐसे पूजास्थलों के निकट कितनी-कितनी रातें बिताकर रक्तपिपासु पिशाचो को जिन्हें बलिया दी जाती थी, धर्ममार्ग में दीक्षित किया था (सु० नि० 153-192)। प्राचीन बौद्धमत की आर्थिक सफलता सुविस्तृत और दिन-दिन बढ़ती जाती वैदिक पशुबलियों के सफल विरोध का ही परिणाम थी। जब गुफाएं परित्यक्त हो गईं, बौद्ध विहार वहा से उजड़ गए, तब आदिम पूजापद्धतिया पुन. प्रचलित हो गईं। कुछ जगहों मे, जैसे मानमोडी में, पूजी जानेवाली देवी का मूल नाम भी अभिज्ञेय है। बहरहाल, बौद्धमत की छाप बिलकुल मिट नही गई। जुन्नर गुफाओ मे दो विशेष देविया ऐसी हैं जिन्हे किसी भी प्रकार की रक्तबलि सह्य है ही नही। कार्ले मे, बलिपशु को यमाई देवी की प्रतिनिधि आकृति सामने दिखा भर दिया जा सकता है किंतु उसका वास्तविक वध तो उसे वहा से काफी दूर ले जाकर करना होता है।

धर्मसघ ने मूल आर्थिक परिवर्तन उपस्थित किए। भारतीय बौद्ध विहारो को यह श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने भूमि व्यवस्थापन (जमीन का बदोबस्त) किया (जैसा कि चीन के भी कई भागों मे हुआ)। यह बंदोबस्त उन्होने या तो सीधे किया या गुफा विहारों से सहयुक्त व्यापारियो का व्यापार करने वाले ऐसे जनजातीय सरदारों की मारफत, जो राजा बन बैठे। लेकिन इस बात से इंकार नही किया जा सकता कि ये विहार उस विशेषोपयुक्त संकेंद्रित सुदूर विलास व्यापार से ही बधे रहे, जिसके बारे मे हम पेरिप्लस में पढते हैं। यह व्यापार लुप्त हो गया और इसकी जगह ले ली बसे हुए गांवो के साथ सामान्य और सरलतर स्थानीय वस्तु विनिमय ने। बौद्ध विहार भी, अपना आर्थिक तथा धार्मिक कृत्य संपन्न करके, लुप्त हो गए। जिन लोगो को उन्होंने वन्यावस्था से ऊपर उठने मे सहायता दी थी (हालाकि आज भी पश्चिमी घाटों मे बहुतेरे आदिवासी विद्यमान हैं), जिन लोगों को उन्होंने अपने उपयोग के लिए पहले-पहल एक ग्राम लिपि और एक ग्राम भाषा दी थी, लोहे का और हल का उपयोग बताया था, वे लोग अपनी आदियुगीन पूजापद्धतियो को कदापि नही भूल पाए।

एक और उदाहरण एक दूसरे क्षेत्र से लिया जाए। पालि साहित्य में दिए विवरण के अनुसार, बुद्ध का जन्म लुम्बिनी वन नामक पवित्र साल निकुज मे हुआ था (जातक, अविदूरेनिदान : लुंबिनि वन नाम मङ्गल साल वनं, अंग्रेजी अनुवाद मे वन के लिए 'गार्डन' शब्द असमीचीन है)। उनकी मा उस समय संभवतः कपिलवस्तु से अपनी मायके देवदह जाने के रास्ते में थीं। कपिलवस्तु नगरी अवश्य ही नेपाल सरहद पर पिप्रह्वा मे अवस्थित रही होगी, कारण प्रसिद्ध धातु-मंजूषा (चित्र 3.7) वहीं बुद्ध की स्मृति में निर्मित शाक्य स्तूप मे, मिली है। नेपाल सरहद के भीतर पडरिया स्थित अशोक स्तंभ के लेख मे लुंबिनि गांव को, इस कारण मे कि 'यहां बुद्ध शाक्यमुनि पैदा हुए', बलि (कर) से मुक्त घोषित किया गया है। निकटतम आधुनिक गांव उक्त स्थल से एक मील से भी ज्यादा दूर है। हालांकि उस विशाल कछारी मैदान मे पर्वत और

घाटी की कोई समस्या ही नहीं है, और यह भी स्पष्ट नहीं है कि गांव वहां से हट क्यों गया। आज भी यह जगह रुम्मिनदेई कहलाती है, जिसका उत्तरपद 'देई' देवी का ही विकृत रूप है। अशोक स्तंभ के पास जो छोटा सा देवमंदिर है, जिसमें बुद्ध के जन्म के समय माया का चित्र अंकित है, उसे गाव वालों ने रुम्मिनदेई का मंदिर मान लिया। अतः, इस सदी के आरंभ में भी, स्थिति यह रही कि माया देवी को लाल सिंदूर और कभी-कभी रक्तबलियों से रंजित कर लुंबिनी या रुम्मिनि देवी के रूप में पूजा जाता रहा, जिसे देखकर धर्मनिष्ठ बौद्ध लोग, जिनमें मेरे पिताजी भी थे, घृणा से भर जाते रहे। माजरा क्या है? बात तो साफ है, अगर यह ख्याल में रहे कि हम
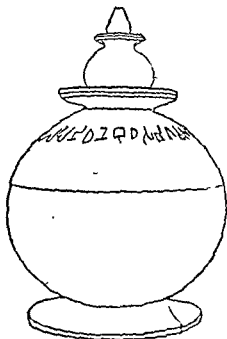
3.7 पिप्रहवा-कलश, संभवतः बुद्ध के कपिलवस्तु वाले अवशेष

करते क्या हैं। तथ्य यह है कि मायादेवी 'देवी' के निकुंज की ओर गई जो (सावत्थि या देवदह से कपिलवस्तु और अंततः कुसिनारा, वेसालि, पटना और राजगीर को जाने वाले) मुख्य मार्ग पर पड़ता था। इसके अतिरिक्त यह निकुंज दो मार्गों के चौराहे पर भी पड़ता था। यह दूसरा मार्ग, जैसा कि फाहियान ने बताया है, पूरब की ओर नौ योजन पर अवस्थित राम ग्राम नामक मुख्य कोलिय नगर को जाता था। माया को जरूर महसूस हुआ होगा कि प्रसवकाल सन्निकट है, अतः वह देवी को प्रणाम करने और उनसे विशेष रक्षण प्राप्त करने गई। देवी का रक्षण तो पर्याप्त सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि अपने अप्रतिम पुत्र को जन्म देने के बाद सातवें दिन उसकी मृत्यु हो गई, लेकिन

यह अवश्य हुआ कि उसी को वहां की देवी मान लिया गया जिसके नाम पर वह पूजा पाने लगी । पूजित होने की यह स्थिति स्पष्टतः वैसी ही है जैसी पूर्वोल्लिखित सती आई और जाखाई की । इस संबंध में यह संयोग भी हमारे खयाल को पकड़ता ही है कि बच्चे को जन्म देने के बाद खतरनाक छठी रात के दूसरे दिन ही मां की मृत्यु हो गई । म० नि० 101 पर पञ्चसूदनी भाष्य के अनुसार, देवदह गाव लुंबिनि निकुंज के लगे ही था, और वास्तव में उसका यह नाम उस कमल सरोवर के कारण पड़ा था जिसमें शाक्य लोग अभिषेक धर्मानुष्ठान के लिए स्नान करके पवित्र हुआ करते थे । यह अनुश्रुति एकरूप और निर्विवाद है कि प्रसव के ठीक पहले माया ने उक्त पवित्र पुष्करिणी मे स्नान किया । किस खास मतलब से उसने ऐसा किया, अब साफ जाहिर है ।

जातक

इस प्रकरण में मुख्यतः अनुपूरक जानकारी दी गई है जो बौद्ध जातकों से ली गई है, कारण, साहित्यिक स्रोतों को पुरातत्वीय आविष्कार और वर्तमान परंपरा से मिलाकर जाच लेना मौजूदा नोट का एक बड़ा प्रयोजन है । जातकों (जन्मकथाओं) को इस अध्याय मे आद्यंत पाद टिप्पणियों के रूप मे न बिखेरकर एकत्र एक पृथक् प्रकरण में चर्चित करने का कारण उनकी पुरातनता और अविकल नवसंस्करण है । मसलन, वे कथासरित्सागर से प्राचीनतर तो है ही, सामान्य जनजीवन के समीपतर भी हैं । जाहिर है कि अपने वर्तमान रूप मे (अर्थात, फाउसबोल का मानक संस्करण, जिसका निर्देश 'जा०' अक्षर से किया गया है, जिसके पश्चात जातक की संख्या दी गई है) ये कथाएं तत्समय मुख्यतः सिंहली में मौजूद एक कथासार संग्रह से पुनः पालि में अनूदित कर दी गई हैं । सिंहली जातक कथाओं के स्रोत वे उत्तरी प्रलेख हैं जिन्हे आद्य भिक्खुगण अपने साथ दक्षिण ले गए । परवर्ती संस्करण, जा० 466, 535 और 536 मे नारियल (नालिकेर) के निर्देश से, अनुप्रमाणित है । इन कथाओं मे से प्रथम और तृतीय मे इसका उल्लेख उर्वर भूमि के द्योतक अन्य वृक्षों के साथ किया गया है । द्वितीय कथा में कृपण के अनुपयोगी धन की तुलना कुकुर को प्राप्त नारियल से की गई है । नारियल की प्रसिद्धि आंध्र समुद्रतट पर ई० पू० पहली सदी के करीब ही हो पाई थी, और पश्चिमी समुद्रतट पर हद से हद 120 ई० तक । इसलिए, ऐसा मान लिया जा सकता है कि जातक सातवाहन राज्यकालीन परिस्थितियो से प्रभावित हैं, और उनके ऐतिहासिक विवरण मे तत्कालीन प्रचलित परपरा समाई हुई है । कुछ मामलो मे, सामाजिक परिस्थितिया बुद्ध के समय से बहुत ज्यादा बदल गई थी, स्वय बौद्धमत का उत्थान ही ऐसे परिवर्तन का प्रमाण है । अस्तु, हमे जिस वस्तु से मतलब है उसमे से पर्याप्त प्रामाणिक ब्यौरे हम मजे में चुन ले सकेंगे ।

प्रत्येक मामले मे, यह समाधान कर लेना आवश्यक है कि तद्विषयक कोई विशेष विवरण मूल कथा के लिए अपरिहार्य है या नही, और यह कि वर्णित पर्यावरण स्पष्टतः दक्षिणी है या नही, जैसा बुद्धकालीन बिहार मे कदापि नही रहा होगा । जब

कभी स्वतंत्र उत्तरी प्रमाण पुष्टि सभव हो, समझ लीजिए कि कथा बहुत ही पुरानी है और उसका मूल उपादान प्राग्बौद्धकालीन है। उदाहरणार्थ, एक पुराने शब्द लञ्च को लीजिए, जातक समूह में इस शब्द का विशिष्ट प्रयोग किसी अधिकारी द्वारा ली जाने वाली घूस के अर्थ मे हुआ है। लेकिन घूस का चलन तो उस युग से बहुत पहले की चीज है। कुछ रिवाज, जिन्हे कथाओ द्वारा निर्देशष्ट किया गया है, अवश्य ही पुराने है। उदाहरणार्थ, यह असंभव है कि जा० 136 की मौजूदा कथा मे बौद्ध भिक्षुणियो के लिए लहसुन का निषेध स्वयं बुद्ध ने लागू किया हो। राज्याभिषेक के समय उदुंबर
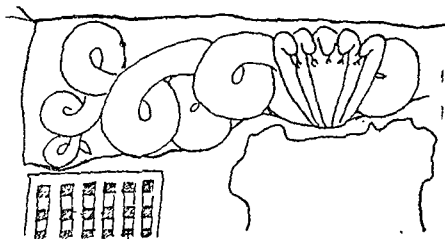
38 कोडरी द्वार के ऊपर नाग (थाणल)

काष्ठासन का उपयोग और शंख से जलसेचन किसी शूकर के पराक्रम और चातुर्य के परिणाम नही हो सकते। लेकिन, प्रचलित तो ये दोनो प्रथाएं थी ही। जा० 253 मे महाफणी मणिकठ नाग की चर्चा हमे मध्य भारत की मणि नाग पूजा की याद दिलाती है जो बहुत से मध्यकालीन ताम्रपत्रो ने अंकित मिली है और जो जाहिरा तौर पर अभी (राजगीर तक मे) प्रचलित है, यह समव नही है कि इसकी चर्चा महज एक सिंहली क्षेपक के रूप मे जोड़ दी गई होगी। फाहियान ने लिखा है कि सकास्या महाविहार में (और उसी तरह कई अन्य विहारों मे - देखें चित्र 38) वहा के संरक्षक नाग को विशेप रूप से पूजित किया जाता था, खास-खास दिन, भिक्खुओं के अहिंसक उपहार स्वीकार करने के लिए विशाल नाग एक लघु श्वेतसर्प के रूप में स्वयं उपस्थित हुआ करता था। दूसरी ओर, बदरो को मारने और उनका मास खाने की, यहां तक कि ब्राह्मण द्वारा भी भक्षित होने की (जा० 528, जा० 516, और जा० 177), नैमित्तिक चर्चा क्यो की गई है इसे स्पष्ट करना कठिन है, खासकर इस लिहाज से कि एक सुप्रसिद्ध ब्राह्मण सिद्धांतसूत्र है पञ्च, पञ्च-नरक भक्खा—जिसे जा० 536 मे दुहराया गया है और जिसके अनुसार बदर का मास निषिद्ध है। अधिकांश भारतीय यह जानकर कितना सन्त्रस्त हो उठेंगे कि जातक अनुष्ठान तो पञ्चन्तगामे (दूरस्थ

गांवों मे) चलता है। किंतु निम्नतम भारतीय जनजातिया (जिनमे कुछ काथकरी भी शामिल हैं) आज भी बंदर मारती और खाती हैं।

यात्रा आरंभ करने वाले व्यापारी (जा० 19) किसी देवता को पशुबलि प्रदान करते थे, और यात्रा सफल होने पर और भी बलि देने की मनौती मानते थे, ऐसी मनौतिया नियमित रूप से उतारी जाती थी। जाहिर तौर पर, ऐसे देवी-देवता गाव से बाहर किसी पेड से सहयुक्त, और कभी किसी निकुंज या घने वन में हुआ करते थे। जा० 113 में बताया गया है कि लोग चौराहो (चच्चर-रच्छा) पर यक्खगण को कटोरों या खप्परों मे मत्स्य, मांस और मद्य की बलि चढाते है, यह वैसा ही है जैसा रुद्र तथा प्रेत-पिशाचो के लिए बलि प्रदान। (जा० 77 में बताया गया है कि कोसल के राजा प्रसेनदि ने जब एक ही रात मे सोलह अमंगलसूचक सपने देखे तब बडा डर गया, ब्राह्मणों ने उसे व्यापक रूप से हरेक चौराहे पर रक्तबलिया (यञ्ञ) सपन्न करने की सलाह दी। स्थल का विशेष निर्देश उक्त कथा मे भले नही है, मगर सार्वजनिक पुण्य कार्यों के लिए प्राय बड़े चौराहे ही चुने जाते थे (जा० 31), और दंडादिष्ट अपराधियों को चौराहो पर ही खुले आम कोडे लगाए जाते थे। वास्तव में यक्खगण अकसर ऐसे लोगों को (असावधान व्यापारियो को भी) चट कर जाते थे जो कुछ ऐसे स्थानो मे प्रवेश करते थे जिन्हें यक्षों के मुखिया वैस्सवण ने एक खास यक्ख (यक्ष) या यक्षिणी को दे रखा था। अनेक जातक कथाओ में वर्णन मिलता है कि बोधिसत्व ने किस प्रकार ऐसे प्रेत-पिशाचों को ऐसा बदल दिया कि वे सरलतर आहार ग्रहण और दयालुतर जीवनयापन करने लगे, जिसका अर्थ कीजिए तो यही माने निकलता है कि बुद्ध के समय से पहले नर बलि का आम रिवाज (सिर्फ वनजातियो के बीच रह गया था, अन्यत्र) उठ चुका था। जा० 353 मे वर्णन है कि तक्षशिला पर घेरा डाले हुए योद्धा राजा ने अपनी असाधारण क्रूरता का परिचय देते हुए एक निग्रोध वृक्ष (फिकस इंडिका) के देवता के आगे क्षत्रिय बंदियो को इस उद्देश्य से बलिदान कर दिया कि उस घिरे शहर पर कब्जा हो जाए। बंदियो की आखें निकाल ली गईं, बगलें चीर दी गईं, आतें पेड पर टाग दी गईं, पाच अगुल खून पेड के तने के पास ढरकाया गया (अथवा, देहाती देवमंदिरो के 'पाच पाडव' के समान, रक्त से पांच अगुल चिह्न बना दिए गए), और पांच प्रकार के नरमास (देहाग) उक्त देवता को विशेष रूप से चढाए गए। जा० 537 मे वर्णित है कि कंमासदंम नामक विपणि-नगर के बाहर स्थित निग्रोध वृक्ष को भी इसी तरह बलि चढाई जाती थी, लेकिन बाद मे इस पर पाबंदी हो गई, सरलतर 'मुख्य' वस्तुए ही चढाने का हक रह गया। कंमासदंम कुरुभूमि (दिल्ली मेरठ) मे अवस्थित था। इतिहास बताता है कि गौतम बुद्ध ने वहां उपदेश किया था। (दीघ निकाय 15 और 22 तथा मज्झिम निकाय 75 और 106)। समुचित बलिया पाने के ज्येष्ठ अधिकारियों के रूप मे, वशीकृत प्रेत-पिशाचो के लिए पूजा स्थापन की रीति की पुष्टि जा० 398 से भी होती है, जहा मखादेव नामक एक उसी तरह के पेड के पिशाच को, बलि पाने के लिए नगर द्वार से बाहर

स्थापित कर दिया जाता है, और ऐसी पुष्टि जा० 6, जा० 155 इत्यादि से भी होती है। किंतु नरबलि, कुछ विशिष्ट प्रयोजनों के लिए एक अनिवार्य उग्र उपाय के रूप मे, दी जाती ही रही। जा० 481 में उल्लेख है कि राजा नगर द्वार की नीव पर एक ब्राह्मण की बलि देने का आदेश देता है, यह एक ऐसी प्रथा है जो किंचित परिवर्तित रूप में 18वीं सदी तक चलती रही। इसमें संदेह नहीं कि दक्षिण में जो भिक्खु थे वे इन कथाओं के ऐसे पूर्ववर्ती वृत्तांतों से अवगत थे जिनसे उन्हें गुफा स्थलों के समीप देवियों को दी जाने वाली पशुबलि के, और शायद नरबलि के भी, खिलाफ प्रचार करने के लिए और अधिक प्रेरणा प्राप्त होती थी। बहरहाल, ऐसी देवी के लिए, वहां से अनतिदूर, दूसरी जगह पर कम वीभत्स पूजा की व्यवस्था कर दी जाती थी, जैसे, फाहियान वर्णित संकास्या के नाग की।

पेशेवर हथियारबंद मार्ग दर्शक, जिन्हें सार्थ (कारवां) को बीहड़ पार कराने के लिए भाड़े पर लिया जा सकता था, तब भी मौजूद थे जब जा० 265 को लिपिबद्ध किया गया था। यह जैमिनीय ब्राह्मण 2.423-4 की परंपरा है जिसमें खास-खास इलाके मे खास-खास दूरियों तक मार्गरक्षण करने वाले ऐसे मार्ग दर्शकों का उल्लेख है। तुल० ड्ब्ल्यू० राउ स्टाट उंड गेमेलशाफ्ट इम अल्टेन इंडियेन; विसबाडेन 1957, पृ० 50, पृ० 52)। उस समय के ब्राह्मणों द्वारा अपनाए जाने वाले तरह-तरह के निकृष्ट पेशों में (जा० 495, श्लोक 255-256) एक था हथियार हाथ में लेकर सार्थ (कारवां) का मार्ग रक्षण करना ' असि चम्मं गहेत्वान खग्गं पग्गय्ह ब्राह्मना। वेस्स पथेसु तिट्ठन्ति, सत्थं अब्बाहयन्ति च। समा गोप निसादेहि कहलाते हैं, जिसका मतलब भाष्यकार और अनुवादकों की समझ में नहीं आया, अर्थ कर दिया 'चरवाहे और बर्बर'। सही माने मे जैमिनीय ब्राह्मण के अंशों से सुस्पष्ट हो जाता है; ये ब्राह्मण 'उन लोगों'—जैसे हैं जो वन्य बर्बरों से (सार्थों की) रक्षा करते है। कारवांवालो की वन्य प्रदेश में उन लुटेरों के आक्रमण का खतरा रहता था जिनकी मौजूदगी का, उनके द्वारा परित्यक्त पाषाण मुग्गर से, बाद में पता चलता था (जा० 76, 83, 441) इस संयुक्त शब्द को 'लगुड और पाषाण' का वाचक माना जाता है, किंतु अयो मुग्गर का अर्थ है लौह गदा, अतः पाषाण मुग्गर को (संभवत जा० 220 मे भी) 'पाषाणशीर्ष गदा' का ही द्योतक होना चाहिए, अर्थात वह मूठदार कुठार जिसके जंगली लोगों द्वारा काम में लाए जाने की बात उस समय भी ज्ञात या याद थी जब जातक कथाएं पहले-पहल लिपिबद्ध की गईं, हालांकि जाहिर है कि इनके पुनरीक्षण के समय तक वह वस्तु विस्मृत हो चुकी थी, और भाष्यकारों को उसकी जानकारी तो नहीं ही थी।

यह अतिमोल्लिखित वस्तु इसीलिए कुछ महत्व रखती है कि मिर्जापुर की क्लाइल आल्चिन गुफाओं मे (मैन 58. 1958. 207, पृ० 153-5) क्षेपणीय चक्र का चित्र (चित्र 1. 17) अंकित मिला है, जैसे, परसु-वसूला (वासि फरसुकम, जा० 196) और तलवार तथा संयुक्त बनछामश्रृंग धनुष (अर्थात ऐसे धनुष जिनके अवयव आसानी से पृथक किए जा सकें) (जा० 181) के सुवियोज्य नमूने। खुरधारं चक्कावुधम

(छुरे की धारवाले चक्रायुध) का उल्लेख दो ही जगह हुआ है : एक तो समस्त जातकों की प्रस्तावना में उस प्रसंग में जब बुद्ध सम्बोधि (पूर्ण ज्ञान) प्राप्त करने वाले हैं कि शत्रु मार (जिसकी समता जा० 536, सु० नि० 439 मे 'नमुचि' से, और 'काले दानव' के रूप मे 'कृष्ण' से भी की गई है) उन पर यह चक्रायुध चला देता है, यह आयुध
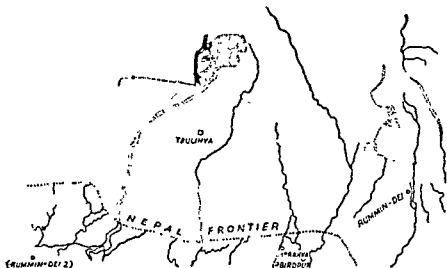
3.9 शाक्य इलाके का रेखाचित्री नक्शा

फूलमाला मे बदल जाता है जिससे उन्हे चोट नही पहुंच पाती, दूसरे, इसका उल्लेख वासुदेव कन्ह कथा, जा० 454 में हुआ है। अंयत्र इसका उल्लेख ही नही हुआ है, और हुआ भी है तो मात्र एक मायापूर्ण यातना उपकरण के रूप मे, जैसे, जा० 104 में, जहा यह चक्र किसी अतिलोभी अभागे के सिर पर नाचता है। उपर्युक्त चित्र में यह जो दिखाया गया है कि मिर्जापुर सारथी उस चक्र की नेमि पकड़े हुए है जिसे वह फेंकने ही वाला है, इसका मतलब यह निकलता है कि संपूर्ण नेमि (चक्र की परिधि) तीक्ष्ण नही थी, दूसरी ओर, अभागे व्यक्ति के सिर पर इस चक्र के कष्टप्रद रूप से चक्कर काटने का तात्पर्य है कि अरो के साथ-साथ तीक्ष्ण फलक भी थे, भले ही नेमि के किसी भाग मे धार हो या न हो। इस गुफा चित्रण का समय लगभग 1000-800 ई० पू० है, कारण, बुद्ध ने यहां धर्मोपदेश किया था और स्पष्टतः उनके समय तक यह इलाका दक्खिणागिरि (जा० 39, जा० 268, सु० नि० चौथा सुत्त) के नाम से बस चुका था।

इस प्रसंग से हमारा ध्यान रुमिन्नदेई की ओर खिंच आता है। ए० फ्यूहरर की एक कल्पित खोज को (जो बुद्ध शाक्यमुनिज बर्थप्लेस इन द नेपालीज तराई, इलाहाबाद, 1897, मे प्रतिवेदित हुई किंतु बाद मे जिसे परिचालित होने से रोक दिया गया) संशोधित करते हुए पी० सी० मुकर्जी ने (ऐन्टिक्विटीज इन द तराई, नेपाल, आर्के० सर० इ० इम्प० सीर०-26, भाग 1, कलकत्ता 1901 मे) एक सुचिंतित प्रति-

वेदन प्रस्तुत किया। उन्होंने लिखा है कि उक्त देवी 'कुछ ख्याति प्राप्त स्थानीय देवी है, जिसका साफ मतलब है कि यह नाम अनेक स्थानों मे पाया जाता है। वस्तुत:, उनके नक्शे मे एक दूसरी रुम्मिनदेई भारतीय राज्यक्षेत्र मे, सीमांत चौकी सं० 66 मे दक्षिण-पश्चिमी, लगभग पाच मील पर अवस्थित दिखाई गई है (चित्र 3.9 भी द्रष्टव्य)। बुद्ध के जन्मस्थान (पृ० 39) मे जो देवमदिर है वहा 'खाद्य, बकरे और मुरगे' चढाए जाते थे और शायद आज भी चढाए जाते हैं। इसी देवी का एक दूसरा स्थानीय नाम है 'रूपा देवी', अर्थात सुदर रूप वाली देवी। भले ही जातकों में इसका उल्लेख नही है, किंतु एक गूढ शब्द रूम्मी तो वहा मिलता ही है जो खासकर एक कराल योगिनी के रूप के लिए प्रयुक्त हुआ है (जा० 488, गाथा 118, फाउसबोल 6 194 भी)। संस्कृत रुक्म से इसकी व्युत्पत्ति तो संभव है किंतु रुक्मिन से नही। इसलिए, बहुत सभव है कि बहुतेरी जनजातीय मातृदेवियो के समान, वीभत्स और साथ ही सुंदर, किसी डरावनी देवी के लिए प्रयुक्त रुम्मिनी विशेषण ही लुंबिनी नाम का मूल रूप रहा हो। सुत्तनिपात के अनुसार, बुद्ध का जन्म 'लुंबिनी जनपद मे, शाक्यों के एक गाव में' हुआ था . सक्यान गामे जनपदे लुंबिनेय्ये (सु० नि० 683)। बच रहे प्राचीनतम बौद्ध प्रलेख मे उक्त गाव और उसके जनपद के नामों को एक दूसरे के लिए प्रयुक्त किया गया है, यह अदला-बदली एक तथ्य है जिसे मानते ही बनेगा। इसमे संदेह नही कि विडूडभ द्वारा साक्य लोगो के जनसंहार के बहुत समय बाद तक उक्त जनपद को, स्थानीय बोलचाल में, लुंबिनी देवी के नाम पर पुकारा जाता रहा। इसकी तुलना मामाला देवी के नाम पर पडे प्रादेशिक नाम मावल से की जा सकती है, जो सातवाहन अभिलेखों से कार्ले स्थित मामाला-हार मे द्रष्टव्य है। दोनों ही मामलों में, प्रतिनिधित्व अनेक अनगढ मूर्तियां से हुआ है। वास्तविक लुबिनी देवी के प्रतिनिधि तो पुरातन भग्न मूर्तियो के ढेर हैं, जिसमें बुद्ध-जन्म के दृश्यांश स्पष्टत. सम्मिलित हैं (चित्र 3.10)। किंतु मुकर्जी ने, सभवत· परवर्ती महावस्तु परपरा के अनुसार, बुद्ध की माता माया को कोलिय मान लिया। यह असभव है, क्योंकि शाक्य लोग इतने अभिमानी थे कि अपनी जनजाति से बाहर शादी-ब्याह कर ही नही सकते थे। उन्होंने राजा प्रसेनदि तक को, जो शाक्य कन्या से विवाह करना चाहते थे एक दासी कन्या देकर चकमा दे दिया, हालांकि अंत मे यह धोखेबाजी उन्हें काफी महंगी पडी। माया की बहन 'महाप्रजापती गोतमी' बुद्ध की सौतेली मा थी। शिशु बुद्ध का पालन उन्होंने ही किया था। उनके नाम से जो प्राचीन गाथाएं हैं उनमे उन्होंने अपने को शाक्य अञ्जन और उनकी पत्नी सुलक्खणा की पुत्री घोषित किया है।

प्राचीनतर पालि परपरा के समय, और बुद्ध के समय मे तो निश्चय ही, कोलिय लोग अपनी आदिम जनजातीय अवस्था से ऊपर उठ ही रहे थे। उनमें से कुछ बुद्ध के अनुयायी थे, और बुद्ध के अवशेष का एक भाग उन्हे भी मिला। बौद्ध आख्यानों के अनुसार, एकमात्र उन्ही का मूल धातु (अवशेष) स्तूप था जिसे अजातशत्रु और अशोक ने अक्षुण्ण रहने दिया। किंतु महापरिनिब्बाण सुत्त के अत मे दी हुई एक गाथा

मे यह कहा गया है कि बुद्ध के भस्मावशेष का जो अंश उन्हें प्राप्त हुआ था वह राम गाम नामक कोलिय मुख्यालय में नागो द्वारा पूजा जाता था, इससे स्पष्ट है कि कतिपय

3 10 बुद्ध-जन्म के प्रदर्शक उद्भुत मूर्तिखंड

कोलिय लोग आदिवासी ही बने रह गए। राम गाम रुम्मिनदेई स्तंभ से हद से हद 45 मील पूर्व, संभवत: निचली पहाडियों में, अवस्थित रहा होगा। किंतु, इस विषय में अवशेष खोजियों के स्तर से ऊपर उठकर कुछ सावधानी से पुरातत्वीय शोध की जरूरत है। जातकों मे जिक्र है कि शाक्य और उनके पड़ोसी कोलिय लोगों मे नदी जल के दिशा परिवर्तन को लेकर झगडा हुआ था (जा० 536)। एक बार तो यहा तक हुआ कि शाक्य लोगों ने नदी जल को विषाक्त कर दिया, हालाकि सभ्य समाज

ऐसे कृत्य को पाप समझता था और युद्धस्थिति मे ऐसा करना अनुज्ञेय नही था। जा० 536 मे उल्लिखित परस्पर निंदा भर्त्सना से यह बैरभाव साफ जाहिर है। कोलिय लोगों ने शाक्यो को यह कहकर ताना दिया कि वे कुत्तों और सियारों के समान अपनी बहनो के साथ संभोग करते हैं। शाक्य समाज मे भाई और बहन मे विवाह की बात कभी-कभी यह कहकर अमान्य कर दी जाती है कि यह महज दक्षिणी पुनर्लेखन की करतूत है। प्राचीनतर आर्य परंपरा मे ऐसे विवाह अनुमत थे, उदाहरणार्थ, फारस के लोगो मे, जैसा कि हिरोडोटस द्वारा प्रतिवेदित कैम्बाइसीज की कहानी से जाहिर है। एक बात यह भी है कि कभी-कभी किसी पुरुष की चचेरी, ममेरी, फुफेरी, मौसेरी बहनो को भी उसकी सगी बहन मान लिया जाता रहा है। दूसरी ओर, ऐसा जान पड़ता है कि कोलियों पर शाक्यो ने यह दोषारोपण किया कि वे अभी तक वृक्ष गणचिह्न (कोळ, बेर) को ही ढोते चले आ रहे है, मुखियाविहीन (अनाथ) हैं, और (अन्नोत्पादी) मानवों के समान नहीं बल्कि जानवरो की तरह जीवनयापन करते है। बहरहाल, यह असंभव है कि माया कोलिय राज्यक्षेत्र की ओर जा रही होगी, निष्कर्ष यह कि लुंबिनी एक चतुष्पथ (चौराहे) पर अवस्थित थी।

प्रस्तुत प्रसंग मे माया नाम 'भयानक भ्राति' के रूप मे अनूदित नहीं किया जा सकता। माया का एक अर्थ 'मोह-ममता' भी होता है, खासकर मा की मोह-ममता, किंतु महामाया कहते है महान सर्वदेशीय मातृदेवी को (कालिन पुराण 6. 62-8. 74), जिसे कभी-कभी दुर्गा से अभिन्न समझ लिया जाता है। माया के उक्त अन्य दो अर्थ अनायास स्पष्ट हो जाते हैं यदि हम यह समझ लें कि किसी पुरातन युग मे, पुरुषों को वह पुरोहितानी अपने विनाश के प्रति प्रलुब्ध और आकृष्ट करती थी, जो उपर्युक्त देवी की प्रतिनिधि या स्वय मूर्तिमती देवी हुआ करती थी, किंतु जिसके पति को किसी उर्वरता-संस्कार के अनुष्ठान मे यथानियम बलि दिया जाता ही था। माया रानी का अब मातृदेवी के रूप मे पूजा जाना ऐसा कुछ बेतुका नही है जैसा उन लोगो को लग सकता है जिनका ध्यान केवल बौद्धमत के सौम्य संदेश पर ही है। महायान बौद्ध लोग तो हारीति को भी श्रद्धाजलि अर्पित करते थे जो मूलत. शिशुभक्षी दानवी थी। इसलिए के समय में वह बौद्धविहार के रसोईघरो के पास चित्रित रहती थी। ज्ञातव्य है कि जुन्नर में शिवाबाई मंदिर उसी जगह अवस्थित है जहा पहले, भोजनशाला से सटे, गुफा समूह का रसोईघर था।

जातको से वम एक और रोचक बात सामने रखता हूं। जा० 510 और 513 मे ऐसा माना गया है कि मरते समय जो स्त्री अपनी सौत के प्रति यह कामना करती हुई दम तोडती है कि तेरे बच्चों को खाने के लिए मैं (दानवी बनकर) पुनः जन्म लूं, उसी का पुनर्जन्म ऐसी दानवी के रूप मे होता है जो नवजात शिशुओं को प्राय. उनके पैदा होते ही चट कर जाती है। आशय यह है कि उसकी मृत्यु स्वाभाविक नहीं थी, संभवत. भावावेश मे उसने आत्महत्या कर ली। यह बात जाखमाता परंपरा मे है। माया जिस जगह प्रसव के बाद इतनी जल्दी मर गई वहा निर्मित माया का मंदिर

प्रारंभत पूजा स्थान था या नहीं यह स्पष्ट नहीं है, रुम्मिनदेई में जो इमारत खोदकर निकाली गई है वह माया की मृत्यु की नहीं, बुद्ध जन्म की यादगार है।

चारुदत्त द्वारा बलिप्रदान

तो, अब हम इस स्थिति में है कि इस टिप्पणी का प्रारंभ जिस प्रश्न के साथ हुआ था उसका समाधान कर सकें। पाषण युग से ही, चतुष्पथ (चौराहे) ऐसे स्थान थे जहा जंगली लोग, जिनके खानाबदोश रास्ते ऐसे संगम पर मिलते थे, सामान्यत मातृकाओं की पूजा किया करते थे। प्रसंगोक्त अन्न बलि रक्तबलियो के एवज मे दी जाती है, खासकर कृष्ण पक्ष की षष्ठी और अमावस्या को। चारुदत्त एक सार्थवाह का पुत्र और सौदागरो के मुहल्ले का निवासी था। अत यात्री वणिको की यह प्रथा उसे जरूर मालूम रही होगी (जिसका अनुसरण चंद बच रहे कारवा वाले आज भी करते हैं) कि मार्ग मे पड़नेवाले देवी-देवताओं को प्रणाम-वंदन और, हो सके तो, बलि प्रदान करते हुए भी सफर किया जाता है। चौराहों पर मातृकाओं की पूजा, स्वभावतः, इन मार्गस्थ पूजा-पद्धतियों में प्रमुखतम थी। कारवा वाले धर्मात्मा वणिकजन ऐसा अनुष्ठानिक आराधन संभवत तब भी किया करते थे जब वे घर पर रहते थे। किंतु, ऐसी पूजा पद्धति को अंगीकृत करने मे किसी ब्राह्मण को भी कोई बाधा नही थी, क्योंकि पुराण तो रचे ही गए हैं खास तौर से बहुतेरे आदिम आदिवासी स्थानिक संस्कारों को उचित ठहराने और महिमामंडित भी करने के लिए। यह तो एक नियमित प्रक्रिया ही थी जिसका प्रयोजन था आत्मसातकरण और संस्कृति संक्रमण।

अध्याय 3 संबंधी टिप्पणियां

पृष्ठभूमि के लिए : व्ही० एस० सुकठकर, स्टडीज इन भास मिमोरियल एडिशन (पूना, 1945) जिल्द 2, पृ० 81-183 और 347-352; (अथवा क्यू० जे० मिथिक० सो० 1919, तथा जे० ए० ओ० एस० 42.59 74); इट्रोडक्शन टु द स्टडी आफ इडियन हिस्टरी नामक मेरी पुस्तक (बबई, 1956) के अध्याय 2 और 8।

1. पी० व्ही० काणे हिस्टरी आफ द धर्मशास्त्र (पूना, भडारकर ओरिएटल रिसर्च इस्टिट्यूट), विशेषत. जिल्द 2, 1941।

2. ए० बेरीडेल कीथ · रिलिजन एड फिलासफी आफ द वेद हार्वर्ड ओरिएटल सिरीज, जिल्द 31-2 (1925), पृ० 428, चतुष्पथों (चौराहो) पर, जो भूत-प्रेतो के, और कभी-कभी भूतनाथ रुद्र के, बसेरे हुआ करते थे, सपन्न किए जाने वाले जादू-टोना प्रधान सस्करो के प्रासगिक निर्देश के लिए पृ० 145, 239, 322, 414 और 426 भी द्रष्टव्य।·

3. डी० डी० कोसांबी : दि ओरिजिन आफ ब्राह्मिन गोत्राज : जे० बी० बी० आर० ए० एस०, 26, 1950, 21-80, खासकर ऋग्वेद मे मातृ अधिकार की उत्तरजीविता विषयक अतिम प्रकरण।

4. डी० डी० कोसाबी : ग्रंनुकोवट . जे० ए० एस० बब (जे० बी० बी० आर० ए० एस०) 30. 1956. 50-71, और अप्सराओ के लिए, उर्वशी एंड पुरुरवास, वही, 27. 1951 1-30।

5. पौतन : मथुरा प्रदेश नामक भाष्य से यह सिद्ध होता है कि पूतना मथुरा क्षेत्र की विशिष्ट देवी थी।

बढ़ते चरण
पश्चिमी दक्कन पठार के प्रागितिहास का संधान

पूना आधारित क्षेत्रीय शोधकार्य से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि महाराष्ट्र की कतिपय देहाती परपराओं और प्रथाओं की जडें अतीत पाषाण युग मे है। बहुतेरे अनाम ग्रामदेवता अपनी वीभत्स मूलस्थितियो से ऊपर उठकर किसी न किसी प्रतिष्ठित ब्राह्मण देवता के समान जाने-माने जा चुके है। पूजा पद्धति मे रूपांतरण इस बात का स्पष्ट आभास देता प्रतीत होता है कि ऐसी पूजा करने वालो की सामाजिक अवस्था मे क्रमिक परिवर्तन घटित हुआ, वे क्रमशः अन्यसग्राही जंगली से पशुपालक, फिर कृषिक अन्नोत्पादी बने। यह विकास न तो सतत ही था और न ही स्पष्ट। देवताओं के बीच संघर्ष सामान्यतः मानवों के समूह संघर्ष का द्योतक है। देव विवाह, परिवार, या सगी-की अवाप्ति और क्रमिक अवतार, ये सब सामाजिक सम्मिश्रण की धर्मशास्त्रीय अभि-व्यक्तिया हैं। समाज और धर्म मे इस तरह के परिवर्तन विभिन्न स्थानों पर घटित हुए। सच पूछिए तो हमारे पुराणों मे जो निरर्थक प्रतीत होने वाले मिथक (कथा-उपाख्यान) ऐसे असंगत रूप से जोड रखे गए हैं, उनका एक विशिष्ट आधार है। ग्रामीण लोग आज भी बहुत कुछ वैसी ही परिस्थितियों में जी रहे हैं जो तब मौजूद थी जब परंपराओ और आख्यानों का निर्माण हुआ था। यह बात ब्राह्मणों के संबंध मे उतनी सटीक नही बैठती जिन्होंने स्थानीय देवकथाश को आप अपने लाभार्थ संश्लेषित कर लेने के लिए उसे लिख रखा।

कतिपय पूजास्थलों के बराबर बने रहने का मतलब यह नहीं है कि मूल प्रागैतिहासिक जनजातीय लोगों के वंशज उसी देवता को उसी जगह, बहुत हुआ तो उसका नाम बदलकर, पूजते रहे। खानाबदोशों का लगातार आने-जाने के अतिरिक्त, अकाल, स्थानातरगमन, सामंती युद्ध और महामारिया, इन बेशुमार घटनाओ की सु-

मे किसी सही अनुक्रम का पता नही चल पाता। लेकिन, इन व्यवधानो के बावजूद, परंपरा का कुछ न कुछ सातत्य अक्सर बना ही रह गया। जो लोग किसी क्षेत्र में आए थे, अगर वही लोग वहा फिर लौटकर नही आए, तो उनके उत्तराधिकारियों का आचरण भी उनसे बहुत भिन्न नही रहा। यह तो विदित ही था कि पूजा विधिया कतिपय स्थानों मे हुआ करती थी, अतः जब नए आप्रवासियों के साथ उनके अपने देवगण आ गए, तब भी पुरानी पूजा विधिया महज प्राकृतिक महाविपदा से बचाव के इत्मीनान के लिए पुनः स्थापित हो गई। उत्पादन के नए-नए तरीके, मुद्रा अर्थव्यवस्था का प्रसार, द्रुतपरिवहन, शिक्षा तथा सुदूर केंद्रों मे नियोजन संवृद्धि, ये सब ऐसे कारक हैं जिनका प्रभाव सहस्राब्दिक विकास के बाद भी बच रहे चिह्नो को मिटा देने मे कही ज्यादा कारगर हुआ करता है। मगर तो भी, कुछ अनुचिह्न अब भी सुपाठ्य है। इसके पहले कि ये शेप चिह्न बिल्कुल अभिलोपित हो जाएं, उनका अर्थ समझने का हमारा यह प्रयास बेकार नही साबित होगा।

दक्षिण में प्रागितिहास का अंत

प्रागितिहास का सामान्य अर्थ है साक्षरता पूर्व इतिहास, अर्थात वे घटनाएं जिन्हे बिना समसामयिक प्रलेखो की सहायता के पुनर्निमित करना है। चूकि प्रस्तुत विषय मे घटनाओ को पुनर्निमित नही करना है, इसलिए, एक अन्नसंग्रहण प्रधान अर्थव्यवस्था का, बसे हुए गांवों में हल के प्रयोग से अन्नोत्पादन अर्थव्यवस्था के रूप मे.जो परिवर्तन घटित हुआ, हम पहले उसी पर विचार करेंगे। प्रसंगाधीन प्रदेश के संदर्भ मे, इसका काल ईसा पूर्व छठी शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है।

सुत्तनिपात (सु० नि०) के आर्प प्रयोगों से जाहिर है कि बच रहे पालि धर्म-शास्त्रों मे यह सबसे पुरानी कृति है। इसमें बुद्ध के वे सारे अभिज्ञेय प्रवचन दिए हुए हैं जो उनके नाम से अशोक के शिलालेखों मे उल्लिखित हैं। सुस्पष्ट विषयालोचन को छोडकर, सु० नि० 976-978 इस प्रकार कहता है: एक कोसलवासी ब्राह्मण बावरी नामक दक्षिणी व्यापार मार्ग (दक्खिणापथ) से आया। वह गोदावरी नदी के किनारे, मूला घाटी के सगम पर अश्व जनजाति (अस्सक) के अधिकार क्षेत्र में बस गया। वह और उसके शिष्यो का लघु समूह भूमि से अन्न संग्रहण करके (अर्थात उञ्छ वृत्ति से, जिसका वहा तात्पर्य कंद, छत्रक आदि से है, किंतु आगे चलकर अर्थ हो गया कटनी के बाद खेत में गिरे-पडे दाने चुन-बीनकर) और वृक्षों तथा झाड़ियो से फल (अर्थात गिरी, फल और बेर तोड़कर) जीवनयापन करने लगे। अंततः उस स्थान मे एक अच्छा-खासा गाव बस गया, और बावरी उस बस्ती से जो अवशिष्ट अन्न जुगा सका उससे मजे में एक वृहद ब्राह्मण धर्मी अग्नि यज्ञ (महायञ्ञो) संपन्न कर लिया।

इस वृतात से यह स्पष्ट है कि उस समय दक्षिण में नियमित अन्नोत्पादन तथा स्थाई हलप्रयोगी ग्राम आबादी का फैलना शुरू ही हो रहा था। बुद्ध की ख्याति हाल ही मे बावरी तक पहुंची थी। बहुत बूढा हो जाने के कारण, बावरी स्वयं तो लौटकर

उत्तर को नही जा सका, किंतु अपने कुछ चुने हुए शिष्यों को उपानिषद शैली मे बुद्ध से कुछ गंभीर प्रश्न करने के लिए उसने अवश्य भेज दिया। वहां से जो उत्तर आए वे इतने संतोषप्रद थे कि अपने उपदेष्टा (बुद्ध) को बिना कभी देखे ही बावरी अपना धर्म परिवर्तन करके बौद्ध बन गया। प्राचीन बौद्ध परंपरा उसे बुद्ध जीवनकाल मे उनका परम दूरवर्ती अनुयायी बताती है। इससे इस नतीजे पर पहुंचना उचित ही था कि प्रागितिहास के गर्भ से पश्चिमी दक्षिण के आविर्भाव का समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी के उत्तरार्ध मे रखना ही होगा।

अस्सक लोग और कोई नही, पूर्व सातवाहन ही थे; तब तक उनका राजवंश कायम नही हो पाया था, कबीला ही था। यह विदित[1] है कि अश्व उक्त राजवंश से किसी गणचिह्न के रूप मे सबद्ध है। अधिक जानकारी उस मार्ग (सु० नि० 1011 एव आगे) से प्राप्त होती है जिसका अनुसरण बावरी के अन्वेषी शिष्यों ने किया। उन्होंने यात्रा शुरू की 'अस्सक के' पैठण मे (जो उनके आश्रम के दक्षिण पूर्व मे अवस्थित था), नर्मदा को महेश्वर मे पार किया, और क्रमश उज्जैन, गोनद्ध, भिलसा, कौसबी (यमुना तटवर्ती), साकेत (फैजाबाद, कौसल की प्राचीनतर राजधानी), तथा सावत्थी (सेट-महेट, तत्कालीन कौसल की राजधानी) गए। वहा से वे पूरब की ओर मुडकर कपिल-वस्तु (पिप्रहवा) गए, फिर दक्षिण की ओर पावा, कुशिनारा, वैसाली (बसाढ) और तब मगध की राजधानी (राजगीर पहुंचे, जहा उन्हे उस महान उपदेष्टा (बुद्ध) के दर्शन प्राप्त हुए। श्रावस्ती से उन्होंने स्पष्टत: तत्कालीन मुख्य व्यापार मार्ग से प्रयाण किया। यह ठीक वही पथ था जिससे गुजरते हुए बुद्ध ने अपने नए धर्म का अधिकाश प्रवा-रित किया था। इसलिए, प्रबल धारणा होती है कि उन्होने व्यापार सार्थो (तिजारती कारवां) के साथ ही उस पूरे चक्करदार रास्ते से सफर किया, और यह कि पैठण दक्षिणी सीमास्थान (टर्मिनस) था। ऐतिहासिक युगो मे यह नगर सातवाहन राजधानी था। इसके अतिरिक्त, असक की अवस्थिति सातवाहन अधिकार क्षेत्र मे भी, जैसा कि बलसिरि[2] के नासिक शिलालेख से प्रमाणित है। अशोक के फरमानो (धर्मोपदेशो) मे उल्लिखित पितिनिकगण 'पैठण के लोग' अथवा सातियपुत्रगण सातकणिगण हैं या नही, इससे हमे यहा मतलब नही।

नाणेघाट के दीर्घ शिलालेख[3] से पता चलता है कि अग्नियज्ञ करने वाले ब्राह्मणो को सातवाहन राजा लोग परम उदारता से पारितोषिक प्रदान करते थे। बावरी ने एक ऐसी परंपरा चलाई जो विस्मित होती गई। वास्तव मे, टोका प्रवरासंगम से लेकर नेवासा तक का इलाका सारे इतिहास मे ब्राह्मणो के लिए एक विशिष्ट पवित्र प्रदेश बना रहा। नेवास मे और महेश्वर के सामने की गई खुदाइयों[4] से यह तो प्रमाणित होता है कि वहा कोई न कोई आबादी ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के आदिकाल से ही अटूट रूप मे रही, किंतु लोगो की प्रवृत्ति बड़े पैमाने पर अन्न उत्पादन की ओर धीर गति मे बढती गई हो, ऐसी प्रतीति किसी वस्तु मे नही होती। आद्य सातवाहन शासक-गण ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के पहले कोई राजकीय हैसियत या हक हासिल करने

लायक शायद ही हो सके होंगे। यह बात जरा विस्तार से विचार करने लायक है।

कार्ले स्थित महाचैत्य गुफा की छत की वल्लियों से प्राप्त एक काठ के टुकडे का काल निर्धारण[5] ब्रिटिश म्यूजियम की रेडियो कार्बन प्रयोगशाला ने 280 ई० पू० किया है, जिसमें इधर या उधर 150 वर्ष का मानक अंतर पड़ सकता है। इसका मतलब है कि इस बात की संभावना चालीस में एक से भी कम है कि यह काष्ठकृति 20 ई० से बाद की है, अगर इस पर फफूंद उगने और सील लगने का कोई असर पड़ा हो तब तो इसकी उत्तरकालिकता की संभाव्यता और भी क्षीण हो जाती है। परम संभव है कि कार्ले का समय ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी हो; जो हिस्सा अब ढह गया है उसकी गुफाएं तो और भी एक सदी पहले की हो सकती है। शैलीपरक तर्क यहां निष्फल हैं, क्योंकि खंभे अक्सर मोटे तौर पर तराश कर इस खयाल से छोड़ दिए जाते थे कि वे

4.1 स्फिक्स (पीठस्थ), दाहिनी ओर 13वां, खंभा, चैत्य गुफा, कार्ले
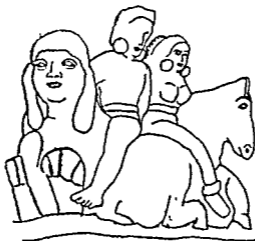
बाद में दानराशियां क्रमश: उपलब्ध होने पर परिरूपित कर दिए जाएंगे (उदा० महाड के पास मौजूद पाले गुफाएं, और कार्ले चैत्य के पीछे वाले खंभे); समृद्धतर दाता लोग तो पूरी की पूरी नई कोठरियां बनवा दे सकते थे। कार्ले स्थित धर्मसंघ को (उषवदात द्वारा) दिए गए प्रथम ज्ञात राजदान का समय लगभग 20 ई० निर्धारित किया गया है। इसका मतलब है कि गुफा विहारों के रूप में प्रतिनिहित महान धन संपदा की प्राप्ति उत्तर के व्यापारियों तथा विशिष्ट पदार्थों के अत्यंत लाभप्रद सुदूर व्यापार से होती थी। धेनुकाकट[6] स्थित यूनानी बस्ती और दाहिनी ओर 13वें खंभे पर एक सुस्पष्ट 'स्फिक्स' (नरसिंह की मूर्ति, चित्र 4.1) से कुछ समुद्रपार संबंध लगभग ईसवी सदी शुरू होने के समय विद्यमान होने का संकेत मिलता है। संभव है, यह व्यापार पश्चिम तट के बंदरगाहों के (भड़ौंच, सोपारा, कल्याण, थाना, चाउल, धरमतर) जरिए होता हो, किंतु ठेठ दक्षिण में माल की ढुलाई तो लद्दू पशुओं के जरिए ही

करनी पड़ती थी। बैलगाड़ी यातायात के मार्ग में समुद्रतटीय वन, सह्य दक्षिण कगार तथा बीहड़ घाटियां पड़ती थीं। ये विहार, जैसा कि हमें तत्समान संप्रदायों के चीनी अभिलेखों से ज्ञात है (उदा० कार्ले स्थित महासंघिकगण), मात्र महत्वपूर्ण ग्राहक ही नहीं थे, बल्कि, सीधे अथवा योगी सौदागरों एवं वणिक्संघों की मारफत, मुख्य अधि-कोषणालय (बैंकिंग हाउस) तथा आपूर्ति भंडार के रूप में भी काम करते थे। यद्यपि ये विहार व्यापार मार्गों पर ही अवस्थित थे तथापि उनके बिल्कुल निकट जुन्नर के अतिरिक्त कोई नगर विकसित नहीं हो सका। यह नगर (जुन्नर), जिसका नाम अनु-मानतः जूर्ण नगर (पुराना शहर) का विकृत रूप है, संभवतः पॅरिप्लस और टालेमी का नगर[7] है; दक्षिण में एक सुविधाजनक वितरण केंद्र के रूप में इसका विकास नाणे-घाट (दर्रा) और सकीर्ण किंतु सुगमतया स्वच्छित कुकड नदी घाटी के जरिए संभव बना दिया गया।

4.2 खड़ी मूठ, टेढ़ी हरिस (योक-पोल), और चिपटी अंकुड़ी (मोलुबोर्ड) वाला कुषाण हल (लाहौर संग्रहालय के एक उद्भृत के अनुसार आरेखित)
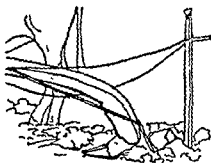
4.3 जुन्नर में प्रचलित, कुषाण शैली का आधुनिक हल

ये विहार स्थानीय अन्न उत्पादन के लिए, जिसका मतलब महज नई रीति वाला अंत उत्पादन (एंड प्रोडक्ट) नहीं है, एक प्रधानप्रेरणा स्वरूप थे। दक्षिण की परिस्थितियों में, जहां न पीली मिट्टी की पट्टी है न किसी कछारी मरुभूमि से होकर बहनेवाली कोई नदी, किसी बड़े पैमाने पर खेतीबारी होने का मतलब है सस्ती धातु लोहे की जानकारी होना। काली मिट्टी की जुताई भारी हल के बिना संभव नहीं। महज काटने-जलाने के तरीकों से, पर्वतों की ऊंचाइयों पर अवस्थित विरल पेड़-पौधों के सिवाय, जंगल की काम लायक सफाई नहीं की जा सकी होगी। लोहा तो धारवार के इलाकों में तथा समुद्रतट के निकट भरपूर उपलब्ध है, लेकिन उसे अयस्क (कच्ची धातु) रूप में लाने और गलाने की तकनीक तो ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी के पूर्वार्ध में उत्तर के व्यापारियों और धर्मप्रचारकों के साथ ही आई। प्राचीनतम हल भी उत्तर से ही आए होंगे। कुषाण मूर्तियों में जो नमूना (चित्र 4.2) देखने को मिला है यह निर्विवाद रूप से हल का मूलरूप है, टेढ़ी हरिस, चिपटा अंकुड़ी और खड़ी मूठ वाला यह हल दक्षिण में आज भी देखने को मिलता है (चित्र 4.3)। लेकिन इसका चलन इतना कम

कि कृषि महाविद्यालय, पूना मे हल के जो अनेक प्रकार के नमूने प्रदर्शनार्थ प्रस्तुत है उनमे यह शामिल नही है। जिन जगहों मे यह प्रचलित है(देहू चाकण, जुन्नर) उनका सर्वप्रथम विकास बौद्ध प्रभाव के अधीन हुआ; इस खास औजार का प्रयोग वही होता है जहा मिट्टी बहुत कड़ी नही होती। दक्षिण की तो बढिया से बढिया मिट्टी भी ऐसी है कि अगर उसे, आधुनिक फौलादी हल के सहारे भी, ठीक से जोतना चाहे तो जुए में आठ से बारह बैल तक लगाने की जरूरत होती है। उत्तर की विशाल नदी घाटियों वाली कछारी मिट्टी और गुजरात की पीली मिट्टी जितनी मुलायम है, दक्षिण की मिट्टी उतनी ही सख्त है।

साराश यह कि पश्चिमी दक्षिण मे, ईसा पूर्व छठी शताब्दी के उत्तरार्ध मे अन्न उत्पादन का चलन प्रधान हो गया। इसके लिए प्रेरणा उत्तर से प्राप्त हुई; लोहे, भारी हल, तथा उपयोगी फसलों की जानकारी भी वही से हासिल हुई। स्थानीय रूप से राजस्व का विकास तब हुआ जब उस इलाके मे तिजारती कारवा आने-जाने लगे और बौद्ध विहार स्थापित हो गए, सच पूछिए तो, इसे सभव कर दिया उत्पादन के उपकरणों में हुए परिवर्तनो ने ही। व्यापार का मतलब था नई संपत्ति का संचय जिसके चलते सरदार लोग अपने कबीले से आजाद हो गए। धातुओ ने राजा और उसके रईसों को सशस्त्र योद्धाओ के एक प्रवर वर्ग के रूप मे विकसित होने के लिए साधन सुलभ कर दिए, और फलत' विजय यात्रा उनकी जीवनचर्या बन गई। जातिव्यवस्था और वैदिक यज्ञो के हिमायती ब्राह्मणो ने एक नया सामाजिक सिद्धांत प्रस्तुत कर दिया जिसके अनुसार ये योद्धागण एक विशेषाधिकार प्राप्त जाति के रूप में अनेक कबीले के बाकी लोगों से ऊपर उठ गए। अंततः, हल-कृषि के चलते खाद्य आपूर्ति की स्थिति पहले से बहुत ज्यादा बेहतर हो गई और उसके साथ ही कुल आबादी मे भी प्रबल वृद्धि हो गई। जो लोग फिर भी अन्न सग्राहक ही बने रह गए उनकी संख्या हल कृषि वालों के मुकाबले देखते-देखते कम पड गई, बहुतेरे तो खत्म हो गए, जो बच गए वे अंततः निम्न सीमात जातियां बनकर रह गए। मठों-विहारो तथा ब्राह्मणों के प्रति राजाओ की उदारता अकारण नही थी, उसका एक स्पष्ट, तर्कसगत आधार था, जो उक्त उत्पादन के बदले हुए ढग मे द्रष्टव्य है।

पूजा-प्रव्रजन, देवियां और महापाषाण

कालूबाई, अर्थात काली देवी, महाराष्ट्र-भर मे तादला कहलाने वाले (तंडुलाकृति, चावल के दाने के आकार वाले) लालपुते अनगढ पत्थरों के रूप में पूजी जाती है। पूजा चाहे जिस भी आदिम देवता की हो, समान रूप से सबके प्रतीक ये पत्थर ही होते हैं। जहां धन बढ जाता है (जिससे ब्राहण-पुरोहितगण स्वतः ही आ जुटते हैं) वहां अक्सर इस देवी को दुर्गा के एकरूप, कालिका मे परिवर्तित कर दिया जाता है। आजकल कालूबाई-पूजा का केन्द्र 'माण्ढरदेव' मे है, जो 'शिरवल' के दक्षिण-पश्चिम, नौ मील दूर, ऊचे पठार पर अवस्थित एक चोटी है। दूरी, कठिन चढ़ाई, और बिल्कुल

अपर्याप्त जलापूर्ति, इन सारी कठिनाइयों के बावजूद, यहां दिसंबर में लगने वाले वार्षिक मेले में 50,000 से भी अधिक तीर्थयात्रियों का जमघट लग जाता है। इस दीर्घ, संकीर्ण पठार में (जो बाईं की ओर विस्तृत है) पाषाण-युग के अवशेषों की खोज करना अभी तक संभव नहीं हो सका है। इतने ऊंचे और दूरवर्ती स्थान में मंदिर की अवस्थिति उन पूजाओं की विशेषता की द्योतक है जिनका प्रचलन समृद्ध सामंत-काल में हुआ। स्थान का पुरुषदेवता-वाचक नाम किसी पशुचारण-अवस्था की ओर संकेत करता है।

तुकाई की पूजा सिंहगढ किले के तल में अवस्थित कोण्डणपुर ग्राम के एक केंद्र से फैली है। मार्गशीर्ष (नवंबर में जो ग्राम-मेला लगता है उसमें काफी लोग जुटते हैं सही, लेकिन, यह विदित है कि मूल पूजास्थल तो वहां से लगभग पांच मील दूर, कल्याण ग्राम से आगे, राम-कडा नामक खडी चट्टान पर अवस्थित एक झरना है। इस देवी को हीराबाई नामक एक उपासिका नीचे उतार लाई। मंदिर के अहाते के प्रवेश-द्वार पर इस उपासिका का एक स्मारक है, कुछ पूजा उसकी भी होती है। कोण्डणपुर मंदिर के ठीक नीचे एक चट्टान से जो जल प्रवाहित होता है उसका उद्-गम इसी झरने को माना जाता है। इस देवी की सेवाअर्चा साधारण पुजारी लोग ही नहीं बल्कि 'आराधी' लोग भी करते हैं। आराधी ऐसे पुरुषों को कहते हैं जो स्त्रियों के समान वेषधारण, साज-सिंगार और जीवनयापन करते हैं, हालांकि वे न तो 'पवया' लोगों की तरह बधिया कराए होते हैं, न लौंडे ही। वे कोण्डणपुर और रामकडा में खास-खास दिन इस देवी का पूजन करते हैं, और इसकी धातु-प्रतिमा (प्रायः मुखौटा) को पूना, अथवा किसी लोकप्रिय देवी के सम्मान में लगने वाले उत्सव-मेलों में, ले जाते हैं। यह रिवाज जो हठात एशिया माइनर और माल्टा जैसी विदेशी पूजा-पद्धतियों की तथा रोम की 'मेटर इडीआ' की याद जगा देता है, किस मूल कारण या प्रयोजन से चल पड़ा, नहीं मालूम। हालांकि इस देवी को अंबाबाई से अभिन्न समझा जाता है, अथवा तुलजापुर की महादेवी की 'बहन' माना जाता है, जिस पर इस प्रदेश की सुविकसित मातृदेवी-पूजाएं अंततः सकेंद्रित होती हैं, तो भी, विशेष बात यह है कि पंढरपुर में (महिषासुर-मर्दिनी मूर्तिवाली) अंबाबाई की सेवाअर्चा आराधनी महिलाएं करती हैं, जो निम्नवर्गीय वेश्याएं भी होती हैं। वे उस देवी की परिचर्या ही नहीं करतीं बल्कि एक अद्भुत मशाल नृत्य भी रचाती हैं, और ऐसा माना जाता है कि वे जब कभी पूजनोत्सव के पवित्र पथ पर नाचती हुई चलती हैं तो देवी भी उनके साथ-साथ चलती है, भले ही उसकी मूर्ति की सवारी बाहर निकाली गई हो या नहीं। दूसरी ओर, पुरुष पुजारियों को अर्थात (पार्वी, तिलक इत्यादि) विभिन्न आदिम जातियों के सरदारों को, विशेष पूजा संपन्न करने के लिए स्त्रियोचित वेषभूषा धारण करनी पड़ती है। हमारे वसंतोत्सवों में सबसे प्राचीन है अश्लील होली का महोत्सव। इस आनंदोत्सव के अवसर पर अग्नि के चतुर्दिक नृत्य करने वालों में प्रायः एक कौनीन, अर्थात, स्त्रीवेषधारी कोई पुरुष भी शामिल रहता।

आखिरी बात यह कि कोण्डणपुर में सर्वप्रथम बसने वाले परिवारों के बड़े-बूढे आज भी प्रतिवर्ष तीर्थयात्रा करके अपनी असली संरक्षिका देवी 'नवलाइ' के दर्शनार्थ जाते है जो, घाटी से ऊपर की ओर, बाई से 12 मील दूर पर अवस्थित है ग्राम परंपरा के अनुसार, यही वह जगह है जहा से हटकर कोण्डणपुर को किसी अज्ञात युग में आबाद किया गया। अनुमान है कि यह प्रधान तुकाई-पूजा रामकडा के निकट आदि-वासी जातियों की पूजा-विधि मे अंतर्लीन हो गई। चद तुकाई देवियो (आकुर्डी, रोटी इत्यादि) को सीधे तुलजापुर की महादेवी माना जाता है, कारण, स्थानीय लोग कोण्डपुर को या भूल गए हैं या उसके बारे मे कभी सुना ही नही।

4.4 कार्ले की चैत्य गुफा के पास यमाई के रूप में पूजे जाने वाले बृहत स्तूप को समर्पित किया जा रहा कोली बालक

यमाई के बारे मे महाराष्ट्रीय किसानो का खयाल है कि उसका मूलस्थान शिव्री मे है जो जेजुरी रोड पर सास्वड से चार मील पर है। बबई के सोन-कोली लोग (तटवर्ती मछुए, जो पहाड़ों पर से आए जन जातीय कोली लोगों से भिन्न है) प्रतिवर्ष कार्ले स्थित चैत्य गुफा के पास वाली यमाई को ही, स्वेच्छा से, प्रचुर मात्रा मे भेंट चढ़ाते हैं। ये कोली लोग इस देवी को स्वयं उस महान चैत्य से (चित्र 4.4) अभिन्न मानते है, न कि शिवी देवी से, जिसके बारे मे सोन-कोलियों ने कभी सुना ही नही है। महाराष्ट्र में और भी कई यमाई देविया हैं जो स्थानीय रूप से पूजी जाती हैं, इनमे पावल के निकट काणेसर वाली यमाई कुछ अधिक प्रसिद्ध है। वैसे तो, करजाई, खोखलाई आदि गौण देवियां भी एकाधिक गावो मे ज्ञात हैं, लेकिन इनमे स्थानों के बीच संबंध प्रायः अस्पष्ट है।

कुरकुभ की देवी फिरंगाई, जिसकी प्रतिमूर्तिया वहा से दूर (सास्वड मे

ऊपर) हिवे में तथा देहू के सैनिक डिपो से आगे नानोली स्थित किसी जमाने की बौद्ध गुफाओं में देखने को मिली हैं, बहनों की वृहतत्रयी मे एक है (दूसरी है तुलजापुर की देवी और तीसरी है राशीण की अंबाबाई) । देवी का मध्यकालीन मंदिर एक उपेक्षित से गाव मे है जहां पूना-शोलापुर सड़क से पहुंचा जाता है। इस गांव के पीछे एक पठार पड़ता है; यही वह आदिस्थान है जहा फिरंगाई नाई जाति के अपने एक भक्त के साथ तुलजापुर से चली आई। उस कृतज्ञ भक्त ने देवी को वलि देने के लिए अपना सिर कटवा दिया; उस बलिस्थान मे आज भी उसकी पादुका (पैरों की छाप) मौजूद है, साथ ही, उस देवी की एक अनगढ मूर्ति भी। परवर्ती गिरिशिखर मंदिर मे पूजा का पदार्थ एक अनगढ तादला है। नाई जाति को आज भी उस देवी मंदिर मे गुरव (मंदिर के पुजारी) से ऊपर सम्मान का स्थान प्राप्त है। यह पठार लघुपाषाणो से भरा पडा है जो उस गांव के पास वाली छोटी नदी मे, और उसके आगे तथा उस सड़क के किनारे भी पाए जाते है, जिससे हर साल देवी की शोभा-यात्रा निकाली जाकर छह मील दूर घोण्डपेर नदी तक पहुंचती है। वह स्थान निश्चय ही नवपाषाण-पथों के एक चौराहे पर पडता था। फिरंगाबाई उस पठार पर दखल जमाने वाली पहली देवी नहीं थी, क्योंकि पूरबी छोर पर झंझनी नामक एक निराली देवी का छोटा सा जीर्ण मंदिर एक बेडौल विशाल दीपस्तंभ के साथ मौजूद है। झंझनी, जिसे अब भी चारो ओर मीलों दूर तक माली जाति के लोग पूजते हैं, (परंपरा से) ठीक नीचे अवस्थित दो गाव की मुख्य देवी थी, जिनका अब कोई अस्तित्व नही है। ये गाव थे धर्मदी और कुमंडी, जिनके लोग किसी अज्ञात सहसा-क्रमण में जनसंहार के शिकार हो गए। पठार का वह छोर लघुपाषाणो का समृद्धतम भंडार है। जब फिरंगाई देवी की सवारी नदी-तट के लिए चल पड़ती है तब (पालकी) को, सम्मान प्रदर्शनार्थ, सर्वप्रथम वेताल पत्थर के पास उतार कर रखा जाता है, जो देवी के गिरिशिखर-मंदिर के पीछे अवस्थित है। लेकिन वेताल और महिलामात्र के बीच तो बद्धमूल वैर है, इसलिए निस्संदेह, उस जगह वेताल को नही अपितु पूर्व मे प्रतिष्ठित किसी देवी को ही सम्मान देने के लिए पालकी उतारी जाती है। नानोली गुफाओ के स्थान का निर्धारण उस लघुपाषाण भरे पथ से ही जाता है। बौद्धो ने किसी आदिम देवी को ही विस्थापित किया था, और यह उसी की अमिट स्मृति है जो फिरंगाबाई-पूजा के प्रवर्तन से अनुरक्षित होती रही है।

सबसे दिलचस्प देवी तो है वाडे-घोड़े स्थित वोल्हाई, जिसकी जीवंत पूजा-परंपरा सीधे प्रागितिहास से संबंध जोड़ती प्रतीत होती है और प्रागैतिहासिक गति-विधियों का जटिल स्वरूप निर्देशित करती है। पऊना नदी के पश्चिम, पावणे-पुसणे-का 'वाजी' (घोड़ा) परिवार इस देवी के उपासकों मे वरिष्ठ होने का दावा करता है और वरिष्ठ माना जाता है, हालांकि लोहोगाव के गाढ़वे और हडप्पर के मगर (घड़ियाल) लोगों का दर्जा करीब-करीब उनके बराबर ही है। वोल्हाई-पूजा का प्रचलन पुणे मे बहुत ही कम है, और लोहोगाव, हडप्पर अथवा पऊना नदी बेसिन मे

तो बिलकुल ही नहीं है। (गायकवाड़ो द्वारा निर्मित या पुनर्निमित) 18वीं सदी का वर्तमान बोल्हाई-मंदिर अन्यान्य देवी-देवताओं के किसी पुराने मंदिर की जगह पर बनाया गया है, जैसा कि फेंक दिए गए खूबसूरत नक्काशी वाले टुकड़ों से साबित होता है। बोल्हाई की आदिम प्रतिमा में तो डरावनी जड़ी हुई आंखों और विकट उघड़े हुए दांतों के सिवा और कोई खास बात नहीं, किंतु शोभा-यात्रा में ले जाई जाने वाली मूर्ति तो पीतल-मिश्रधातु की बनी सुंदर उत्तर-मध्यकालीन पार्वती की प्रतिमा है।

4.5 शिला, दाहिनी ओर मेहराब के नीचे मूल बोलाई मंदिर सहित

पहले का बना एक मंदिर, जिस पर महिषमर्दिनी की आकृति उदभूत है, पीछे की ओर पहाड़ के पार्श्व में आज भी मौजूद है। इस स्थान में न तो लघुपापाण हैं और न प्रागैतिहासिक समय के और कोई निशान, लेकिन वर्तमान मंदिर की स्थापना एक ऐसे वृहत् महापाषाण-स्थल पर की गई थी जिसे आधुनिक निर्माण ने ढा दिया, हालांकि विपुलसंख्यक लघुपाषाण वहां आज भी मिलते हैं। बोल्हाई का रसोईघर तो और भी पुराना पारंपरिक स्थल है जहां लघुपाषाणों का महत्वपूर्ण संचय देखने में आता है, यह जहा है वहा कई प्रागैतिहासिक पथों का संगम था, जिन्हे अभी भी खोज निकाला जा सकता है। बोल्हाई के पुजारियो का कहना है कि यह पहलेपहल यहीं प्रकट हुई थी, किंतु बाद मे अपने 'भाइयों,' पाच पांडवों के अनुनय करने पर वर्तमान मंदिर मे चली गई। उक्त रसोईघर मे उपलब्ध मुख्य पूजा-पदार्थ बिलकुल खुला, अन-घिरा है, और शुद्ध मध्यपापाणयुगीन अर्थव्यवस्था से उसका संबंध जोड़ना कठिन है। यह पदार्थ है घट-शील=घटा-शिला=घट-शिला, 'चीनी मिट्टी' की एक सपाट पटिया (चित्र 4.5), लगभग 7'×4' और मोटाई औसत दो फुट। बावजूद इसके कि यह शिलापट्ट प्राकृतिक माना जाता है, इसे दूर से लाया गया है, (और बिना धातु-औजारों के) कुछ हद तक चिकनाया भी गया है, और इसे जन-श्रम द्वारा आकार में

ऊपर) हिवे में तथा देहू के सैनिक डिपो से आगे नानोली स्थित किसी जमाने की बौद्ध गुफाओं में देखने को मिली हैं, बहनों की वृहतत्रयी में एक है (दूसरी है तुलजापुर की देवी और तीसरी है राशीण की अंबाबाई)। देवी का मध्यकालीन मंदिर एक उपेक्षित से गांव मे है जहां पूना-शोलापुर सड़क से पहुंचा जाता है। इस गांव के पीछे एक पठार पड़ता है, यही वह आदिस्थान है जहां फिरंगाई नाई जाति के अपने एक भक्त के साथ तुलजापुर से चली आई। उस कृतज्ञ भक्त ने देवी को बलि देने के लिए अपना सिर कटवा दिया; उस बलिस्थान मे आज भी उसकी पादुका (पैरों की छाप) मौजूद है, साथ ही, उस देवी की एक अनगढ़ मूर्ति भी। परवर्ती गिरिशिखर मंदिर मे पूजा का पदार्थ एक अनगढ़ तादला है। नाई जाति को आज भी उस देवी मंदिर में गुरव (मंदिर के पुजारी) से ऊपर सम्मान का स्थान प्राप्त है। यह पठार लघुपाषाणों से भरा पडा है जो उस गांव के पास वाली छोटी नदी में, और उसके आगे तथा उस सडक के किनारे भी पाए जाते हैं, जिससे हर साल देवी की शोभा-यात्रा निकाली जाकर छह मील दूर घोण्डपेर नदी तक पहुंचती है। वह स्थान निश्चय ही नवपाषाण-पथो के एक चौराहे पर पड़ता था। फिरंगाबाई उस पठार पर दखल जमाने वाली पहली देवी नहीं थी, क्योंकि पूरवी छोर पर झंझनी नामक एक निराली देवी का छोटा सा जीर्ण मंदिर एक बेडौल विशाल दीपस्तंभ के साथ मौजूद है। झंझनी, जिसे अब भी चारो ओर मीलों दूर तक माली जाति के लोग पूजते हैं, (परंपरा से) ठीक नीचे अवस्थित दो गांव की मुख्य देवी थी, जिनका अब को अस्तित्व नहीं है। ये गाव थे धर्मदी और कुर्मडी, जिनके लोग किसी अज्ञात सहग भ्रमण मे जनसहार के शिकार हो गए। पठार का वह छोर लघुपाषाणों का समृद्ध भंडार है। जब फिरगाई देवी की सवारी नदी-तट के लिए चल पड़ती है तब (पाल को, सम्मान प्रदर्शनार्थ, सर्वप्रथम वेताल पत्थर के पास उतार कर रखा जाता है, देवी के गिरिशिखर-मदिर के पीछे अवस्थित है। लेकिन वेताल और महिलामात्र बीच तो बद्धमूल वैर है, इसलिए निस्संदेह, उस जगह वेताल को नहीं अपितु प्र प्रतिष्ठित किसी देवी को ही सम्मान देने के लिए पालकी उतारी जाती है। ना गुफाओं के स्थान का निर्धारण उस लघुपाषाण भरे पथ से हो जाता है। बौ किसी आदिम देवी को ही विस्थापित किया था, और यह उसी की अमिट स्मृति फिरंगाबाई-पूजा के प्रवर्तन से अनुरक्षित होती रही है।

सबसे दिलचस्प देवी तो है वाड़े-घोड़े स्थित बोल्हाई, जिसकी जीवंत परंपरा सीधे प्रागितिहास से संबंध जोड़ती प्रतीत होती है और प्रागैतिहासिक विधियों का जटिल स्वरूप निर्देशित करती है। पऊना नदी के पश्चिम, पावणे का 'वाजी' (पोंडा) परिवार इस देवी के उपासकों में वरिष्ठ होने का करता है और वरिष्ठ माना जाता है, हालांकि लोहोगाव के राइवे और हड्प्स मगर (घड़ियाल) लोगों का दर्जा करीब-करीब उनके बराबर ही है। बोल्हाई-पूज पान पुणे में बहुत ही कम है, और लोहोगाव, हडप्सर अथवा पऊना नदी के

(कहीं घाटी मे भी, जहा महापाषाण दुर्लभ हैं, यही सिलसिला जारी है, लेकिन बोल्हई देवी जो पता नही बोल्हाई से अथवा मूल प्रवास से संबधित है या नही, उक्त घाटी के सीमात पर, सोनोरी से ऊपर और मल्हारगढ से नीचे, एक महापाषाण स्थल मे प्रतिष्ठित है) । चीनी मिट्टी की विशाल शिलाओं के पुंज वाले स्तूप इस मार्ग की विशेषता हैं, मुला के दक्षिण तट पर तो कई दर्जन अवस्थित है । यद्यपि ये टीले जीर्णावस्था मे है, और किसान लोग नही मानते कि ये मनुष्यकृत हैं, फिर भी, स्पष्टत: ये कृत्रिम ही हैं । आच्छादन शिलाओं सहित 'डोलमेन' (महापाषाण पट्ट स्मारक, चित्र 4.7), मूसल-

4.7 डोलमीन, नया गाव आच्छादन शिला की लबाई लगभग 4 इ च

4.8 कोरे गाव-आन-मे चपक चिह्न, व्यास लगभग 9 इ च

4.9 गहरी उकेरी वाली अ डाकृतिया, थिअर खिला

शिलाओं (चित्र 4.8) से रहित चपक चिह्न (जिनमें वृहत्तम नयागांव मे है, 2' 10"× 1' 10"), उत्कीर्ण अंडाकृतियां, कहीं-कहीं लंबाई में छः फुट व्यास वाली (चित्र 4.9) और अक्सर एक दूसरे में समाई हुई ऐसी अनेक रेखाओं मे युक्त, जो शिलाखंड के दो या तीन पहलुओ पर खुदी मिलती हैं, ये सबके सब प्रागैतिहासिक अधविश्वास के ऐसे सुस्पष्ट चिह्न हैं जिन्हें कृषक समाज बिलकुल भुला बैठा है । न तो इन खुदी हुई रेखाओ से, न ही ऐसे शिलाखंडों या शिलापट्टों से, जो कि चिकनाए गए हैं, धातु औजारो के प्रयोग का कोई संकेत मिलता है । हा, कुछ ऐसी शिलाएं अपवादस्वरूप अवश्य हैं जो बांधों या भवन सामग्रियों के प्रयोजनार्थ हाल ही तोड़ी गई है । ऐसे पथ पर जहा कही कोई प्रबल आधुनिक पूजा पद्धति विद्यमान है, वह किसी मातृदेवी की

इससे जरा-सा बड़े एक शिलाखंड पर चढ़ा दिया गया है। उत्तरी पार्श्व पर उकेरा हुआ एक दुहरा वृत्त है जो लगभग एक फुट बाहरी व्यास वाला है और पूर्णतया रेखित नहीं है, इस पर अभी तक सिंदूर पुता हुआ है। आच्छादन-शिला में एक अन-गढ़ चापाकार गुहिका (पीली जगह) के नीचे, आच्छादन-शिला को अपनी जगह कायम रखने वाली फन्नी (वेज) में बनाए गए एक गड्ढे में एक सुडौल अंडाकार पत्थर है। अनुमान है कि लाल पुता हुआ यह पत्थर ही मूल देवी है। शिलापट्ट के उन्नत किनारे के आसपास बहुत से मुट्ठी के आकार के 'चीनी मिट्टी' के पिंड अपने-अपने गर्त में अवस्थित हैं। शीर्ष-तल के बीचोबीच एक बहुत गहरा गर्त है, लगभग 18 इंच

4.6 चषक और बेलन, आच्छादन शिला का शीर्ष बोल्हाई मन्दिर

व्यास का जिसमें एक अदृढ़ अंडाकार पत्थर रखा है (चित्र 4.6); इससे तनिक छोटा एक दूसरा पत्थर, दक्षिण की ओर आधार के रूप में प्रयुक्त शिलाखंड में रखा है। ये पत्थर चिकने और गोल हैं, इनके नीचे जितने भी चषक (कम या गोल गर्त) बने दिखते हैं वे इन गोल पत्थरों को (और शायद इनसे भी पहले बहुतेरे शिला-पिंडों को) उनमें इस तरह चलाने से बने या कम से कम वर्तमान विस्तृत आकार को प्राप्त हुए, जिस तरह खरल में किसी छोटे किंतु भारी मूसल को फेरा जाता है। बोल्हाई का 'स्टोव,' जो उक्त घट-शिला से कुछ दूर पर है, किसी समय ऐसा ही चषक था, और वह तब तक इस रूप में कायम रहा जब तक उसका किनारा किसी दुर्घटना से अथवा जानबूझकर की गई हरकत से टूट न गया। अनेक अंडाकार पत्थर रसोईघर के इर्द-गिर्द पड़े हैं और महापाषाण-पुंजों का सिलसिला उत्तर की ओर फैलता चला गया है।

बोल्हाई ने स्थानांतर गमन किया अवश्य, किंतु वाजी लोगों के साथ नहीं। वाजियों की वरिष्ठता का मूल कारण यह है कि उन्होंने एक ऐसी पूजा को अपनाया और पुनरुज्जीवित किया जिसका चलन बहुत दिन से बंद था। पूना और मारवड में स्थापित बोल्हाई देवियां अपेक्षाकृत आधुनिक हैं, और वहां उनका स्थानांतरण मुख्यतः स्थानीय कषाइयों के चलते हुआ। किंतु कतिपय बोल्हाई देवियां उस पुराने पथ पर अवस्थित हैं जो व्यापार मार्ग बन गया, उदाहरणार्थ, कोरेगांव मूल और कोराची आलंदी।

(कर्हा घाटी मे भी, जहां महापाषाण दुर्लभ हैं, यही सिलसिला जारी है, लेकिन बोल्हई देवी जो पता नही बोल्हाई से अथवा मूल प्रवास से संबंधित है या नही, उक्त घाटी के सीमांत पर, सोनोरी से ऊपर और मल्हारगढ से नीचे, एक महापाषाण स्थल में प्रतिष्ठित है) । चीनी मिट्टी की विशाल शिलाओं के पुंज वाले स्तूप इस मार्ग की विशेषता हैं, मुला के दक्षिण तट पर तो कई दर्जन अवस्थित है । यद्यपि ये टीले जीर्णावस्था मे है, और किसान लोग नही मानते कि ये मनुष्यकृत है, फिर भी, स्पष्टत: ये कृत्रिम ही है । आच्छादन शिलाओं सहित 'डोलमेन' (महापाषाण पट्ट स्मारक, चित्र 4 7), मूसल-

4.7 डोल्मीन, नया गाव आच्छादन शिला को लबाई लगभग 4 इच

4 8 कोरे गाव-आन-मे चषक चिह्न, व्यास लगभग 9 इच

4.9 गहरी उकेरी वाली अ डाकृतिया, थिम्पर जिला

शिलाओं (चित्र 4.8) से रहित चषक चिह्न (जिनमें वृहत्तम नयागांव में है, 2' 10"× 1' 10"), उत्कीर्ण अंडाकृतियां, कहीं-कहीं लंबाई में छः फुट व्यास वाली (चित्र 4.9) और अवसर एक दूसरे में समाई हुई ऐसी अनेक रेखाओं से युक्त, जो शिलाखंड के दो या तीन पहलुओं पर खुदी मिलती हैं, ये सबके सब प्रोगैतिहासिक अंधविश्वास के ऐसे सुस्पष्ट चिह्न है जिन्हें कृषक समाज बिलकुल भुला बैठा है । न तो इन खुदी हुई रेखाओ मे, न ही ऐसे शिलाखंडों या शिलापट्टों से, जो कि चिकनाए गए हैं, धातु औजारो के प्रयोग का कोई संकेत मिलता है । हां, कुछ ऐसी शिलाएं अपवादस्वरूप अवश्य हैं जो बांधों या भवन सामग्रियों के प्रयोजनार्थ हाल ही तोडी गई है । ऐसे पथ पर जहा कही कोई प्रबल आधुनिक पूजा पद्धति विद्यमान है, वह किसी मातृदेवी की

इससे जरा-सा बड़े एक शिलाखंड पर चढ़ा दिया गया है। उत्तरी पार्श्व पर उकेरा हुआ एक दुहरा वृत्त है जो लगभग एक फुट बाहरी व्यास वाला है और पूर्णतया रेखित नहीं है, इस पर अभी तक सिंदूर पुता हुआ है। आच्छादन-शिला में एक अनगढ़ चापाकार गुहिका (पीली जगह) के नीचे, आच्छादन-शिला को अपनी जगह कायम रखने वाली फन्नी (वेज) में बनाए गए एक गड्ढे में एक सुडौल अंडाकार पत्थर है। अनुमान है कि लाल पुता हुआ यह पत्थर ही मूल देवी है। शिलापट्ट के उन्नत किनारे के आसपास बहुत से मुट्ठी के आकार के 'चीनी मिट्टी' के पिंड अपने-अपने गर्त में अवस्थित हैं। शीर्ष-तल के बीचोबीच एक बहुत गहरा गर्त है, लगभग 18 इंच

4.6 चपक और बेलन, आच्छदन शिला का शीर्ष, बोल्हाई मन्दिर

व्यास का जिसमें एक अदृढ़ अंडाकार पत्थर रखा है (चित्र 4.6); इससे तनिक छोटा एक दूसरा पत्थर, दक्षिण की ओर आधार के रूप में प्रयुक्त शिलाखंड में रखा है। ये पत्थर चिकने और गोल हैं, इनके नीचे जितने भी चपक (कप या गोल गर्त) बने दिखते हैं वे इन गोल पत्थरों को (और शायद इनसे भी पहले बहुतेरे शिलापिंडों को) उनमें इस तरह चलाने से बने या कम से कम वर्तमान विस्तृत आकार को प्राप्त हुए, जिस तरह खरल में किसी छोटे किंतु भारी मूसल को फेरा जाता है। बोल्हाई का 'स्टोव,' जो उक्त घट-शिला से कुछ दूर पर है, किसी समय ऐसा ही चपक था, और वह तब तक इस रूप में कायम रहा जब तक उसका किनारा किसी दुर्घटना से अथवा जानबूझकर की गई हरकत से टूट न गया। अनेक अंडाकार पत्थर रसोईघर के इर्द-गिर्द पड़े हैं और महापाषाण-पुंजों का सिलसिला उत्तर की ओर फैलता चला गया है।

बोल्हाई ने स्थानांतर गमन किया अवश्य, किंतु वाजी लोगों के साथ नहीं। वाजियों की वरिष्ठता का मूल कारण यह है कि उन्होंने एक ऐसी पूजा को अपनाया और पुनरुज्जीवित किया जिसका चलन बहुत दिन से बंद था। पूना और सासवड में स्थापित बोल्हाई देवियां अपेक्षाकृत आधुनिक हैं, और वहां उनका स्थानांतरण मुख्यतः स्थानीय कसाइयों के चलते हुआ। किंतु कतिपय बोल्हाई देवियां उस पुराने पथ पर अवस्थित हैं जो व्यापार मार्ग बन गया, उदाहरणार्थ, कोरेगांव मूल और कोरावी आलंदी।

(कर्हा घाटी में भी, जहां महापाषाण दुर्लभ हैं, यही सिलसिला जारी है, लेकिन बोल्हाई देवी जो पता नहीं बोल्हाई से अथवा मूल प्रवाम से संबंधित है या नहीं, उक्त घाटी के सीमांत पर, सोनोरी से ऊपर और मल्हारगढ से नीचे, एक महापाषाण स्थल मे प्रतिष्ठित है) । चीनी मिट्टी की विशाल शिलाओं के पुंज वाले स्तूप इस मार्ग की विशेषता हैं, मुला के दक्षिण तट पर तो कई दर्जन अवस्थित हैं । यद्यपि ये टीले जीर्णावस्था मे है, और किसान लोग नही मानते कि ये मनुष्यकृत हैं, फिर भी, स्पष्टत. ये कृत्रिम ही है । आच्छादन शिलाओं सहित 'डोल्मेन' (महापाषाण पट्ट स्मारक, चित्र 4 7), मूसल-

4.7 डोल्मेन, नया गाव आच्छादन शिला की लबाई लगभग 4 इच

4 8 कोरे गाव-मान-मे चपक चिह्न, व्यास लगभग 9 इच

4.9 गहरी उकेरी वाली अ डाकृतिया, थिग्रर खिला

शिलाओं (चित्र 4.8) से रहित चपक चिह्न (जिनमें वृहत्तम नयागांव में है, 2' 10"× 1' 10"), उत्कीर्ण अंडाकृतियां, कहीं-कहीं लंबाई में छः फुट व्यास वाली (चित्र 4.9) और अक्सर एक दूसरे में समाई हुई ऐसी अनेक रेखाओं से युक्त, जो शिलाखंड के दो या तीन पहलुओं पर खुदी मिलती है, ये सबके सब प्रागैतिहासिक अंधविश्वास के ऐसे सुस्पष्ट चिह्न है जिन्हें कृषक समाज बिलकुल भुला बैठा है । न तो इन खुदी हुई रेखाओं मे, न ही ऐसे शिलाखंडों या शिलापट्टों से, जो कि चिकनाए गए है, धातु औजारों के प्रयोग का कोई संकेत मिलता है । हा, कुछ ऐसी शिलाएं अपवादस्वरूप अवश्य हैं जो बांधों या भवन सामग्रियों के प्रयोजनार्थ हाल ही तोडी गई है । ऐसे पथ पर जहां कही कोई प्रबल आधुनिक पूजा पद्धति विद्यमान है, वह किसी मातृदेवी की

ही है। थेऊर गाव के इलाके मे बोल्हाई के बाद जिस देवी की प्रसिद्धि है वह है
सटवाई। उसका यश कुछ दूर तक फैला हुआ है, और प्रसव के बाद महिलाएं उसे
विशेप रूप से पूजती हैं। उसे नियमित रूप मे जो बलिया दी जाती हैं उनका रक्त
कदम बकदम टीले के ऊपर तक छिडका जाता है। टीले की चोटी पर उस देवी का
जो नीम का पेड है वह अभी छोटा ही है, उसके बिलकुल इर्द-गिर्द जो पत्थर हैं उन्हें
किसानो ने दुबारा सलीके से बिठा दिया है। किंतु, उनमें जो सबसे बडा है उस पर
उत्कीर्ण 12'' वृत्त और रेखाए प्रागैतिहासिक है, जैसा कि यह सपूर्ण महापापाण है।
मामूली महिपासुर मर्दिनी किस्म की आधुनिक उद्भृत प्रतिमाओंवाली बोल्हाई जो
कोरेगाव मूल मे ले आई गई तो उसने एक दूसरे ऐसे प्रागैतिहासिक स्थल पर पुनः
दखल जमा लिया, किंतु प्रतिमाविहीन सटवाई के प्रतिरूप तो महज पत्थरों पर छपे
लाल निशान ही है। शेप चट्टानपुंज पूजाछापहीन या अचिह्नित है। उनकी आकृति
से भी बढकर उनकी असाधारण सख्या से सैलिसबरी के मैदान के गोल स्तूपो की याद
हो आती है। भिव्री के निकट एक प्रभावोत्पादक टीला है जिसका घेरा 250' है और
जो इर्द-गिर्द के कृष्यक्षेत्र से 10' से भी ज्यादा ऊपर उठा हुआ है, उसके शिलाखडो
पर मामूली प्रागैतिहासिक पूजा चिह्न अकित हैं, हालाकि आजकल वहा कोई पूजा
प्रचलित नही है। इन स्थलो मे से अनेक में लघु पापाण मिले, थेऊर हाईप्लेस मे तो
एक जगह ढेरो एकत्रित थे। यह एक शिलाखड सचय है जो, एक पूर्व-पश्चिममुखी
लंबे स्तूप के सदृश है, लेकिन जिस पर निशान कम ही है, और आधुनिक पूजा चिह्न
तो कतई नही है। तीस गज दूर, इससे छोटा किंतु अधिक विशिष्टता से चिह्नित एक
गोल शिलाखंड समूह है। निस्सदेह, बोल्हाई का रसोईघर प्रागैतिहास मे एक प्रमुख
पूजास्थल था। आजकल भी, अनावृष्टि का घोर संकट उपस्थित होने पर, इस देवी की
जंगम प्रतिमा घट शील ले जाई जाती है, जहां इसकी पूजा की जाती है, और आच्छादन
शिला को औपचारिक धूमधाम के साथ जलाभिषिक्त किया जाता है। वर्षा प्राप्ति के
लिए की जाने वाली यह पूजा, अमोघ माने जाने के बावजूद, आज तक इस वीरान
स्थान को सरसब्ज नही कर पाई है।

बोल्हाई की प्रथम वेदी की आच्छादन शिला, जो कुछ ही स्पर्श बिंदुओं पर
आधारित उत्तम कोटि का, चीनी मिट्टी का शिलापट्ट है, चोट करने पर किसी घटे की
तरह गूजती है। घटे का स्वर तब भी निकलता है जब इस शिलापट्ट पर अवस्थित
कोई भी मूसलशिला अपने चपक मे वर्तुल गति से रगड़ी जाती है। परपरा बताती है
कि जब कभी प्रधान मूसल शिला को शिलापट्ट के शीर्ष भाग के बीचोंबीच अवस्थित
उसके विशाल चपक में गोल गति मे फेरा जाता था, तब घंटा बजने की आवाज घट-
शील से ही नही सुनाई पड़ती थी, जैसा कि सप्रति होता है, बल्कि एक मील दूर
अवस्थित देवी की प्रतिमा से भी साथ-साथ ही निकलती थी। यह इस बात का संकेत
होता था कि देवी ने अपनी पूजा प्रारंभ करने की अनुमति दे दी। यह करामाती
आवाज अब स्थानातरित नही होती। इसका कारण यह बताया जाता है कि किसी

अज्ञात ऋतुमती स्त्री ने उक्त प्रागैतिहासिक वेदी को छू दिया और, इस प्रकार, ऋतुकाल विषयक निषेध को भंग कर दिया। इससे वह वेदी अपवित्र हो गई, और परिणामतः उस करामाती आवाज का स्थानांतरित होना तभी से बंद हो गया। किंतु, यह स्पष्टीकरण ग्राह्य नहीं हो सकता कि घटों के प्रतिस्थानी उक्त चपक हैं। तलशिला के दक्षिण-पूर्व छोर पर जो विशाल चपक और मूसल मौजूद हैं उससे ऐसी कोई आवाज नहीं निकलती। अन्यत्र भी चपक चिह्न वाले बहुतेरे शिलाखंड है, वे सबके सब तत्सदृश मूक है। चपक और मूसल रसोईघर के उपकरण रहे होंगे यह असंभाव्य है। महाराष्ट्र में आजकल प्रचलित रगाडा जरूर इससे मेल खाता है, लेकिन यह तो वहां दक्षिणपूर्व (आंध्र और कर्नाटक) से अपेक्षाकृत हाल ही आया है। चपक कर्मकाड का मूल महत्व अब विस्मृत हो चुका है।

थेऊर की संरक्षिका देवी महात्रिआई-बूढ़ी मा है, जिसका मंदिर नदी के किनारे है। उस गाव की सबसे बूढ़ी किसान महिला के अनुसार, यह देवी वहा 'बहुत दूर से, हल के पीछे' आई। -इसका असली निवास इसका मंदिर या कोई पुराना टीला न होकर नदी मे स्थित एक प्राकृतिक चट्टानी टापू है जहां न अंडाकृतिया हैं न उत्कीर्ण वृत्त और न ही चपक चिह्न। कहते हैं कि नदी से बरतन उस चट्टान के निकट बड़े रहस्यपूर्ण ढंग से प्रकट हो जाया करते थे, इससे, और इंदुरि की कुंरजाई के बारे मे एक ऐसी ही अनुश्रुति से, उन प्रागैतिहासिक मृद्भाडों की परंपरागत लब्धियों की ओर संकेत संभव है जिन्हें ग्रामीण लोग पवित्र समझते है। विचित्र तो यह है कि महाराष्ट्र के अष्ट विनायकों अर्थात आठ आदिवासीय गणेशों मे से एक की पूजा उस उच्च स्थान से पुकार के क्षेत्र के भीतर ही प्रबल रूप से चल पड़ी, और आज भी बहुसंख्यक तीर्थयात्री इस गणेश को पूजने इस गरीब गाव मे पधारते हैं। वर्तमान गणेश मंदिर का निर्माण अथवा पुनर्निर्माण माधव राव पेशवा ने किया था। 1772 मे थेऊर में उसका देहांत हो गया। उसकी विधवा रमाबाई उसके साथ सती हो गई। नीरस आधुनिक शैली मे बना उसका सती स्मारक नदी तट को अलंकृत करने के बजाय विरूपित ही करता है। थेऊर उदाहरण है एक ऐसे प्रागैतिहासिक पवित्र स्थान का जहां होने वाली असली पूजा अब नहीं होती। खंडोबा गांव के पश्चिम जो भग्न खिला (किला) स्थित है वहां प्रायः प्रत्येक शिला पर अंडाकृतिया अथवा वृत्त उत्कीर्ण हैं/थेऊर के आसपास जो शत या शताधिक उत्कृष्टतम महापाषाण है उनमे से एक पर, नदी के निकट, आपवादिक रूप से म्हसोबा अंकित है, हालांकि वास्तविक पाषाण पुंज तो अब निकटवर्ती बाध के लिए पत्थर तोड़ ले जाने के कारण जीर्ण-शीर्ण हो चुका है।

पूजा प्रवजन : देवगण

जुन्नर स्थित मानमोडी और कार्ले निकटवर्ती मावला देवी के अतिरिक्त, महाराष्ट्र में पूजे जाने वाले प्रधान देवताओं मे कम से कम तीन ऐसे हैं जो बौद्ध काल पूर्व या पूर्व बौद्ध काल के हैं। महामायूरी मंत्र[9] मे विभिन्न स्थानों के संरक्षक यक्षगण की एक

लंबी सूची दी हुई है । उनकी सूची मे कम से कम तीन नाम ऐसे है जिनसे महाराष्ट्रीय लोग आज भी परिचित हैं . नन्दिकेश्वर में (शिवरहित) नंदी, कर्हाड क्षेत्र में वीर, और पैठण वाले खंडक । शकुन विचार करने और यदा-कदा उसमें सहायक होने की थोडी सीख पाए हुए पवित्र नंदी साडों के प्रदर्शननार्थ, किंतु बिना किसी शिव प्रतिमा के, कन्नड तमाशागरों के कारवां पुराने ढब ढंग से आज भी महाराष्ट्र से होकर सफर करते हैं । निस्संदेह, खंडक तो ऐन पैठण में कालक्रम से शिव ही बन गए हैं, लेकिन खंडोबा की पूजा का प्रचार-प्रसार मध्य युग में हुआ । इसने अन्य बहुतेरी पूजा पद्धतियों को आत्मसात कर लिया, और आजकल इसका सबसे ज्यादा जोर, कर्हा घाटी से ऊपर, जेजुरि स्थित पहाड़ पर है । प्रतिस्पर्धी खंडोबा अनेक हैं, जैसे, पाल मे । इस पूजा का स्थान और धंगरो द्वारा खंडोबा की विशिष्ट पूजा, ये दोनों बातें अंतत. विशेष महत्व की प्रतीत होगी । खंडोबा के दो पत्नियां हैं, किंतु सामान्यतः दोनों मे से कोई भी उसके मंदिर मे प्रतिष्ठित नहीं होती । एक का नाम है, महाल्सा, जो अभी तक एक भयावनी दानवी, साथ ही देवी भी, मानी जाती है, दूसरी है बाणाई अथवा वालाई, जो संभवत उस बाण वनजाति और वंश की स्मृति संजोए हुए है जिसकी जानकारी पूर्व पल्लवों और मयूरशर्मन[9] को चौथी सदी मे थी । खंडोबा के 'प्रधान मंत्री' हेगडी के समान, यह विशेषतः एक धंगर देवता है । सतारा जिले मे और जिस भी जगह को धंगरों ने दीर्घकाल तक अपना मौसमी विश्रामस्थान (वाडी) बनाया, जैसे, पाटस और नातेपुते, वहा वीर अथवा विरोबा के बहुत से मंदिर हैं । यह वीर पृजा मांग वीर पूजाओं से भिन्न है जिन्हें 'मांग' निम्नजाति के लोगो ने किसी मृत व्यस्क की प्रेतात्मा को तुष्ट करने के लिए चलाया, ठीक जैसे उनका 'चेडा' एक बालक का प्रेत है जो दफनाए जाने से तब तक इनकार करता है जब तक उसकी पूजा का सिलसिला न कायम किया जाए । वीर पूजा का केंद्र सतारा जिले मे कही पर है, और पश्चिमी सतारा[10] मे इस देवता की मिट्टी की प्रतिमाएं धंगरों के साथ दफन की जाती थी और कदाचित आज भी दफनाई जाती हैं । चरवाहो के इस देवता में खंडोबा वाली जटिलता नही है, खंडोबा की पूजा मे तो निराले वाघ्या पुरोहित का, सनकी मुरल्या दासियो का, तथा शताब्दियों के दौरान आत्मसात कर लिए गए बहुतेरे दूसरे-दूसरे घुस आए तत्वो का समावेश है । संभव है, यह वीर पूजा उस वीरभद्र की पूजा हो जिसका वर्णन कतिपय पुराणों में आया है और जो संग्राम मे शिव की सेना का एक सेनापति माना जाता है ।

एक बडा वीर मंदिर वीर नामक गाव मे है जो अब नीरा नदी पर बने एक नए बांध से जलाप्लावित हो गया है । विचित्र बात है कि इस गांव का प्रधान देवता 'वीर' न होकर म्हसोबा है जिसे अक्सर मस्कोबा कहकर पुकारते हैं । प्रकाशित परंपरा[11] के अनुसार इस बस्ती का विकास 'वीर' देवता के आने पर हुआ जिसे आप्रवासी (आप्रवासी) धगर चरवाहे बेलगाव जिले के सोनारी से, म्हस्वड के समीपस्थ सरमुंडो और नीरा नदी की घाटी पर से होते हुए, अपने साथ लाए । अलग-अलग

मंदिरों और उनके साथ लगे आख्यानों से जाहिर है कि धुर वीर में वीर देवता के उत्कर्ष के तीन सुस्पष्ट प्रक्रम हैं। प्रधान (और अंतिम) मंदिर जिसे 18वीं सदी में मराठा राजा साहू से दान मिला करते थे, मूल आगमन स्थल से कोई तीन मील ऊपर है। इस देवता की वास्तविक प्रतिमा आज भी एक लाल पुता तांदला पत्थर है। धंगर लोग अपने महाप्रभु को पूजने के लिए वीर मे बहुत बड़ी संख्या में वर्ष मे दो बार इकट्ठे हुआ करते है : दूसरा (दशहरा) में अपनी भेड़ों सहित वार्षिक क्षेत्रांतरण प्रारंभ करने के लिए, और दस दिन के लिए माघ (फरवरी) मे, जब मुख्य उत्सव की समाप्ति भेड़ों और बकरों के भारी बध मे होती है। अस्तु, ग्रामीण कुल (गांव के कबीले) इस देवता को एक-एक लडके की बलि देकर ज्येष्ठता के अधिकारी हो गए। जिस जगह ऐसी नरबलि होती थी वहां आज भी एक स्मारक है और पूजा होती है, पूर्वप्रचलित नरबलि के साथ एक आख्यान जुड़ गया है, जिससे उसकी भयानकता हल्की पड़ गई है, कि देवता ने अनुग्रह करके बच्चों को पुनर्जीवित कर दिया। माघ उत्सव के अवसर पर दिव्य परीक्षा मे सम्मिलित होने का अधिकार इन विशेषाधिकार प्राप्त परिवारों से चुने गए सीद (सिद्ध) लोगों का विशिष्ट परमाधिकार है। इस परीक्षा का स्वरूप है अपने अंगों पर तेज तलवारों से घाव करना। ऐसा माना जाता है कि ऐसा कर्मकांडी यदि किसी निषिद्ध पापकर्म से दूषित न हो चुका हो तो उसके शरीर से रक्त नहीं निकलता। जब ऐसी उन्मुक्ति से वास्तविक दिव्य स्फूर्ति की सिद्धि हो जाती है, तब सिद्ध को थोड़ी देर के लिए दैवज्ञता (दिव्य दृष्टि) प्राप्त हो जाती है। एक प्रमुख परिवार को जो एक और विशेषाधिकार प्राप्त है वह यह है कि उसके प्रधान पुरुष को तीक्ष्ण अंकुसियों मे टांगकर विशेष स्तंभ (बगाड) के चारों ओर झुलाया जाता है, अब यें अंकुसियों पुट्ठों की पेशियो में घोंपकर पार नहीं की जाती, बल्कि कमरबद के नीचे से निकाल कर अटका दी जाती है।

मस्कोबा क्रमश: कहां से चलकर कहां आया और अंततः वीर मे बस गया, इसका जो वृत्तात प्रकाशित है उसमे उसके साथ जोगूबाई के होने का कोई जिक्र नही है। इसका भी कोई वर्णन नही है कि ये दोनों कैसे और कब, परस्पर विवाहित हो गए। मस्कोबा, भैरव, खडोबा, वेताल, म्हातोबा, ये सब विभिन्न परस्पर विरोधी प्रकार से, शिब से समानित या संबंधित है। तुकाई, जिसका वार्षिक अर्चन-पूजन मस्कोबा के लिए लाजिमी है, पार्श्ववर्ती पहाडी पर महिषासुर म्हसोबा को मर्दित करती है, जो ऐसी बात है जिस पर कभी कोई टीका-टिप्पणी नही हुई। इसके अतिरिक्त, जिन ग्रामीणों को यह बात बताई जाती है उनकी अपनी मान्यता है कि उन्हें यह दृश्य दिखाई ही नहीं देता, हालाकि वहा जो उद्भूत प्रतिमा है उसमें महिषासुर को सुस्पष्टत: मर्दित दिखाया गया है। वीर मे जो चंद लघु पाषाण है वे तुकाई के मंदिर के समीप हैं; यह सभव नही है कि महाड बंदरगाह से चलनेवाला व्यापार मार्ग गुप्त वाकाटक काल तक उचित रूप मे विकसित हो चुका हो। मस्कोबा की जबरन पैंठ तो अपेक्षाकृत नवीन घटना है।

कोथरूड गांव में (जो अब पूना शहर में समा गया है) म्हातोबा देवता की भी पत्नी जोगूबाई ही है। दो मील से भी अधिक दूर, पर्वत शिखर पर एक लाल पुता गोल पत्थर है, वही म्हातोबा का मूल स्थान बताया जाता है। वह मूला (नदी) तटवर्ती वाकड से चरवाहों के साथ आया और वहां टिक गया। वाकड के लोगों का अपना एक प्राचीन म्हातोबा जोगूबाई मंदिर है सही (1678 ई० से भी पहले का), लेकिन वे लोग एक मील दूर हिंजवडी गांव के मंदिर को और भी पुराना मानते हैं। हिंजवडी में एक छोटा सा म्हातोबा मंदिर है जिसमे अश्वारोही भैरव जैसी एक आकृति है। यह मंदिर एक छोटी टेकरी (क्षुद्र पर्वत) पर अवस्थित है, जिसके अधोभाग में अच्छी किस्म के लघुपाषाण उपलब्ध हैं। लघुपाषाणों का ऐसा जमाव इस पूरे इलाके में प्रायः अकेला है। महत्वपूर्ण बात यह है कि हिंजवडी म्हातोबा के कोई संगिनी नहीं है। इस प्रधान म्हातोबा का आगमन कोंकण से हुआ था। उसने कुछ कुमारियों को नदी के एक गहरे खात में डुबवा दिया। जिस जगह यह दुर्घटना हुई उसके पास अब एक छोटा सा मंदिर है जो उक्त दोनों गांवों (वाकड और हिंजवडी) की सीमा के समीप है। तत्पश्चात वह उत्तर की ओर (खेड से छह मील पर) चास कमान से (अपने प्रतिरूप) छोटे म्हातोबा को बुलाने और उसे वाकड में स्थापित करने को बाध्य हो गया। लेकिन अंकुसी झूलन खंभे और कडी के लिए लकड़ी तो आज भी और ऊपर मूला घाटी अवस्थित वार्पे से लानी पडती है, जो संभवतः बडे म्हातोबा के मार्ग में पड़ता है। जाहिर है कि जोगूबाई हिंजवडी की प्राक् म्हातोबा देवी की प्रतिस्थानी के रूप में मान ली गई है।

पहले, प्रतिवर्ष, चैत्र (अप्रैल) पूर्णिमा को, इस देवता को दो मनुष्यों की बलि दी जाती थी। इस गौरव के भागीदार हिंजवडी के जांभूलकर कुलवाले और उसी गांव के माग जातिवाले होते थे, प्रत्येक समूह से एक प्रतिनिधि बलि के लिए चुना जाता था। शिरश्छेदन स्थान और दो शिलापट्ट, जहां कटे सिर प्रदर्शित और पूजित होते थे, आज भी दिखाए जाते हैं। देवता को एक जुलूस में इन सिरों के ऊपर से ले जाना होता था। माग जाति में जो अंतिम पुरुष बच रहा उसे एक स्वप्न हुआ जिसमे दर्शन देकर देवता ने इस उग्र नरबलि के एवज में अपेक्षाकृत हल्की पूजा का विधान कर दिया। अब बगाड (अंकुसी झूलन) का परमाधिकार जाभूलकर लोगों ने अपने लिए सुरक्षित कर रखा है, अंकुसियां आज भी पुट्ठों की पेशियों में घोंप दी जाती हैं। मांग प्रतिनिधि अपनी जांघ में एक लंबा चीरा लगवाकर सम्मानित होता है। इस क्रिया से जो रक्त निकलता है वह देवता के ललाट पर टीका लगाने के काम आता है, घाव से बहनेवाले रक्त को तब, छूमंतर की नाई, वेदी अंगारचूर्ण और राख के प्रयोग से रोक दिया जाता है। वार्षिकोत्सव के अवसर पर प्रथम बकरे की बलि देने के श्रेय के अधिकारी चास कमान के मुलूक (मूल) परिवार वाले होते हैं। उनका कहना है कि वाकड में डुबा दी गई सात लडकियां मुलूक कुल की ही थीं, जिन्हें स्वयं म्हातोबा ने चास कमान से अपहृत कर लिया था। यह देवता कुछ समय के लिए वाकड से चास

कमान ग्राया था, और उसका एक मंदिर वहां ग्राज भी ग्रपक्षीण ग्रवस्था मे पड़े मुलूक गृह के पास मौजूद है। उसने उन कुमारियो को तब देखा जब वे वसंतोत्सव मे नाग को श्रद्धांजलि अर्पित करने गई हुई थी, जिसका मंदिर ग्राज भी नदी तट पर विद्यमान है। कुमारियो का दल कड्डस तक तो दृष्टिगत रहा, किंतु उसके बाद, म्हातोवा के वाकड वाले नदी खात मे पहुंचने तक, ग्रदृश्य हो गया। ज्ञातव्य है कि नाग मंदिर से नदी के बहाव की ग्रोर दो फर्लांग पर चास कमान की टाइक ग्राज भी कुड माऊली, 'नदी खात की छोटी म।' ही है। उसके प्रधान पुजेरी अर्ध ग्रादिवासी कोली लोग हैं, ग्रौर स्पष्टतः इस देवी की व्युत्पत्ति किसी महापाषाणीय देवता से है जो मुलूक लोगो की ग्रपनी ज्येष्ठता के हेतुस्वरूप उक्त बलात्कार सबद्ध था या नही, निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। मंदिर के सामने म्हसोवा उसका 'गाड़ीवान' है।

वाकड हिंजवडी देवता ने, शायद पुजारिनो को नदी-खात में डुबाकर, किसी मातृदेवी पूजा को बलपूर्वक उखाड फेंका। इसका स्मारक मंदिर हिराई सिताई का मंदिर कहलाता है। प्रचलित विश्वास के ग्रनुसार कुमारियां तो सात ही थी, किंतु वहा कुमारियों के प्रतीकस्वरूप जो ग्रनगढ पत्थर विद्यमान है उनकी संख्या वस्तुतः सात से ज्यादा है। हिंजवडी ग्रौर वाकड के किसानो द्वारा ग्रपने-ग्रपने क्षेत्र मे स्थापित (ग्रपरिवर्तित नाम वाली या जोगूवाई रहित) विभिन्न म्हसोवा पूजा पद्धतियो से यह साबित हो जाता है कि सरक्षक देवता वास्तव में कोई म्हसोवा ही था, तीन ऐसे पूजा-स्थल डूब मरी कुमारियों के मंदिर के समीप ही है। दूसरी बार म्हातोवा का सपत्नीक ग्रागमन स्पष्टतः इस कारण से घटित हुग्रा कि स्थानीय रूप से किसी देवी की जोरदार मांग होने लगी, प्राक्-म्हातोवा लोग समूल नष्ट नही हो गए थे।

उंबरे नवलाख के प्रवास की कहानी ग्रधिक सीधी-सादी है। सामान्यतया नाथ (स्वामी) कहलाने वाले संरक्षक देवता भैरव का ग्रागमन कोंकण से हुग्रा, कर्जत के निकटवर्ती ढाक होते हुए। पहला पडाव गाव के पीछे वाले पर्वत के शिखर पर हुग्रा, जो एक दीर्घ पठार है, जहां पानी वर्ष मे कम से कम छह महीने उपलब्ध रहता है, ग्रौर जहा गाव के मवेशी ग्राज भी चरते हैं। मूल नाथ मंदिर, शिखर के निकट, एक ग्रवतल (काठीनुमा) दर्रे के ऊपर ग्रवस्थित है। तत्पश्चात, गाव वहां से हटकर पहाड़ की तराई में जा बसा, उस जगह की निशानी है प्राचीनतर हनुमान मंदिर। ग्रंतिम बार गाव से हटकर एक मील दूर, नदी किनारे जा बसा, ग्रौर ग्राज तक वही है, जहा पास ही प्रधान नाथ मंदिर है। पांच सौ वर्ष पहले, यह उंबरे इस पूरे इलाके मे जुन्नर के बाद दूसरा प्रधान नगर था। कुमूर गिरिद्वार (दर्रा) भोर घाट तथा पर्वत श्रेणी के निम्नतर भाग में ग्रवस्थित दर्रों से होकर जो भी व्यापार होता या तत्संबंधी परिवहन से प्राप्त होने वाले पथकर इसे समृद्ध किए रहते थे। कम से कम बारह प्रस्तर निर्मित मंदिर ग्राज भी विद्यमान है, साथ ही, लगभग 15वीं सदी की एक विशाल ईदगाह ग्रौर एक मस्जिद भी। सामंती शासक या राजप्रसाद तो, सिवा मुख्य प्रवेशद्वार के, लुप्त हो चुका है, ग्रन्य भग्नावशेष भी, जिनकी ठीक-ठीक छानबीन कभी नही की गई, यहो

बताते है कि यहां जो कुछ था, नष्ट हो चुका है। यह ध्वंस उस निकटतम सडक के चलते हुआ जो अब छह मील दूर है, बीच के फासले मे एक नदी और कई खड्ड पड़ते हैं। ग्रामीण लोग 'ढाक' से ऊपर अवस्थित प्रभावशाली भैरव गुफा की कठिन तीर्थयात्रा पर आज भी प्रतिवर्ष जाते है जिसमें पूरे दो दिन जाने मे, और उतने ही आने मे लगते है। उंवरे अगले गाव नानोली के समान कोई लघुपाषाण क्षेत्र नही है। यहां किसी जमी जमाई मातृदेवी पूजा को विस्थापित करने का सवाल ही नही पैदा हुआ होगा। छठी शताब्दी मे यह स्थान अगर कोई महत्वपूर्ण व्यापार केंद्र रहा होता तो खोज करने पर इस इलाके मे, जो कि अन्यथा अत्यंत उपयुक्त है, बौद्ध गुफाओ के मिलने की आशा मजे मे की जा सकती थी।

उंवरे के अतिरिक्त बहुत से अन्य गावो मे भी एक ऐसा घटना प्रवाह देखने में आता है जो ऐतिहासिक कालो मे तो मजे मे जारी रहा हो, यथोचित सावधानी बरती जाए तो प्रागितिहास मे भी देखा जा सकता है। गावो के क्रमिक अवरोहण द्वारा नदी किनारे आ बसने की बात तो दूर उनमें से बहुतों का निर्माण तक इस इलाके में लोह युग के पूर्व संभव नहीं हो सका होगा। निम्नतम भूमि जंगल और दलदल ने भरी थी। दूसरी ओर, प्रचुर धातु आपूर्ति और पर्याप्त संख्या मे गावों के बिना किसी शक्तिशाली राज्य का अस्तित्व संभव था ही नही। सातवाहन सेना जो इतनी शक्तिशाली थी कि इस देश के उत्तरी भाग में गगा बेसिन तक धावा बोल चुकी थी, और चारों ओर अपने पड़ौसियो मे बराबर युद्धरत रहने मे समर्थ थी, स्थाई रूप से कायम थी, इसका मतलब ही है कि (प्रस्तुत) कृपि अन्न की प्राप्ति नियमित रूप से और प्रचुर मात्रा में होती थी जिससे अन्न का भंडार जरूरत से ज्यादा भरा रहता था। आजकल खेती यद्यपि नदी किनारे घाटी के अधोभाग मे होती है, फिर भी, वेदिकाओं (सीढ़ीदार खेतो) का सिलसिला तो, जोकि प्रसंगाधीन इलाके मे सर्वत्र सुदृश्य है, पहाड की ऊंचाई पर चढता चला गया है और अक्सर 30° से भी ज्यादा की ढलान पर देखने में आता है। यहा हल का प्रयोग सचमुच दुष्कर है, जहां किया जाता है वहां हल को निहायत होशियारी से हथालना जरूरी होता है, लेकिन इसमे जितना श्रम लगाना पड़ता है, उपज अनुपाततः उतनी अच्छी नही हो पाती, कभी हो ही नही सकती। और नीचे अवस्थित समतल वेदिकाओं की फसलों मे भिन्न, इन ऊंची सीमांकन वेदिकाओं की फसल कोई न कोई मोटा अनाज ही है, जैसे, नाच्णी वरी, सावा इत्यादि। और आज भी, जहा कहीं संभव होता है, किया जाता है, और एक खंती (ठोंबा) से गड्ढे खनकर उनमें इन्हें रोपित या प्रतिरोपित कर दिया जाता है। आधुनिक ठोंबा खुद ही काफी भारी है, उसे और भारी बनाने की जरूरत नही, लेकिन पुरातत्वज्ञ[12] जिन वलयाकार पत्थरो को गदा कहते हैं वे निरसंदेह वही प्रागैतिहासिक खंतीनुमा पत्थर हैं जो खनने के काम आते थे। सावा सु० नि० 239 का मामाक है, जो उन दिनों जंगली तौर पर ढेरों उपजा करता था और अति संयमी अन्नसग्राही तपस्वी लोग, जो अपने को ययावर मानते थे, इसी को खाकर अपना निर्वाह कर लिया करते थे। उच्चस्थ

सीमांकन वेदिकाएं, अधिकांशतः घास आच्छादित है। निम्नस्थ वेदिकाएं, जो अक्सर उपरली वेदिकाओं के अटूट क्रम में मिलती है, समतल है, और वहा बराबर खाद्यान्न ही उपजाया जाता है, अधिकतर क्षेत्रों में सामान्यतः धान की खेती होती है और अन्य क्षेत्रों में गेहूं, ज्वारी (ज्वार) और बाजरी बाजरा) की खेती की जाती है। धान्य विशेष की फसल स्थानीय परिस्थितियों पर निर्भर करती है, सिंचाई के जरिए (जिसकी शुरुआत मुख्यतः सामंतकाल मे हुई), क्रमबद्ध सस्यावर्तन (फसलो के हेरफेर) से, साल मे एक से अधिक फसल उगाना संभव हो जाता है।

लघुपाषाण पथ

चूंकि लघुपाषाण बहुधा आदिम पूजास्थलो के पास देखने मे आए है, इसलिए, ऐसे शिल्प उपकरणों के स्थिति क्रम की जानकारी हमारे लिए प्रागितहास के पुनर्निर्माण में सर्वाधिक महत्व की होगी। ज्ञातव्य है कि अधिकतर ऐसे स्थान, पूजास्थल तो क्या, उपजीविका स्थल भी नही रहे होंगे। सर्वोत्तम लघुपाषाण स्थल अनेक शाखाओं वाले एक अटूट पथ अथवा कई प्रतिच्छेदी (एक दूसरे को काटने वाले) पथों के रूप में हैं।
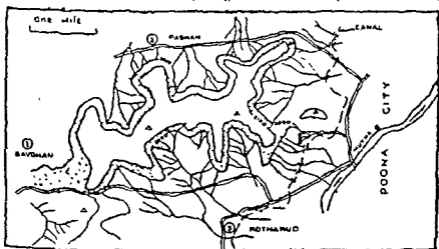
4.10 पूना स्थित अधित्यका-पथ और उपत्यका पथ। समुद्र तल से ऊपर 2000 और 2150 की समोच्च रेखाएं (कंटूर) अंकित त्रिकोण [महापाषाण-स्थलों के सूचक हैं जहां आधुनिक पूजाएं प्रचलित हैं।

इनमे से जिनका सूक्ष्म अध्ययन किया जा सका है वे ये हैं, पूना के निकट लगभग 8 मील का एक विस्तार (चित्र 4.10), तथा दो और पर्वतश्रेणियों पर के ऐसे अनुक्रम जो व्यवच्छिन्न होते हुए भी चुने गए हैं : एक तो है (मंढरपुर के निकट) पूना खास से लगभग 130 मील दक्षिण-पूर्व, और अन्य हैं लगभग 35 मील उत्तर-पश्चिम और 45 मील उत्तर-पूर्व (चित्र 4.11) इनके अतिरिक्त पूना में उक्त पथ से लगे ही किंतु लगभग 300 फुट और ऊंचा एक दीर्घ पठार भी है, जहां और भी भोंडी बनावट वाले

लघु पाषाण अपेक्षाकृत कम संख्या में मिले हैं। इसे हम 'उपत्यका' पथ से भिन्न, 'अधित्यका' (या पर्वतीय) संस्कृति कह सकते हैं। इन उपत्यका पथों की एक विशेषता यह है कि भूपृष्ठीय लब्धियों (अर्थात धरातल से प्राप्त वस्तुओं) में सिर्फ लघुपाषाण ही मिले हैं, मृद्भांड (मिट्टी के बरतन) या पत्थर के वृहदाकार औजार नहीं। नदी
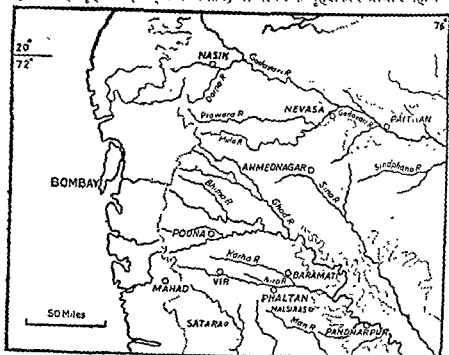
4.11 इस अध्याय से संबद्ध स्थलीय अध्ययन का मुख्यक्षेत्र। बिंदुकित रेखा 1650 कंटूर की द्योतिका है। यह रेखा पश्चिम ओर वाले वृहत दक्षिण-कगार के करीब-करीब समानांतर है।

घाटियों में और नीचे की ओर जाने पर, औसत तकनीक में तरक्की देखने को मिलती है, अनेक नमूने कलाकृतियां हैं, कुछ तो ऐसे नाजुक, जैसे सूक्ष्म शल्य-उपकरण। उत्खनन और अपरदन से जितनी मिट्टी जमीन के नीचे से बाहर आ चुकी है वह यह प्रमाणित करने को पर्याप्त है कि वहां न तो कोई उपजीविका स्तर है न मृद्भांड जैसे अन्य शिल्प उपकरण। ऐसा पथ सामान्यतः नदी घाटी के उपांत में पहाड़ के मूल के समानांतर जाता है। घाटी के बीच में ऊंची जमीन पड़ने और इंद्र यणी तथा भीमा नदियों की गति काफी टेढ़ी-मेढ़ी और चक्करदार होने के कारण वहां पगडंडी की लंबाई भी उसी अनुपात में बढ़ गई है। भंडारा से, जहां एक स्तूप और तुकाराम की प्रिय बौद्ध गुफाएं हैं, नानोली (फिरंगाई बौद्ध गुफाओं से) होकर आगे जानेवाली पगडंडी पार्श्ववर्ती है, लेकिन मागवी होकर कांबरे और गोविंत्री तक इसका सिलसिला बीच वाली ऊंची जमीन पर कायम है। ऐसा प्रतीत होता है कि थेऊर, जो मुख्य पथ पर अवस्थित नहीं है और जहां वृहत नदी मोड़ तथा गहरे खात हैं, जिस तरह आज-

कल एक मत्स्यग्रहण शिविर और पूजास्थल है, उसी तरह पहले भी था। अन्य मत्स्य-ग्रहण शिवर कहीं तटवर्ती कुंभरवल्लण में और पूना मानसिक चिकित्सालय के निकट-वर्ती कब्रिस्तान के पास, जहां एक छोटी सी सहायक नदी मूला मुठा नदी से जा मिली है, देखे जा सकते है। मत्स्यग्रहण के जरिए निश्चय ही आदिम आहार की महत्वपूर्ण अनुपूर्ति होती थी। लेकिन अब तो वहा का यह हाल है कि नदिया सूख-सिकुड गई हैं, उनके खात कीचड़-गाद से भर गए है, और मछलिया पकड़ने का काम कुछ इस तरह अंधाधुंध हुआ है कि नन्ही 'स्प्रेट' मछलियां भी मिल जाए तो गनीमत है। फिर भी, देहू स्थित पुल पर से देखिए, जहा गहरे खात मे मछलिया सरक्षित है और कभी-कभी उन्हे पवित्र मानकर चारा भी दिया जाता है, तो जाहिर होता है कि आज भी इन नदियों से तीन से पांच फुट या इससे भी ज्यादा लंबी महसीर मछलियां बडी तादाद मे हासिल की जा सकती हैं।

लेकिन, यह संभव नही है कि उपत्यकाई लघुपाषाण संस्कृति की प्रधान खाद्यापूर्ति का साधन मछलियां पकडना रहा हो। पूना लघुपाषणों का अधिकतम सकेंद्रण कतिपय ऐसे अनुकूल स्थानो मे है जो जंगलरहित किंतु किसी पूर्ववर्ती पेयजल स्रोत के सामीप्य की सुविधा से युक्त हैं, जैसे, प्रभात फिल्म कंपनी के दोनो बाजू के स्थल, वैदवाडी कब्रिस्तान (जहां वैदू लोग आज भी एक प्रकार के कुंचित शवाधान की प्रथा निभाते हैं), और राष्ट्रीय रसायन प्रयोगशाला के सामने वाले गिरि पार्श्व पर के दो पुराने झरने। अगर कहें कि ये स्थान कर्मशाला स्थल थे तो इसकी सिद्धि न तो प्राप्त क्रोडो के अनुपान से होती है न शिल्प उपकरणों की वास्तविक संख्या से। इन्हें स्थाई उपजी-विका स्थल मान लेने में भी यह कठिनाई है कि वैसी स्थिति मे तत्कालीन आबादी उत्तरकालीन आबादी के समान होती जिसका लघु अंश ही अन्न संग्रहण से मुश्किल से पोषित हो पाता। निष्कर्ष यह है कि ये स्थान शिविर स्थल हैं। लोग उन दिनों कही स्थाई तौर पर न बसकर बराबर स्थान परिवर्तन करते रहते थे; लघुपाषाणों की परत पतली है जरूर, लेकिन अवश्य ही इस संचय मे भी शताब्दियां ही नही, सहस्राब्दियां लग गई होंगी। नीचे अवस्थित दक्षिण सोपानाश्म मे कैलसियम सिलिकेट है जिस पर उस वायुमंडलीय कार्बन डाइआक्साइड का असर पडता है जो बेसाल्ट स्तरो से होकर भीतर रिसनेवाले वर्षा जल में अवशोषित हुआ रहता है। इसी का परिणाम है कैल्सि-यम कार्बोनेटमयजल, जो चूने की पपडिया जमा सकता है, चूने के पिंड बना सकता है, अथवा अनुकूल आप्लावन के अधीन कंक्रीट की चट्टान जैसी आधार परत पैदा कर सकता है। इसका अधिकांश, मिट्टी के नीचे, शैल पृष्ठ के समानांतर सरकता हुआ कैपिलरी क्रिया से ऊपर आ गया है। इस तरह जो चूना मिट्टी पैदा हुई है वह उपरली परत की अपेक्षा श्वेततर है, और चूना पत्थर कंदराओं में पाई जाने वाली संकोणाश्म परत से अपने तौर पर मेल खाती है। उत्तरोत्तर दरिद्र और नीति भ्रष्ट होते जाते कृषक-वर्ग ने जो जंगलो को काटना और अंधाधुध खेती करना शुरू कर दिया(इन दोनों प्रक्रियाओं ने इस शताब्दी के आरंभ में बडा गभीर रूप धारण कर लिया था) परिणामस्वरूप

उपरली मिट्टी की परत साफ हो चुकी है और उजली जमीन दिखाई देने लगी है जो भीगने पर भी अपरदित नहीं होती है और पेड़-पौधे नहीं उगा पाती। इस परत के ऊपर के संभावित शिल्प उपकरण क्रमशः नीचे धंसते चले गए हैं और कैल्सीभूत मिट्टी तक पहुंच गए हैं, अधिक से अधिक यही हुआ है कि किसी गुजरते हुए जानवर या आदमी का पांव पड़ जाने से वे उक्त कैल्सीभूत मिट्टी में गड़ गए हैं। वे बह नहीं जाते, जब तक कि सीधे नदी की उमड़ के रास्ते में न पड़ जाएं; बहा ले जाए जाने पर संभव है कि वे किसी कंदरा (गहरी घाटी) अथवा नदी में पहुंच गए हों, जो निर्माण कार्य में प्रयुक्त होने वाली बालू के छाने जाने पर चलनीस मे, कभी कभी पुनः देखने मे आते हैं, संदूषण (घाल-मेल या मिलावट) का एक हेतु यहां द्रष्टव्य है। सामान्यतः, किसी असंदूषित (निखालिस) सतह पर प्राप्त लघुपाषाण समूह, बावजूद इसके कि तत्संबद्ध भूखंड जोता जा चुका है, उस स्थान से खिसककर जहा वे लघुपाषाण मूलतः लुप्त हो गए, कुछ फुट से ज्यादा दूर नहीं गया होगा। निष्कर्ष यह कि हमारी खोज के परिणामस्वरूप प्रस्तुत प्राचीन पथो का पुनर्निर्माण न्यायसंगत है।

वृहत पथ निम्नलिखित रूप से वर्णित हो सकते है : (क) कर्हा घाटी से नीचे, सामान्यतः नदी के उत्तर, (ख) इससे निकली हुई शाखाएं, जो दर्रों से होती हुई और नीचे भीमा घाटी मे गई हैं (मल्हारगढ, वापदेव घाट, भुलेश्वर इत्यादि), (ग) वे शाखाएं जो यवत के नीचे, जहां भीमा नदी घाटी वस्तुतः कर्हा घाटी से मिल जाती है, भीमा की छोटी-छोटी सहायक नदियों के किनारे-किनारे मीलों तक चली गई हैं, (घ) भीम-मुला के ऊचास पर, योन्हाई के रसोईघर से होकर, और भीमा के पार, पुनः उत्तर-पश्चिम से आने वाली छोटी-छोटी सहायक नदियों के किनारे-किनारे गई हुई शाखाए : उदाहरणार्थ, कामिनी नदी के किनारे, (मभार के महान लघुपाषाण पथों में एक) वह पथ जो निमगाव होकर कोंढापुरी तक और उनके आगे जाता है, वेल नदी के किनारे, तलेगाव ढमढेरे से कणेसर तक गया हुआ पथ, इत्यादि। सर्वोत्तम तकनीक कर्हा पथ की है, और इसका सर्वोच्च विकास देउलगाव गाडा मे द्रष्टव्य है।

पूना के पास, लघुपाषाण पथ मोटे तौर पर औसत 800 मीटर से अनधिक एक पतली पट्टी के रूप मे है, और समुद्रतल से 1900 समोच्चरेखा के विस्तार में मुठा नदी के बाएं तट पर विस्तृत है। परिशुद्ध परिरक्षित विधि महाविद्यालय (ला कालेज) के ठीक पीछे वाली पहाड़ी के चारों ओर है। (तदनुरूप दक्षिण तटवर्ती क्षेत्र यद्यपि एक नहर और एक सड़क के चलते उजड़ गया है, तो भी, जो कुछ बच रहा है यही यह प्रमाणित करने को पर्याप्त है कि वहां भी यही स्थिति थी)। अंतराल तो बहुत पड़ गया है, उपर्युक्त संस्थाओं की बड़ी-बड़ी इमारतें बन गई हैं, एक भेड़-पालन फार्म कायम हो गया है, पूना शहर के नए नगरांचलीय गृह निर्माण का तेजी से विस्तार हुआ है, दूरस्थ गड्ढों को भरने के लिए बहुत भारी मात्रा मिट्टी काटकर हटाई गई है, फिर भी, उस पथ पर लघुपाषाण अभी भी पाए जा सकते हैं, उनकी अधिकतम संख्या ऊपर बताए गए कतिपय अनुकूल स्थानों में पाई जाती है। स्पष्टतः यह उस महापथ की

उपरली शाखा है जो पूर्व-दक्षिण की ओर गया है। तराई के लघुपाषाणों मे असाधारण परिष्कार ही नही देखने में आता है, उनमे अनेक (150 से भी अधिक), संभवतः आभूषण या तावीज की तरह धारण करने के लिए, बीधे हुए मिलते है, परिवहन की सुविधा के लिए उन्हे शायद ही वेधा गया हो, कारण उनकी आनुपातिक सख्या बहुत कम है (लगभग 6 प्रति हजार) और वे महज मामूली पत्थर हैं। इन पत्थरो को सूराखदार बनाने मे प्राकृतिक गर्तों, और अनुप्रस्थ भ्रंशों तथा कैल्सेडोनी मे अत.-स्थापित मृदुतर द्रव्य से पूरा फायदा उठाया गया। धातु उस समय उपलब्ध नही थी, अन्यथा मनके मिलते, और बढ़िया गठन वाले पाषाण देखने मे आते। बेधन क्रिया संभवतः बारीक चट्टान की नोकों अथवा हड्डी की नोको से संपन्न की गई होगी और अप्रघर्षक के रूप में महीन बालू से काम लिया गया होगा। वृहत्तम छेदो का व्यास लगभग 3-5 मिलीमीटर है, छोटे छेद (जिनसे कड़ा केश या बारीक तार ही पार किया जा सकता है) साफ करने के लिए महीन सुई आवश्यक है, और ऐसे छेद बनाने के लिए पत्थर को अक्सर दोनो ओर से बीच तक वेधा जाता है। जो द्रव्य पारभासी कैल्सेडोनी होता है उसमें छेद के चतुर्दिक लगभग 4 मिलीमीटर व्यास वाला एक विचित्र वर्तुल धब्बा दिखाई देता है, प्रकटत., वेधन के क्रम मे जो ताप पैदा होता है उससे प्रकाशाक बदल जाता है। जहां तक मुझे ज्ञात है, यह पहली बार है जब ऐसी लब्धियां आख्यापित की गई हैं। इन्हें देखने से जाहिर होता है कि इन पत्थरों का इस्तेमाल करने वाले लोग ऊंची तकनीक और अपने द्रव्य के सम्यक ज्ञान से सपन्न थे, स्पर्शकुशल ऐसे कि कोई भी मणिकार ईर्ष्या करे, और धनुवेधन की, अतः धनुप की, जानकारी रखते थे।

ये सुनिर्मित लघुपाषाण अक्सर अन्यदेशीय 'चकमक' पत्थर के औजारो की अनुपम प्रतिकृतियों (स्केल्ड माडल) जैसे प्रतीत होते है, और इनमे पर्याप्त परिष्कार लक्षित होता है। इनमे अधिकाश संयुक्त औजारो के मानवीयकृत पुरजे हैं जैसे, बाणाग्र, कांटेदार बर्छियां, हंसियां, और कुछ बधिया करने की बारीक छुरियां तथा हड्डी पर काम करने की तक्षणियां है। अनेक में औजार के बन जाने के बाद जमाया गया विजातीय द्रव्य दर्शित होता है; बिना किसी जोडने वाली वस्तु के, चिकने कैल्सेडोनी मे वह जुड़ नही पाता। ऐसे औजारों की मूठ के लिए, अथवा इनसे वृहत्तर औजार बनाने के लिए, सर्वोत्तम पदार्थ होता पेड़ का गोंद या, उससे भी अधिक अनबुझे चूने और ताजे खून[13] का मिश्रण। ऐसी समष्टि से यह प्रतीत होता है कि खाल प्रसाधन के काम मे वे काफी आगे बढे हुए थे, जो संभवतः मृद्भांड के अभाव मे चमड़े के पात्र तैयार करने के लिए किया जाता था। खाल उतारने में सावधानी तो बरती जाती ही थी, उसके तल के ततु (निचली सतह के रेशे) भी इस तरह तोड़ जाते थे कि चमडा न कटने पावे। यह काम रासायनिक द्रव्यों के बिना मृगचर्म शोधन के समान है। स्नायुओं को फाड़ सकने वाले तथा अन्य प्रकार के लघुपाषाण, जो निस्सदेह सूए है, यहा पर्याप्त सख्या मे मौजूद है। संभवतः, लघुपाषाण औजारो से चीरी गई लचीली

टहनियों से टोकरियां भी बनाई जाती थी। इससे अन्न संग्रहण अर्थव्यवस्था की मुख्य समस्या अन्न संचयन की समस्या का समाधान निकल आता है। आहार की अनुपूर्ति होती थी शिकार से, मत्स्य ग्रहण से, और खाने योग्य जंगली घास बीजों की कटनी से। कृषि अगर होती भी थी तो नगण्य, अगर अपने कोई पशु वे पालते भी होंगे तो वे भेड़ से बड़े या ज्यादा मोटी चमडीवाले जानवर नही हो सकते।

आज भी धंगर लोगो को कहां का किनारा ही पसंद है। एक दर्जन आदमियों की छोटी-छोटी इकाइया (वाडी) बनाकर और 300 तक भेड़ें साथ लेकर, बरसात में वे किसी एक जगह जमकर बस चार महीने रहते हैं। बरसात बीतने पर उनकी वाडी जगह छोड़कर आगे चल पड़ती है और आठ महीने तक परिभ्रमण ही करती रहती है, जब तक अगली बरसात नही आ जाती। चरवाही के चक्कर में चरवाहों की यह जमात 400 मील तक भी निकल जा सकती है, और तब भी कोई जरूरी नही कि घूमकर हमेशा अपने मूल निवास स्थान मे ही वापस आ जाए। धंगर लोगों मे एक मध्यपाषाण युगीन प्रथा अभी तक परिरक्षित है। अपने भेड़ों को बधिया करने के लिए वे चकमक पत्थर का इस्तेमाल करते हैं। कैलसेडोनी (अब ज्यादा दानेदार चट्टान) के एक चुने हुए पिंड को बेसाल्ट (पत्थर) की निहाई पर रखकर उस पर एक भारी बेसाल्ट पिंड से प्रहार किया जाता है, और उसके तीक्ष्णतर टुकड़े यदि इतने बड़े हुए कि हाथ मे सुरक्षित रूप स पकड़े जा सकें तो भेड़ों को बधिया करने मे फौरन प्रयुक्त कर दिए जाते है। पुराने लघुपाषाणों को उपयोगी बनाने के लिए धार का कोई अनुशोधन या परिष्कार नही किया जाता है, और न ही ऐसे टुकड़ों को सायार या मूठदार बनाया जाता है। इस प्रकार निर्मित चकमक छुरी को वृषणों (अंडग्रंथियो) के साथ पानी में उबालकर फेंक दिया जाता है। पहली बार के संक्षिप्त प्रयोग के बाद, ऐसी कोई छुरी रखी नहीं जाती, लेकिन, आकारत: ये छुरियां इतनी बडी और इतनी अनगढ हैं कि असली, फलकित पाषाणयुगीन शिल्प उपकरणों को अपनी मिलावट से दूषित नही कर सकती इन्हें कोई धंगर (अथवा कोई अन्य ग्रामवासी) औजार या शिल्प उपकरण भी नही मान सकता। (जैसे यहूदियों में खतना करने के लिए चकमक छुरियों का इस्तेमाल बरकरार है, वैसे ही) उक्त रूप मे बधिया करने की प्रथा अभी तक प्रचलित है, और इसका एकमात्र कारण यही है कि इस तरह की चीर से हुआ घाव रोगाणुहीन होता है जबकि धातु छुरियों के इस प्रकार प्रयोग किए जाने मे गंभीर संक्रमण का खतरा रहता है।

धंगर लोग पत्थर के औजार अन्य किसी प्रयोजन से काम नही लाते, उनके जगम देवताओं के द्योतक हैं सिर पर ऊन की रंगीन लडियोंवाले सोटे (काठी) जो जो शिविर के पास जमीन मे गाड़ दिए जाते हैं और जिन्हें हर सुबह भेड़ों को चराने ले जाने के पहले पूजा जाता है। असली रास्ते, जिनसे उनके झुड गुजरते थे, वर्तमान क्षेत्रिक अर्थव्यवस्था के चलते बदल गए हैं। किसान लोग अपने कृष्य क्षेत्रों में भेड़ों को एक या दो रात बैठाए रखने के लिए, ताकि उनकी लेंड़ियों से जमीन को बहुमूल्य

उर्वरक प्राप्त हो जाए, यूथपालों को अनाज या नकद देते है। इसका मतलब है कि चरागाह अब पहले के चरागाह नही रहे, अपरदन, शुष्कन, बहुत ज्यादा चराई और बढ़िया चारा घास की जगह सूखी घास लग जाने से स्थिति मे काफी फर्क आ गया है। यद्यपि इस जाति में मल्हार राव होल्कर जैसे वीर सेनानी पैदा हुए तथापि कोई भी पेशेवर धंगर अब न तो आखेट करता है न ही, आयुधों का उपयोग उनके यूथ और शिविर खूंखार रखवाले कुत्तों से सुरक्षित रहते हैं। पहले वे लोग प्रतिवर्ष ऊन काटकर खुद ही धुनाई, कताई और बुनाई करके मोटे कंबल (कबली) तैयार किया करते थे, अब कटे ऊन को बेच दिया करते हैं।

धंगर लोग, जिनको वाडिया पश्चिमी घाट पर्वतमाला के निकटतम पड़ती हैं (उदाहरणार्थ जावली, जिला सातारा), बरसात शुरू होने पर तुरत नीचे नदी घाटी में पूरब की ओर चल पड़ते हैं। वजह यह कि भेड़ों का अगर ज्यादा नमी लग जाएगी तो खुर सड़ने लगेंगे। कगार के निकट लगभग 100" वृष्टि होती है (और धुर कगार पर 200 से भी अधिक), किंतु वीर से नीचे, अथवा किसी तत्सदृश घाटी के तत्समान स्थल में, वृष्टि की मात्रा घटकर लगभग 12" हो जाती है। इसका मतलब है कि आरंभ मे धंगर लोगों को बराबर यायावर ही बने रहना पडता था, आगे चलकर, भेड़पालों को एक जगह जमकर चार महीने रहने की सुविधा तो तभी सुलभ हो सकी जब कृपक वर्ग ने जंगल काटकर वनभूमि को स्वच्छ कर दिया।

अधित्यकावासी और उपत्यकावासी

पश्चिमी दक्षिण की महान वार्षिक तीर्थयात्रा का गंतव्य स्थान है पढरपुर। वार्करी उपासक लोग वस्तुतः वर्ष मे दो तीर्थयात्राएं करते हैं। पहली तीर्थयात्रा, आजकल इसी की प्रधानता है, (जुलाई मे) आषाढ़ शुक्ल एकादशी को की जाती है, दूसरी जो वास्तव, मे वापसी यात्रा है, ऐसा ख्याल है कि (अक्तूबर-नवंबर) कार्तिक एकादशी को पंढरपुर से शुरू होती है। बीच में पडनेवाले वर्षा ऋतु के चार महीनों की अवधि हिंदू धर्म का चातुर्मास है जिसमें, दृढ ब्राह्मण नियम के अनुसार, यात्रा वर्जित है। अतः, उपर्युक्त समारोहों का प्रारंभ अवश्य ही प्राक् कृषिक समाज मे हुआ होगा, क्योंकि वर्षा ऋतु के आरंभ मे, जब खेती संबंधी बुनियादी काम हाथ मे होते हैं, किसानों को अपनी कृष्य भूमि छोड़कर दूर जाने की सुविधा संभवतः नही हो सकती थी। इसके अतिरिक्त, विट्ठल पूजा,[13] जो उक्त तीर्थयात्रा का प्रकट उद्देश्य है, अपेक्षाकृत अर्वाचीन चलन है। ज्ञानेश्वर ने, जो अपने अल्प जीवनकाल में ऐसी तीर्थ यात्रा पर गए थे, कही भी विठोबा का जिक्र नही किया है।

मूलतः ये तीर्थयात्राएं प्रागैतिहासिक उपत्यकावासियों के मौसरी स्थानांतरगमन के रूप मे हुआ करती थी। वर्षा इस इलाके मे आषाढ एकादशी के काफी पहले शुरू हो जाती है, जिससे उक्त मार्ग के सूखे हिस्सों में भी जल और चरागाह सुलभ हो जाते हैं। पश्चिमी पर्वत श्रेणी पर इतनी अधिक वर्षा होता है कि कृपीतर जीवन भी

टहनियों से टोकरियां भी बनाई जाती थी। इसमें अन्न संग्रहण अर्थव्यवस्था की मुख्य समस्या अन्न संचयन की समस्या का समाधान निकल आता है। आहार की अनुपूर्ति होती थी शिकार से, मत्स्य ग्रहण से, और खाने योग्य जंगली घास बीजों की कटनी से। कृषि अगर होती भी थी तो नगण्य, अगर अपने कोई पशु वे पालते भी होंगे तो वे भेड़ से बड़े या ज्यादा मोटी चमड़ीवाले जानवर नही हो सकते।

आज भी धंगर लोगों को कहां का किनारा ही पसंद है। एक दर्जन आदमियों की छोटी-छोटी इकाइयां (वाडी) बनाकर और 300 तक भेड़ें साथ लेकर, बरसात मे वे किसी एक जगह जमकर बस चार महीने रहते हैं। बरसात बीतने पर उनकी वाडी जगह छोडकर आगे चल पड़ती है और आठ महीने तक परिभ्रमण ही करती रहती है, जब तक अगली बरसात नही आ जाती। चरवाही के चक्कर में चरवाहों की यह जमात 400 मील तक भी निकल जा सकती है, और तब भी कोई जरूरी नहीं कि घूमकर हमेशा अपने मूल निवास स्थान में ही वापस आ जाए। धंगर लोगों मे एक मध्यपाषाण युगीन प्रथा अभी तक परिरक्षित है। अपने भेड़ों को बधिया करने के लिए वे चकमक पत्थर का इस्तेमाल करते हैं। कैल्सेडोनी (अब ज्यादा दानेदार चट्टान) के एक चुने हुए पिंड को बेसाल्ट (पत्थर) की निहाई पर रखकर उस पर एक भारी बेसाल्ट पिंड से प्रहार किया जाता है, और उसके तीक्ष्णतर टुकड़े यदि इतने बड़े हुए कि हाथ से सुरक्षित रूप स पकड़े जा सकें तो भेड़ों को बधिया करने में फौरन प्रयुक्त कर दिए जाते है। पुराने लघुपाषाणों को उपयोगी बनाने के लिए धार का कोई अनुशोधन या परिष्कार नही किया जाता है, और न ही ऐसे टुकड़ो को साधार या मूठदार बनाया जाता है। इस प्रकार निर्मित चकमक छुरी को वृषणों (अंडग्रंथियों) के साथ पानी में उबालकर फेंक दिया जाता है। पहली बार के संक्षिप्त प्रयोग के बाद, ऐसी कोई छुरी रखी नही जाती, लेकिन, आकारतः ये छुरियां इतनी बड़ी और इतनी अनगढ हैं कि असली, फलकित पाषाणयुगीन शिल्प उपकरणों को अपनी मिलावट मे दूषित नही कर सकतीं इन्हे कोई धंगर (अथवा कोई अन्य ग्रामवासी) औजार या शिल्प उपकरण भी नही मान सकता। (जैसे यहूदियों में खतना करने के लिए चकमक छुरियों का इस्तेमाल बरकरार है, वैसे ही) उक्त रूप से बधिया करने की प्रथा अभी तक प्रचलित है, और इसका एकमात्र कारण यही है कि इस तरह की चीर से हुआ घाव रोगाणुहीन होता है जबकि धातु छुरियों के इस प्रकार प्रयोग किए जाने मे गंभीर संक्रमण का खतरा रहता है।

धंगर लोग पत्थर के औजार अन्य किसी प्रयोजन से काम नही लाते, उनके जंगम देवताओ के द्योतक हैं सिर पर ऊन की रंगीन लडियोंवाले सोटे (काठी) जो जो शिविर के पास जमीन में गाड दिए जाते हैं और जिन्हे हर सुबह भेडो को चराने ले जाने के पहले पूजा जाता है। असली रास्ते, जिनसे उनके झुंड गुजरते थे, वर्तमान धौतिक अर्थव्यवस्था के चलते बदल गए हैं। किसान लोग अपने कृष्य क्षेत्रो में भेडों को एक या दो रात बैठाए रखने के लिए, ताकि उनकी लेंड़ियों से जमीन को बहुमूल्य

उर्वरक प्राप्त हो जाए, यूथपालों को अनाज या नकद देते हैं। इसका मतलब है कि चरागाह अब पहले के चरागाह नहीं रहे, अपरदन, शुष्कन, बहुत ज्यादा चराई और बढ़िया चारा घास की जगह सूखी घास लग जाने से स्थिति में काफी फर्क आ गया है। यद्यपि इस जाति में मल्हार राव होलकर जैसे वीर सेनानी पैदा हुए तथापि कोई भी पेशेवर धंगर अब न तो आखेट करता है न ही, आयुधों का उपयोग उनके यूथ और शिविर खूंखार रखवाले कुत्तों से सुरक्षित रहते हैं। पहले ये लोग प्रतिवर्ष ऊन काटकर खुद ही धुनाई, कताई और बुनाई करके मोटे कंबल (कंबली) तैयार किया करते थे, अब कटे ऊन को बेच दिया करते हैं।

धंगर लोग, जिनकी वाड़ियां पश्चिमी घाट पर्वतमाला के निकटतम पड़ती हैं (उदाहरणार्थ जावली, जिला सातारा), बरसात शुरू होने पर तुरंत नीचे नदी घाटी में पूरब की ओर चल पड़ते हैं। वजह यह कि भेड़ों का अगर ज्यादा नमी लग जाएगी तो खुर सड़ने लगेंगे। कगार के निकट लगभग 100" वृष्टि होती है (और धुर कगार पर 200 से भी अधिक), किंतु वीर से नीचे, अथवा किसी तत्सदृश घाटी के तत्समान स्थल में, वृष्टि की मात्रा घटकर लगभग 12" हो जाती है। इसका मतलब है कि आरंभ में धंगर लोगों को बराबर यायावर ही बने रहना पड़ता था, आगे चलकर, भेड़पालों को एक जगह जमकर चार महीने रहने की सुविधा तो तभी सुलभ हो सकी जब कृषक वर्ग ने जंगल काटकर वनभूमि को स्वच्छ कर दिया।

अधित्यकावासी और उपत्यकावासी

पश्चिमी दक्षिण की महान धार्मिक तीर्थयात्रा का गंतव्य स्थान है पंढरपुर। वार्करी उपासक लोग वस्तुतः वर्ष में दो तीर्थयात्राएं करते हैं। पहली तीर्थयात्रा, आजकल इसी की प्रधानता है, (जुलाई में) आषाढ़ शुक्ल एकादशी को की जाती है, दूसरी जो वास्तव, में वापसी यात्रा है, ऐसा ख्याल है कि (अक्तूबर-नवंबर) कार्तिक एकादशी को पंढरपुर से शुरू होती है। बीच में पड़नेवाले वर्षा ऋतु के चार महीनों की अवधि हिंदू धर्म का चातुर्मास है जिसमें, दृढ़ ब्राह्मण नियम के अनुसार, यात्रा वर्जित है। अत, उपर्युक्त समारोहों का प्रारंभ अवश्य ही प्राक् कृषिक समाज में हुआ होगा, क्योंकि वर्षा ऋतु के आरंभ में, जब खेती संबंधी बुनियादी काम हाथ में होते हैं, किसानों को अपनी कृष्य भूमि छोड़कर दूर जाने की सुविधा संभवतः नहीं हो सकती थी। इसके अतिरिक्त, विट्ठल पूजा,[13] जो उक्त तीर्थयात्रा का प्रकट उद्देश्य है, अपेक्षाकृत अर्वाचीन चलन है। ज्ञानेश्वर ने, जो अपने अल्प जीवनकाल में ऐसी तीर्थ यात्रा पर गए थे, कहीं भी विठोबा का जिक्र नहीं किया है।

मूलतः ये तीर्थयात्राएं प्रागैतिहासिक उपत्यकावासियों के मौसमी स्थानांतरगमन के रूप में हुआ करती थीं। वर्षा इस इलाके में आषाढ़ एकादशी के काफी पहले शुरू हो जाती है, जिससे उक्त मार्ग के सूखे हिस्सों में भी जल और चरागाह सुलभ हो जाते हैं। पश्चिमी पर्वत श्रेणी पर इतनी अधिक वर्षा होती है कि कृषीतर जीवन भी

अन्यथा कष्टसाध्य हो जाता है, अतः भेडों को खुर सड़न होने का डर तो स्वाभाविक ही है। ऐसी स्थिति में हरिण तथा अन्य छोटे-छोटे आखेट पशु निश्चय ही घाटी में उतर आते होंगे, और नदियों में बाढ़ आ जाने से मत्स्यग्रहण शिविर भी निष्प्रयोजन हो जाते होंगे। उसी प्रकार, अंतिम वृष्टि हो जाने पर, दशहरा के लगभग एक महीना बाद, मुख्य नदी घाटियों के शुष्क निचले विस्तार खंडों से वापसी यात्रा सुखकर ही नहीं, बाध्यकर भी हो जाती होगी। ऊपरले विस्तार खंडों में चराई और पानी की पर्याप्त सुविधा रहती होगी, ग्रीष्मकाल धूप सहने लायक होती होगी और समुद्रतटीय नमक पहुंच के भीतर रहता होगा। चंद समुद्रतटीय लघुपाषाणस्थलों[14] की मौजूदगी का कारण प्रागैतिहासिक लवण व्यापार है, और यह भी मेरी अपनी सूझ, मेरा मौलिक निर्वचन है। पश्चिमी समुद्रतट पर जब तक नारियल की (जो मूलतः मलयदेश से आया है) खेती शुरू नही हुई, जिसका समय संभवतः पहली सदी का उत्तरार्ध है, कृषि का विकास वहां नहीं हुआ। नमक, आज भी कोंकण से बाहर भेजा जाने वाला एक बहुमूल्य निर्यात द्रव्य है। यह अभी भी लमाण लद्दू कारवां के जरिए पुराने पथहीन दर्रों से होते हुए, तट से दूर, भीतरी प्रदेश में लाया जाता है।

लघुपाषाण पदार्थों और धंगर प्रथाओं के अतिरिक्त, इस (इतिहास) पुनर्निर्माण की पुष्टि के लिए और भी पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध है। उक्त तीर्थयात्रा का मुख्य अंग है कोई पचास पालखी शोभा यात्राएं। ये पालकियां विभिन्न स्थानीय संतों के नाम पर दूर-दूर से, पैठण (एकनाथ) तक से, ढो लाई जाती है, शोभायात्रा का इस रूप में संगठन पिछली सदी में हैबत बाबा के समय से शुरू हुआ जान पड़ता है। तीर्थयात्री लोग अलग-अलग या तो (बार्सी लाइट रेलवे की) ट्रेन से या (शोलापुर रोड वाली) बस से अथवा पैदल यात्रा कर सकते है और करते ही है, लेकिन, अगर वे उक्त पालखियों मे से किसी एक में शामिल हो जाते है तो उसका कहीं ज्यादा महत्व होता है। हमारे प्रसंगाधीन क्षेत्र से मुख्यतः तीन पालकियां निकाली जाती हैं : आलन्दी से ज्ञानेश्वर की, देहू से तुकाराम की और सास्वड से सोपान की। इनमें से पहली, *सड़कों के* परिवर्तन से, विस्थापित हो गई है, मसलन, बापदेव घाट से अब नही गुजरती। लघुपाषाण पथ से उसका मेल फल्टण मे होता है, जिसके बाद नातेपुते तक, शिल्प उपकरण सामान्य सुलभ हो जाते हैं। 'मान माल' कहलाने वाले (माल्शिरस और वेलापुर के बीच के) इलाके मे लघुपाषाण पुनः देखने में आते हैं। ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त तीन ही नहीं बल्कि सभी शोभायात्राएं पंढरपुर से चार मील दूर वाखरी मे मिलती हैं अपना अपना उत्सव मनाती हैं, और तब सब मिलकर वरीयता क्रम से विन्यस्त एक लंबा जुलूस बनाकर चंद्रभागा (हैदी) तटवर्ती विट्ठलनगर के लिए प्रस्थान करती हैं। स्पष्टतः, गंतव्य असली अंतिम स्थान (टर्मिनस) वाखरी ही है। दूसरा स्थान, जहां उक्त तीनों मुख्य पश्चिमी पालकियां एकत्र होती हैं, कहीं तटवर्ती सास्वड है। तुकाराम के नाम पर निकाली जाने वाली पालकी ठीक प्राचीन लघुपाषाण महापथ से गुजरती है : सास्वड, एकतापुर, कोथाले, आत्री, जनगांव, बारामती, मंगर, मामुर्णे रेड,

मराठी आम्लूज, बोरगाव, कुरव्नी, वाखरी। इन विषम प्रक्रमों में से प्रत्येक को पार करने में एक दिन लगता है, पूरी यात्रा एक पखवारे की होती है। वह पथ, जिसमें सूक्ष्मतम शिल्पादर्श वाले लघुपाषाण (चित्र 4.13) ढेर के ढेर देखने में आते हैं, लगभग पांच मील उत्तर, वरहणपुर और गोजूबावी के बीच स्थित रुई से होकर आगे पड़वी, देवलगांव गाडा और पारगांव से गुजरता था।

4.12 वेताल का मृण्मय मंदिर। प्रेतगृह (बराड)के आकार का यह मंदिर लगभग 75 से० मी० का है। पारंपरिक रूप से इसकी रचना लगभग 50 वर्ष पूर्व किसी स्थानीय कुम्हार ने की।

तीर्थयात्रीगण प्राचीन काल का एक दूसरा अवशेष 'सोपान' मार्ग पर पड़नेवाले बराड या खंडाली में देख सकते हैं। पकी मिट्टी के बने म्हसोवा (खंडाली वाले) अथवा वेताल (बराड वाले) के देव मंदिरों की (चित्र 4.12) आकृति वही है जो अन्य देशों में प्राप्त प्रेतावासों की है। प्रसंगाधीन इलाके में अब घटाकार तंबू की शक्ल वाले किसी घर या झोंपड़ी का कोई पता नहीं है। बीच में बने घुमारे और दीवार पर लगे टाकों के दो स्तरों से किसी जंगम झोपड़ीनुमा दृढ़ निर्मित इमारत का संकेत मिलता है। सात माल का लहरदार भूभाग, जहां अब भले जुताई बुआई होती है, स्पष्टतः और कुछ भी नहीं चरागाह ही होने योग्य है, यहां बिछे पड़े लघुपाषाणों से यही जाहिर होता है कि प्रागितिहास काल में इसका उपयोग चरागाह के रूप में हो होता था।

यदि केवल आलन्दी या देहू से पंढरपुर जाना ही इस तीर्थयात्रा का मुख्य उद्देश्य रहा होता तो वहां जाने के लिए तर्कसंगत और सुगमतम मार्ग पूना शोलापुर पथ होता, जो ऐसी जगह से गुजरता है जहां से महापाषाण दृष्टिगोचर होते हैं और जिस पर चलकर देवियां तुलजापुर से आईं। चूंकि कोई महत्वपूर्ण पालखी इस पथ से नहीं निकाली जाती है, और चूंकि उपरली नीरा घाटी में लघुपाषाण बहुत कम हैं, इससे जाहिर है कि कर्हा घाटी का उच्चस्थल प्रागैतिहासिक क्षेत्रांतरण का मुख्य मार्ग था, जिसमें अनेकानेक पगडंडियां विभिन्न दिशाओं से आ मिलती थीं। इस निष्कर्ष के लिए एक समुचित कारण है। कर्हा उच्चस्थल (जो वस्तुतः एक पठार है) मुला मुठा घाटी वाले तत्समान भूभाग से कम से कम 400 फुट ऊंचा है, और इसी से यूथों के लिए कम भयावह, भलीभांति जलसिक्त, और पानी के आसानी से ढरक-बह जाने के कारण जलजमाव से रिक्त भी, होने के कारण उसका सामान्यत. चरागाह ही के रूप में उप-

हैं। सावधान के सीमातर्गत, और ऊचे पठार पर भी, एक फिरंगाई पूजा चल पड़ी यह बिल्कुल हाल ही शुरु हुई थी और देखते-देखते अप्रचलित हो गई।
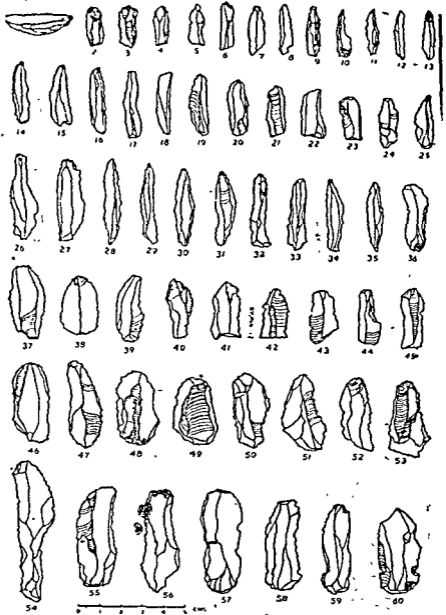
4.13 सुपा के निकट कहीं भीमा जलविभाजक से प्राप्त उपत्यका लघुपाषाण

पूना निकटवर्ती अधित्यका-लघुपाषाण (चित्र 4.14) अधित्यका-वेदिकाओं से सम्बद्ध हैं। ये लघुपाषाण उपत्यका वाले लघुपाषाणों, जिनके फलक अति सुनिर्मित
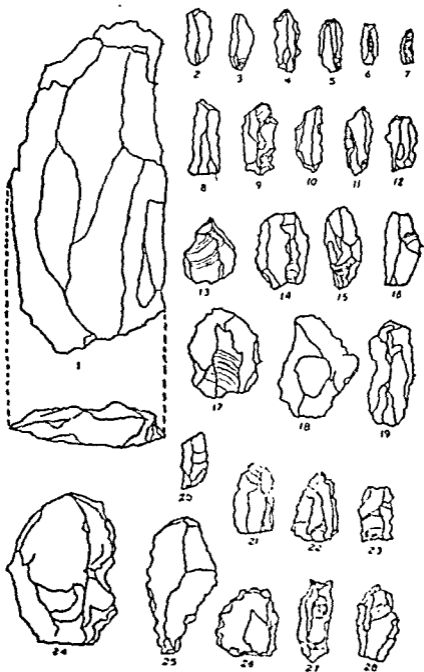
ग्रौर सूक्ष्म होते हैं, की तुलना में कुछ बड़े, प्राय: त्रिकोणी, ग्रनुप्रस्थ काट वाले ग्रत: ग्रधिक मोटे ग्रौर कम फलिकाग्रों वाले हैं कुछ पगडंडियां ही क्रमश. वेदिकाएं बन गई होंगी। थोड़ी काट-छांटकर देने पर, घास फैलाने-सुखाने लायक ग्रौसत दो फुट तक चौड़ी वेदिकाएं बन जाती हैं। दूसरा कदम है प्राकृतिक पाषाणों से टेकबंदी, पहले जमीन को साफ करना, तब सीमांकन। कोथरूड के पुराने से पुराने किसान जोर दे कर यह बात कहते है कि ऊंचे पठार की उपरीली वेदिकाए जब चौरस भी थी तब भी कभी जोती नहीं गई, वे सत्ययुग की है ग्रौर उनका निर्माण चराई करने वाले (गवाली) लोगों ने किया था। यह देखते हुए कि कोथरूड देवता का मूल निवास पर्वत शिखर पर था, उक्त परंपरा पर सदेह करने का कोई कारण नही। एकमात्र वृहत पाषाण-ग्रौजार, कैलसेडोनी का कन्ना या गंड़ासा (चित्र 4.14, सं० 1), एक ग्रधित्यका-वेदिका पर पड़ा मिला है। पूना उपत्यका-पथ मे, ग्रौर भी हाल की ऐसी वेदिकाग्रों के चलते जो लघुपाषाणों से ग्रसंबद्ध है, व्याघात पड़ गया है, कोई वेदिका जहां भग्नावशेष बनकर रह गई है, वहा से ग्रागे लघुपाषाणों का सिलसिला फिर जारी हो जाता है, जैसे वेदवाडी मे ग्रौर प्रभात फिल्म स्टूडियो के पास। जब ग्रधित्यिका-वेदिकाग्रों का सिलसिला क्रमश: उतार की ग्रोर बढ आया, तब ग्रौजारों में थोड़ा परिवर्तन नजर ग्राने लगा, प्राप्त वस्तुग्रो मे विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं नखदार किनारों वाले ग्रौजार, हालांकि इस प्ररूप की शुरुआत उच्चतर पठार पर ही हो चुकी थी। यदा-कदा ग्रधित्यका पूजास्थलों के निकट सूक्ष्म लघुपाषाण की प्राप्ति इस बात का प्रमाण है कि ग्रधित्यकावासियो को बारीक तकनीक की जानकारी थी। उनके ग्रौजार ग्रपरिष्कृत थे तो केवल इस कारण से कि उन्हें गुरुतर द्रव्य पर, संभवत: मवेशियों की खालों ग्रौर लकडी पर, प्रयुक्त करना पडता था।

पूना पहाडी पठार पर, भवन निर्माण सामग्री के लिए विस्तार से उत्खनन होने के बावजूद, कुछ महापाषाणों के भग्नावशेष बचे रह गए है। खांचेदारी का घनत्व या उसमें प्रयुक्त ग्रति विकसित शिल्प, जो थेऊर के ग्रासपास देखने मे ग्राता है, उसका सूक्ष्म ग्रन्वेषण यहा कभी किया ही नही गया। खाचे कई पाषाणों पर मौजूद हैं, पाषाणों को बेसाल्ट' 'बम' नही समझ लेना चाहिए, जो दक्षिण की चट्टानो मे ग्रक्सर देखने को मिलते हैं। बेसाल्ट 'बम' सामान्यत: मृदुतर चट्टान के ग्रनेक जीर्ण स्तरो से परिवेष्ठित कठोर अंडाकार बेसाल्ट के क्रोड होते है, मौसम के प्रभाव से संपूर्ण 'ब'म को उत्कीर्ण ग्रंडाकृति से एक विचित्र सादृश्य प्राप्त हो जाता है, हालांकि उत्कीर्ण ग्रडाकृति में मृदुतर स्तर न होकर संकीर्ण अंत.स्तर रेखाग्रों के बदले, ज्यादा चौड़े, ज्यादा गहरे ग्रौर ज्यादा चिकने खाचे होते है। संभव है, ग्रादिम महापाषाण निर्माताग्रों ने ग्रपने निशान इन 'बमों' के नमूने पर ही बनाए हों। पूना में (जोगूबाई से रहित, वाकड से ग्राकर बसा) कोथरूड-पाषाण शिखरस्थ म्हातोबा ऐसे ही एक महापाषाण का ग्रंग था, जो ग्रब ग्रधिकाशत: चकनाचूर है। समीप ही करीब पचास संगोरे (पत्थरों के स्तूपाकार ढेर जिनमे महापाषाण गोलाश्म लगे हैं, ऐसी मृदु मिट्टी पर

भी, बहुतेरे गोलाश्म (अलंकृत या अनलंकृत) बहुधा काफी दूर से लाकर ठिकाने पर जमाए गए है। इसका मतलब है एक ही समय में एक साथ बहुत-से लोगो का निरंतर कठिन परिश्रम (फिर, इससे ध्वनित होता है भ्रमण कम और सुनिश्चित अन्नाधिक्य पर समुचित अधिकार, कारण बदली हुई परिस्थिति मे अन्न-संग्रहण के लिए

4.17 महापाषाण पट्ट स्मारक, येऊर नाम गाव/आच्छादन शिला लगभग 4' ऊँची है। आधार ठोस शिला है जिसमे समाधि के लिए स्थान नही है।

दूर-दूर तक निरंतर चक्कर काटने की मजबूरी नही रह गई थी। फिर भी, यह ऐसा काल था जिसमें हल-कृषि को कोई स्थान नही था। यहा की मिट्टी इतनी कड़ी है कि लौह युग के पूर्व उसकी जुताई अशक्य रही होगी, और केवल कर्तन-दाहन पद्धति मे उसे पर्याप्त उपजाऊ नही बनाया जा सका होगा, किंतु, कृषि-प्रवर्तन के पूर्व, पशुचारण के लिए अवश्य ही यह उत्कृष्ट भूमि थी। यहा वेदिकाएं तो नही हैं, किंतु बृहत पाषाणों मे से कुछ को मध्य और आधुनिक कालों मे बाधों या तटबंधों के निर्माण में पुन: प्रयुक्त किया गया है। भारी कृषि का अभाव इस बात से भी प्रतीत होता है कि अधिकांश स्थितियों मे गोलाश्मों को उचित स्तूप का रूप नही दिया गया है (चित्र 4.17)। यों, यहां मिट्टी का बुनियादी टीला नही है, न इस बात का कोई चिन्ह कि मिट्टी घुल-बह गई है। लेकिन अगर खनने के कारगुजार औजार हों तो गोलाश्म-महापाषाणों की अपेक्षा मिट्टी के स्तूप बनाना कही आसान है। जहां तक पूजा-पद्धति का प्रश्न है, इस विश्वास को यंत्रवत पकड़े रहना कि पशुचारणवादी लोग हमेशा देवता-बाबा को ही उपास्य बनाते हैं, हठधर्मी होगी। तथापि, रायचुर जिले मे, और दक्षिण-पूर्व की ओर अन्यत्र, प्रागैतिहासिक जमावों में उत्कीर्ण वृष (सांड), वृष-शीर्ष कठपुतले, श्रृंग-अभिकल्प (हार्न डिजाइन), अथवा कोई पुरुष-देवता देखने में आए है। यहां हमे सर्वथा भिन्न चिन्हावली मिलती है : बृहद अंडाकृतिया, लघुवृत और कभी-कभी इन दोनों के सान्निध्य से बनी सिर-सहित अवयवहीन शरीराकृति। सभी पूर्ण-प्राय वृत्तों का व्यास 31 सें० मी० होना बताता है कि वे जरूर एक ही तरीके से

अंकित किए गए होंगे, संभवतः किसी वयस्क हाथ के अंगूठे और उंगली को परकार (कम्पास) के रूप में प्रयुक्त करके। अंडाकृतियां दो-ढाई मीटर की होंगी और उनका भीतरी भाग अक्सर ऊंचा और उभरा हुआ दिखाई देता है। भूमि पर वृहद् गोलाश्मों की आयताकार व्यवस्थाओं वाडा, वाडगी को किसान लोग मवेशी-बाड़ों के रूप में

4.18 वरवंड उच्च स्थल की आच्छादन शिला के नीचे माण्आई पूजास्थल, सामने भूमि पर नीबू, बाईं ओर मन्नती पशु तथा चूड़ियां (बाईं ओर) हाल ही में चढ़ाए गए हैं।

मानते और कभी-कभी काम में लाते हैं, और वहां जब कभी मवेशियों को रात के वक्त भटकने से बचा रखना होता है तो नीची दीवारों पर कांटेदार शाखाएं डाल देते हैं। इस तरह का एक जटिल बाड़ा कोरेगाव-मूल में आज भी उत्कृष्ट अवस्था में है। और भी महत्वपूर्ण बात यह है कि किसानों को यह है कि किसानों को यह नहीं मालूम कि गोलाश्म-पुजों का प्रयोजन क्या है, वे उन्हें कृत्रिम तक नहीं मानते। ऐसा पुंज या स्तूप (अक्सर अंत्येष्टि-स्मारक के रूप में निर्मित) जो अगर वृहद् विषम गोलाश्मों का बना होता है जो मराठी में खिला कहलाता है, कोंकण में इसे वरंडा भी कहते हैं, और प्रसंगाधीन इलाके में वरवंड। यह महज एक संयोग की बात नहीं हो सकती कि वरवंड नामक एक गांव वहां अवस्थित है जहां सूक्ष्मतम कहों-लघुपाषाण-निक्षेपों को महापाषाणों की समीपता प्राप्त होती है। वरवंड में एक अभव्य उच्चस्थल है जो आज भी पूजा का स्थान है। उपास्य वस्तु वहां सावधानी से टेक लगाकर रखी गई एक चौकुटी चट्टान के नीचे एक खोखले में है। देवी के प्रतीकस्वरूप तले वाले आधार पाषाण के उभार पर लाल सिंदूर का लेप चढ़ा है और गांववाले उसे माण्आई (चित्र 4.18) नाम से पूजते हैं। काठ के बने मन्नती पशु, नीबू और चूड़ियां, ये सब चढ़ावे

गहरे गुफा-जैसे खोखले में देवी के समक्ष रखे है। (सामान्यतः, ऐसे मन्नती मवेशी गवालूजी बाबा, बापूजी बाबा, या वेताल-जैसे किसी देवता-बाबा के आगे रखे गए होते, प्रायः ऐसे देवता, जिनके पास महिलाओं का जाना वर्जित है। केसनंद गांव की ताइके, जोगूबाई को चढ़ाए गए ऐसे मवेशी 'लोणी कंद' से मिलती हुई गांव की सीमा के निकट अवस्थित उसके मंदिर के सामने रखे मिलते है अवश्य, लेकिन वस्तुतः वे एक छोटे से अहाते मे हैं जिसके ऊपर एक वेताल अध्यासीन है, अत वे ग्राम रिवाज के अपवादस्वरूप नही है)। इकहरी और दुहरी अंडाकृतियां, चपक-चिन्ह तथा शेष लक्षण अन्य गोलादमों पर अभिदृश्य है, एवं उच्चस्थल के दोनों ओर कई दूसरे-दूसरे महापापाण हैं, जिनमे से कुछ मे भोंडे चापाकार गड्ढे बने हुए है जिनके तल में कभी बृहत पूजा-पदार्थ अवस्थित थे। वृहत्तर चपकों को मराठी मे सालुखा कहते है, जिस शब्द से उस योनि का भी निर्देश होता है जिसमे शिवलिंग स्थापित रहता है। यह काम-प्रतीकवाद सुस्पष्ट है और, फ्रायड-सिद्धात का सहारा लिए बिना भी, सामान्यतः सर्वमान्य है। लिंग संभवतः 'चपक' मे घुमाए जाने वाले मूसल-पत्थर से विकसित हुआ होगा। संस्कृत शब्द शालंकी का अर्थ है कठपुतला या गुड़िया, भले ही व्युत्पत्ति से इस का कोई सरोकार न हो। वरवंड मे और उसके पास जो महापापाण हैं उनकी एक विशेषता यह है कि कतिपय शिलाओं मे गर्तिकाएं संभवतः काष्ठ-ध्वजदंडो के लिए बनाई गई हैं। (वरवंड स्थित) बृहत्तम गर्तिका 27 सेंटीमीटर गहरी है, जिसके ऊपर 12×14 सेंटीमीटर वाली एक अंडाकृति है, तल की ओर गावदुम, और यह इतनी भोंडी है कि धातु के बने बरमे से बनाई गई नही प्रतीत होती। कभी-कभी, जैसे कोरेगाव-मूल और थेऊर के बीच, असंख्य महापापाण एक ही आकृति के मिलते हैं, एक दूसरे से इतने मिलते-जुलते कि दर्शक उलझन मे पड़ जाता है और ऐसा महसूस करने लगता है कि वह एक ही परिधि मे चक्कर काटता रहा है।

स्थानीय महापापाण पथ के एक छोर पर, खामगांव मे एक विचित्र अवशेष देखने में आता है। इस स्थान का नाम है गाडे-मोडी। किंवदंती है कि दूल्हा, दुल्हन, बाराती और बैलगाडियां, सब समेत एक पूरी बारात जमीन में समाकर अंतर्धान हो गई, और इसीलिए इस जगह का ऐसा नाम पडा। किस वजह से ऐसी दुर्घटना हुई, नही मालूम, फिर भी, यह परंपरा इसलिए दिलचस्प है कि महापापाणों के नीचे मानव समाधि का एकमात्र हवाला यही मिलता है। गाड़ियों का प्रतीक है जमीन पर पडा हुआ एक भग्न पापाण चक्र, जो आधुनिक काल मे धातु के औजारों से बनाया गया है। इसकी पूजा होती है, और यहां आसपास, गोलाश्मों के बीच, और भी कई गौण पूजाएं चलती हैं, जिनमे दो हैं मावला देवी की। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य स्थानो मे भी आधुनिक पापाण चक्र ने महापापाण काल के चपटे वृत्तों और अंडाकृतियों को प्रतिस्थापित कर दिया है। चाकण का संरक्षक देवता चक्रेश्वर है, जिसने अपने नाम पर इस नगर का नामकरण किया और 'राजा दशरथ के रथ के एक चक्र' के रूप मे प्रकट हुआ। यह असाधारण आकृति आसानी से समझ मे आ जाती है जब हम देखते

हैं कि उक्त मंदिर उसके छोर पर अवस्थित है जो किसी समय उच्चस्थल था, और अब उत्खनन तथा पत्थरों की चोरी के चलते बेतरह बरबाद हो गया है। एक महापाषाणपट्ट स्मारक और अंडाकार चिह्न आज भी उन गोलाश्मों में परिदृश्य हैं जो चाकण गढ़ और नदी तटवर्ती उक्त देवता के मंदिर के बीच पड़ते है। महापाषाण के मंदिर वाले छोर पर एक विशाल गोलाश्म के नीचे एक देवी की मौजूदगी तो और भी महत्वपूर्ण है। इस देवी के अनेक नाम है, अंजिना, खापराई (पटिया माई), खजुराई (खजूरमाई), अथवा केवल देवी। अब यह यथारीति महिष मर्दिनी के रूप में उकेरी हुई है, हालांकि इसकी प्रागैतिहासिक कुल परंपरा असंदिग्ध है। ऐसा खयाल है कि चाकण का चक्र कणेसर मे गिरा था और वहा से चाकण मंदिर के सामने वाले तालाब पर लाया गया, जहां ऐसा कोई चक्र नही है। कणेसर की संरक्षिका देवी एक सुप्रसिद्ध यमाई है, और वहा के स्थानीय निवासियो को उक्त आख्यान का ज्ञान तो है, किंतु वे ऐसी कोई जगह बताने मे असमर्थ हैं जहां उक्त चक्र पहलेपहल गिरा होगा। प्रबल अनुमान है कि यह कल्पित चक्र भी तल शिला पर अंकित मातृ चक्र ही था।

बहरहाल, यह नही हो सकता कि सब के सब महापाषाण चतुष्पथ पूजास्थल ही रहे हो। उनके पूरे विस्तार का पूर्ण सर्वेक्षण, और उत्खनन, जिसके बिना उनके काल या प्रयोजन के बारे मे निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता, दोनों मेरे बूते के बिलकुल बाहर है। फिर भी, उनकी संख्या और संकेंद्रण को देखते हुए सर्वाधिक संभव यह प्रतीत होता है कि वे किसी प्रकार के अंत्येष्टि स्मारक रहे होंगे। मृत कबीला सरदार या जादूगर (चिकित्सक), या संत को (उसके शव को) संपूर्णतः मातृदेवियो के पास वापस भेज दिया जाता होगा, अथवा केवल उसकी विकार्वनीकृत अस्थियों या दाहशेष राख को स्थल पर रख दिया जाता होगा। संभवत ये सगोरे किसी पवित्र विवाह और दुहरे बलिदान के स्मारक है, उदा०, खामगांव आख्यान। खुदाई की जाए तो सभव है इसका सत्यासत्य प्रमाणित हो जाए और प्रागैतिहासिक निर्माताओं द्वारा कदाचित काम मे लाए जाने वाले औजारों तथा मिट्टी के बरतनों के बारे में भी कुछ पता चल जाए, यो, उम्मीद तो कम ही है, क्योकि ये महापाषाण ठोस चट्टान पर आधारित हैं। बोल्हाई के रसोईघर के उपरले पत्थर को ठोक-पीट कर एक लघु चाप के नीचे जो सगर्भ अंडाकृति इतने कष्ट से गढी गई है वह गुफांतर्गत बौद्ध स्तूप का लघु पूर्ववर्ती है। धातुगर्भ नामक स्तूप इस प्रकार का होता है (यथा, जुन्नर और पितलखोरा में) जिसके गुबंद के पार्श्व मे कोई देहावशेष पात्र कही छिपा हुआ रखा होता है। हम देख चुके है कि कार्ले स्थित बृहत स्तूप को यमाई देवी माना जाता है। शतपथ ब्राह्मण 13.8.1.5 और 13.9.2.1 मे असुरों के गोल अंत्येष्टि स्तूपों का हवाला मिलता है, जिनसे अभिप्रेत होना चाहिए हद से हद ईसा पूर्व 7वीं शताब्दी तक की आर्य पूर्व इमारतें, शायद मिर्जापुर जैसे स्तूप। उत्तर के महान स्तूप सीधे इन्ही की परपरा मे है। यहां अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि भूपृष्ठीय लब्धियों मे ऐसा कुछ भी नही है जिसमे पूना जिले के महापाषाणीय और लघुपाषाणीय

लोगों के बीच संघर्ष लक्षित हो, और न इस आशय की कोई परंपरा ही बची हुई है। इन चट्टानो को पुजित चाहे जिसने भी किया हो, उस समय के पहले ही किया होगा जब अपने पशुवृंद, देवता बावागण और स्थूलतर औजारों सहित, परवर्ती आक्रमणशील पहाडी पशुचारणधर्मी लोगो ने फैलना शुरू किया और आक्रमण करने लगे। महिषासुर मर्दिनी इसी काल की है। परम संभवतः, ऐसा परिवर्तन अन्न उत्पादन में लोहे के प्रथम उचित उपयोग से संवद्ध रहा होगा। उत्पादन के साधन मे यह महत्वपूर्ण परिवर्तन ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी के प्रारंभ मे हुआ होगा।

एतत्संबंधी विकास का क्रम इस प्रकार प्रतीत होता है : अधित्यकावासी जन उत्तरकालीन घुसपैठिए थे जिन्होंने कई बार दल बाधकर धावा किया और उस इलाके पर दखल जमा लिया जो उपत्यकावासियों के किसी काम का नहीं था। वे पशुओ की चरवाही करते थे। कृषि के लिए भूमि स्वच्छन का आरंभ उनके द्वारा वेदिकाओं के निर्माण से हुआ। इस तरह, जमीन की सफाई करते हुए वे क्रमशः उतार पर आ गए, और तब स्थाई रूप से संलयन आवश्यक हो गया। उक्त दोनों संस्कृतियों और दो प्रकार के जनसमूहों के मेल का द्योतक है पशुचारणिक आप्रवासियों के देवता बाबा के साथ मातृदेवी का अंतत घटित विवाह। आज भी, वापूजी बावा (पितामहेश्वर) 'स्त्रियो के लिए खतरनाक' है, और फिर भी, विचित्रता देखिए कि वह पशुओं का देवता है। यही कारण है कि उसकी अवस्थिति गावो से बाहर, काफी दूर पर है। वेताल भी, जो [कालिका पुराण (52) के अनुसार] शिव और पार्वती से मनुष्य रूप में उत्पन्न है, *स्त्रियों द्वारा पूजित होने योग्य नही है, उसके भक्तगण जिस दिन प्रातः* काल वेताल की पूजा करते है उस समय नारी को देखने या उसकी चूडियो की आवाज सुनने से परहेज करते हैं। पूना के निकट प्रचलित इन भूत-प्रेत पूजाओं मे जो परम प्रमुख पूजा है वह अधित्यका पठार पर पाच ग्राम सीमाओं के संगम पर होती है, उसका जिक्र ऊपर किया जा चुका है और वह महावेताल या बड़े वेताल (की पूजा) के नाम से ज्ञात है।

उत्तरकालीन विकास

विकास के अगले प्रक्रम पूना निकटवर्ती पूजा स्थानों मे आज भी परिदृश्य हैं। 'छोटे भाई' वेताल का स्थान उपत्यका पथ पर भेड प्रजनन फार्म के पास पड़ता है, उसे वहां इस उद्देश्य से प्रतिष्ठित किया गया है कि भक्तों को वह लंबी पहाड़ी चढ़ाई तय न करनी पड़े जो बड़े वेताल तक पहुंचने के लिए आवश्यक होती है। किंतु, दो अनामिका षड्भुजी देवियों की उकेरी गई आकृतियां पास ही मौजूद हैं, और पुरुष पुजारीगण, वेताल और देवी को परस्पर संबद्ध न मानते हुए भी, दोनों की पूजा करते हैं, स्त्रिया वेताल को भेंट नहीं चढ़ाती। मेरे घर के और नजदीक, अनगढ पत्थरों का एक समूह एक श्रृंखला का द्योतक है जो आधुनिक भवनों के चलते किंचित विस्थापित हो गया है, इन पत्थरों में से कुछ, बिना भेदभाव से, (सामान्यतः एक पतिहीन मातृदेवी के

रूप में) लक्ष्मीग्राई के भी प्रतीक हैं, बावजूद इसके कि उक्त पुंजदेवता को स्त्रियों से परहेज है। बराड स्थित पकी मिट्टी के बने प्रेतावास में दो अनगढ पत्थर हैं, हालाकि वेताल-ग्राविष्ट उनमें से कोई एक ही हो सकता है। इस देवमंदिर के निकट ईंट की बनी एक बड़ी इमारत है जो, ग्राम्य 'सात बहनों' में से एक, वाघ जाई का स्थान है।

ऊपर उद्धृत 'कालिका पुराण' अध्याय में यह भी बताया गया है कि वेताल और भैरव शिव के अनुचर दो पिशाचों के अवतार थे, और यह कि शिव और पार्वती ने इन दोनो को मानवीय पुत्रों के रूप मे प्राप्त करने के लिए स्वय भी अवतार ग्रहण किया। तो भी, जिस शाप के वश वेताल और भैरव को धरती पर उतरना पड़ा उसी के परिणामस्वरूप वे बंदर का चेहरा लेकर पैदा हुए। वेताल का जन्मदिवस आज भी उसी दिन पड़ता है जिस दिन हनुमान का। किंतु, हनुमान, यद्यपि वे ब्रह्मचारी है, स्त्रियों द्वारा पूजित हो सकते है। यह समन्वय की लहर, जिसे उक्त पुराण के आख्यान ने कुछ और वेग प्रदान कर दिया, स्वभावत. कृषको मे भी पहुच गई, किसान यहा भी मानते हैं कि शिव, भैरव और वेताल, सब तत्वत. एक ही है, और उनमें कभी-कभी एक की पूजा दूसरे की पूजा मे बदल जाती है। कालिका पुराण के अध्याय 93 में कहा गया है कि वेताल को मनोरथ पूर्ण करनेवाली गाय 'कामधेनु' से प्रेम हो गया, जिससे उसने महावृषभ नंदी को उत्पन्न किया, जो अब शिव का वाहन है। इस सांड और वरुण की गायो से सभी उत्तम गाय-बैलों की उत्पत्ति हुई, और इस प्रकार ये मवेशी वेताल और नंदी के वंशज है। निश्चय ही यह कल्पित कथा वेताल और बापूजी बाबा के तादात्म्य अथवा कम से कम उनके आपसी संबंध पर आधारित है। देवता और देवी के बीच का विरोध और संघर्ष मिटाने का प्रयास पुराणो ने किया अवश्य, लेकिन वह सदैव सुगमता से शमित नही हो पाया। संजान के 10वी सदी के एक ताम्रघोपणा पत्र मे (ई० आइ० 32, 1957 पृ० 60, पंक्तिया 34-47) भिनमाल के देवता का एक निर्णय अंकित है। इस देवता को सजान ले आया गया था जहा पास की देवी दशभी से उसका विरोध हो गया। देवी के भक्तों को सेवामुक्ति लगान देना पड़ता था, उन्हे देवता की प्रसीमा मे और आगे अधिक्रमण करना वर्जित था, और उक्त देवता के विरुद्ध प्रक्षुब्ध होकर उनमें से किसी व्यक्ति के आत्महत्या या आत्म छेदन कर लेने पर सारे पाप का भागी भी उन्ही को होना पड़ता था। सजान उस समय उस इलाके के हिंदू राजा द्वारा नियुक्त एक मुस्लिम शासक के अधीन था, और वहा ईरान के पारसी शरणार्थियों की एक बस्ती थी, जिन्होंने इस अनर्गल काड को बाजाब्ता देखा था।

भिनमाल के झगडे से कुछ समय पूर्व, सातारा से छह मील दूर, सज्जनगढ के अधोभाग में बसे पार्ली नामक गाव मे यादव अथवा पश्चिमी चालुक्य काल के दो मनोहर मदिर निर्माणाधीन थे। इस ऊंचे गढ़ पर शिवाजी के गुरु रामदास द्वारा संस्थापित अगलाई मदिर और उक्त संत के अवशेष मौजूद हैं। इस कारण यह गढ ब्राह्मणों तथा मध्यवर्गीय तीर्थयात्रियो के बीच लोकप्रिय है। पार्ली के मंदिर महादेव

मंदिर है। स्थानीय परंपरा के अनुसार, वे उस महायुग में निर्मित हुए थे जब दिन और रात, दोनों छः-छः महीने के हुआ करते थे। पांच पाडवो ने एक ही रात मे काशी की संपूर्ण प्रतिकृति रच लेने का उपक्रम किया। मात्र ईर्ष्या के चलते, जोगाई देवी ने इस काम मे इस प्रकार बाधा डाल दी कि एक मुरगे का रूप धरकर उस समय मे ही विहानसूचक बाग देने लगी। यह सुनकर पाडव भाइयो ने अपना काम रोक दिया, जो रुका तो दुबारा कभी शुरू हुआ ही नही। जब उस छल का पता चला तब उस मायाविनी महिला को टाग पकडकर नदी के पार फेंक दिया गया। अत, बडे महादेव मदिर के पास उसका जो मूल मदिर है, बस, दीवारहीन चार अनलंकृत पाषाण स्तंभो पर आधारित एक विशाल किंतु अधुना जीर्ण-शीर्ण शिलापट्ट पटल, वह सूना पड़ा है। इससे स्पष्टत. बेतरह बना वहा का मंदिर, जहा जोगाई उतरी थी, उत्तर यादवकाल का प्रतीत होता है, किंतु, बहुत बरस हुए, वह एक तूफ़ान की चपेट में पड़ कर नष्ट हो गया। वर्तमान जोगाई मूर्ति रणचंडी की काले बेसाल्ट में उत्कीर्ण प्रतिमा है। तदनंतर, एक 'भाई', बाल शीद की पुंजप्रतिमा है। एक तीसरी प्राचीनतर प्रतिमा एक चोगाधारी नारी की है जो, क्षतिग्रस्त हो जाने के बावजूद, जखाई मानकर पूजी जाती है, जिससे तात्पर्यित होना चाहिए यक्षी; मूल देवी यही रही होगी जो कोई हजार बरस पहले पूजी जाती थी और जो अब जोगाई कहलाती है। थोडी दूर पर, एक वटवृक्ष तले तीन चार प्राकृतिक पाषाण हैं जो अन्यथा अज्ञात और विरले पूजित देवता तिलवली कहलाते हैं। कठिनाइयों के बावजूद, और पास ही गढ पर तथा गाव में अधिक लोकप्रिय मंदिरो के होते हुए भी, किसान तीर्थयात्रीगण सुदूर खानापुर तक से जोगाई के दर्शनार्थ आते हैं। पार्ली गाव के लोग वहां के सभी देवी-देवताओं को नियमित रूप से पूजते हैं, तथापि, विशेष बात यह है कि गाव के बडे-बूढे लोगो को प्रतिवर्ष घाटाई (घाट या दर्रे की माई) की पूजा करने जाना पड़ता है, जिसका स्थान सातारा से कोई आठ मील पश्चिम पडता है। एक स्थानीय परंपरा के अनुसार सज्जन गढ की चोटी पर रामदास द्वारा स्थापित आगलाई की प्रतिमा नदी मे पाई गई थी, जिससे जान पड़ता है कि यही वह मातृदेवी होगी जो अनुमानत. नदी के पार फेंक दी गई थी। वह संपूर्ण मिथक, जिसे अंतिम अप्रवासियों ने बचा रखा है, किसी मूल मातृदेवी और शिव के बीच ऐसे विरोध का निर्देश करता है जो इन दोनो देवताओं को विवाह-बंधन में बाध देने के बावजूद नही मिटाया जा सका, हालांकि सोचा कम से कम जरूर गया था कि इस विरोध को मिटाया जा सकता है, जैसा कि जोगाई (योगेश्वरी) नाम से जाहिर है। उस मातृदेवी की अपनी पूजा पद्धति को भी बिलकुल समाप्त नही किया जा सका, जैसा कि बबई मे 34 मील पर अंबरनाथ मे हुआ होगा, जहा 1060 ई० का एक अलंकृत शिव मंदिर आज भी मौजूद है। ऐसे अनुमान का कारण यह है कि अंबरनाथ, एक उत्कीर्णलेख के अनुसार, जो पहले उत्तरी द्वार मार्ग के भीतर था, अंबनाथ या आबनाथ का अपभ्रंश है, न कि अमरनाथ का। इससे

सिद्ध होता है कि अंबरनाथ उस मूल मातृदेवी के पति थे, जिसका नामोनिशान तक मिटा दिया गया।

कृषि की ओर

पूना स्थित लघुपाषाण पथ उपर्युक्त परिवर्तनों में से कुछ का प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत करता है। यह उपत्यका पथ फर्गुसन कालेज के क्रिकेट फील्ड के पीछे पहाड़ी के नीचे वाली ऊंची जमीन में गुजरता था। इसके ठीक ऊपर, उक्त कालेज के जलाशयों के दोनों ओर, उत्कृष्ट कोटि के लघुपाषाण उपलब्ध हैं। किंतु, कुछ गज चलने पर पहाड़ी की ढलान शिल्प उपकरण से रहित मिलती है, और जरा सी चढ़ाई पार करके हम एक छोटे से पठार पर पहुंच जाते हैं जहां अब तक मारुति (हनुमान) मंदिर बना हुआ है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इसका निर्माण और पुनर्निर्माण किया गया, लेकिन उस जगह को लेकर उक्त कालेज के प्राधिकारियों का एक वेताल के उपासकों से बरसों तक झगड़ा चलता रहा, जिसका कारण यह था कि वेताल की पूजा प्रतिष्ठा के लिए सिवाय एक बदहाल संगोरा के, कोई पावन देवस्थान नहीं रह गया था, और वेताल के उपासकों का आग्रह था कि वे उसी जगह बलिदान करने के लिए शहर से आया करेंगे। स्पष्टत. इसमें एक प्राचीन हेतु सन्निहित है, क्योंकि स्थूलतर पहाड़ी किस्म के छोटे-छोटे लघुपाषाण खंडों का अच्छा-खासा जमाव इस पूजा स्थान में ही उपलब्ध है, पासवाली पहाड़ी पर और कहीं नहीं। कालेज की जमीन पर जो गुफाएं मौजूद हैं (जिन्हें गजेटियर में गलती से एक दूसरी पहाड़ी पर दिखाया गया है) उनसे प्रमाणित है कि वहां कोई प्रबल प्रागैतिहासिक पूजा प्रचलित थी। मुख्य गुफा में आजकल हिंदू देवताओं का एक पंचमेल संग्रह है जिसमें शिव, नंदी, गणेश, पांडुरंग और रखुमाई शामिल है, और द्वार मंडप में एक प्राचीनतर वानर देवता के ऊपर हनुमान की नक्काशी की हुई है। यह गुफा मंदिर के प्रयोजनार्थ नहीं बनी थी, इसका प्रमाण उक्त पचमेल संग्रह ही नहीं अपितु इसका उत्तराभिमुख होना भी है, क्योंकि अवस्थिति को जरा सा बदल देने से ही इसे पूर्वाभिमुख कर दिया जा सकता था जो मंदिर के लिए स्वाभाविक बात है। उत्तरी खुलाव, चार अन्य गुफाएं, जो शैल विस्फोटन के बावजूद बच रही हैं, तथा एक काफी जलकुंडिका (जो अब सूखी पड़ी है), इन सबसे यह सिद्ध होता है कि कोई छोटा सा बौद्ध विहार इस जगह अवस्थित था। गुफाओं के ठीक ऊपर, चार चौकोर गर्तिकाएं बनी हुई हैं जो संप्रति लुप्त किसी इमारत के खंभों के लिए थी, और नीचे की ओर एक पांचवीं गुफा है जिसे नीचे बसे हुए निम्नजातीय लोग कभी-कभी मंदिर के रूप में काम में लाते थे। उपत्यकाई और अधित्यकाई लघुपाषाण निक्षेप इस जगह असाधारण रूप से समीप आ गए हैं (हालांकि उनका पार्थक्य स्पष्ट है), और उनकी ऐसी निकटवर्तिता निस्संदेह उक्त पूजास्थल और विहार गुफाओं से संबंधित है। उसी स्तर पर, चतुःशृंगी मंदिर के समीप, जो गिरिपार्श्वीय जलकुंडिकाएं है, और उस गिरि से गिरकर चूर-चूर हो गए काले बेसाल्ट शैल पर जो नक्काशियां

है, वे उसी लघुपाषाण पथ पर, एक मील से भी कम दूरी पर, एक दूसरी विहार स्थापना के आरंभ की ओर संकेत करती हैं। यों, चतुःशृंगी मंदिर की मौजूदगी तो 1786 से है, किन्तु इससे पहले भी, उसी जगह, किसी स्थानीय देवी की पूजा अवश्य प्रचलित रही होगी। आगे एक कृत्रिम किंतु निश्चित रूप से बौद्धोत्तर गुफा, जहां अंत्येष्टिपट्ट और एक यमाई तथा एक महादेव भी मौजूद हैं, पांच मील दूर, वाणेरे में अवस्थित है। उसके ठीक ऊपर, टेकरी पर बने अपने मंदिर में तुकाई देवी का निवास है। वाणेरे, मुला के उस पार, वाकड के नजदीक पड़ता है। लघुपाषाण खोज के लिए वह भूभाग और मौसम, दोनों ही अनुपयुक्त थे।

ऐसा नहीं था कि पूर्वकालीन व्यापार मार्ग प्रत्येक लघुपाषाण पथ का अनुसरण करते हों। ज्यों ही हलखेती पर आधारित ग्रामव्यवस्था प्रतिष्ठित हुई, जिसके परिणामस्वरूप राज्यों का निर्माण हो गया, त्यों ही चरागाहों से गुजरने वाले लघुपाषाण पथ उत्तरी या समुद्रपार के व्यापारियों के लिए बेकाम हो गए, और उनका विलोप अवश्यंभावी हो गया। पेरिप्लस[13] में पश्चिमी समुद्रतट पर सेमिल्ला (चाउल) के नीचे अवस्थित कतिपय बंदरगाहों का उल्लेख है जिन्हें पहचाना जा सकता है। इनमें प्रथम है मंदगोरा, कुडा के पास मंडा नदी का मुहाना, जिसमें चंद खूबसूरत बौद्ध गुफाएं हैं जहां सड़क से पहुंचना मुश्किल है। ऐसा जान पड़ता है कि इस इलाके पर संभवतः मंदव कहलाने वाले कबीलावालों ने दखल जमा लिया था। सामडिनिका नामक एक मंदवी राजकुमारी ने वेडसा में धर्मार्थ एक जलाशय बनवा दिया था, कुडा को उस राजघराने का संरक्षण प्राप्त था, और वहां के स्थानों के नाम मन मूलधातु से व्युत्पन्न हैं। (गढ़ और गुफाओं से युक्त, अतः व्यापार मार्ग पर पड़ने वाले) तले और कुडा के बीच बहुतेरे पुराने संगोरे हैं जिनमें से कुछ अन्वेषण के योग्य हो सकते हैं, हालांकि आजकल स्थानीय लोग उन्हें कब्र नहीं समझते। कोई खास सुविधाजनक दर्रा तो वहां है नहीं, जिससे जाहिर है कि सुदूर व्यापार का मार्ग या तो समुद्र होकर था या मुल्शी घाटी के शीर्ष पर अवस्थित दर्रों से होकर जुन्नर को जाता था। दूसरा बंदरगाह है पलेपतमे, जो सावित्री नदी के समीप, महाड के पासवाला पाले ही हो सकता है, जो देशी जलयानों के लिए आज भी एक महत्वपूर्ण समुद्रतटीय पत्तन है। महाड से भोर जानेवाली सड़क तो बाद में बनी है, यों बहुत पहले रास्ता तो कठिन दर्रे से होकर ही था। महाड से कोई 17 मील दूर, दर्रे के शीर्षस्थ काठीनुमा अवतल पर एक लघुपाषाण स्थल मिलता है, जो इस मार्ग के लिए विलक्षण बात है। इस स्थान में कालसरी देवता पूजे जाते हैं और यह उम्बर्डे गांव के सीमांतर्गत है (जो दो दर्जन से कम परिवारों वाली बस्ती है)। ग्राम देवता का नाम है कामूमल, जो अन्यत्र अज्ञात है। इस व्यापार मार्ग पर (जो पंढरपुर और पूरे प्रायद्वीप के पार जाता है) लघुपाषाणों का सर्वाधिक युक्तियुक्त स्थान शिरवल निकटवर्ती चौपाला (चित्र 4.19) ही रहा होगा। इस गारारहित 'हेमाडपन्ती' इमारत के श्रेष्ठ संतुलन और सामंजस्य को देखकर सांची के मंदिर 17 की स्मृति हो आती है, और इस दृष्टि से इसका समय
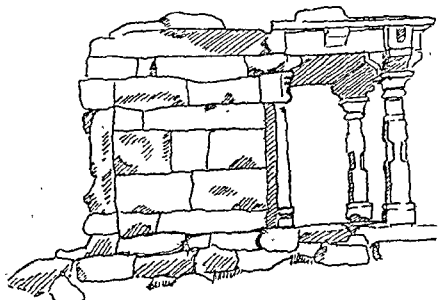
4.19 चौपाल, शिखल के समीप
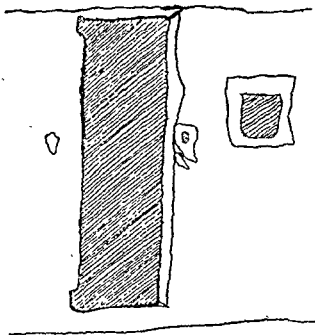
4.20 शिखल गुफा मे प्रकोष्ठ द्वार; दरवाजे के चौखटे के लिए गड्डे, चौकोर खिडकी तथा ताला लगाने का प्रबंध स्पष्ट दिखाई देता है। इस प्रकोष्ठ मे निश्चित ही बहुमूल्य सामग्री रखी जाती होगी।

गुप्त वाकाटक काल होना चाहिए। यह एक चतुष्पथ (चौराहे) पर पड़ती है, क्योंकि इसी स्थान के पास, पूना से सातारा जानेवाली सड़क के परे, वीर और फल्टण को जानेवाली सड़क से शाखाएं फूटती हैं, एक बढ़िया रास्ता मांढरदेव को जाता है, और दूसरा बौद्ध गुफाओं को। किंतु, यह भवन कोई मंदिर नहीं है, इसके अंदर कुछ नहीं है सिवाय एक पाषाण वेदी के, जिसमें दो बड़े पाषाण कलश गड़े हुए हैं। ये आधान उन कहीं बृहत्तर पाषाण कलशों के समान हैं जो परंपरागत रूप से पथ कर संग्रह करने के प्रयोजनार्थ नाणघाट दर्रे के दोनों सिरों पर बने हुए हैं। स्पष्ट है कि चौपाला में उस बौद्ध गुफा विहार (चित्र 4.20) के लिए दान संग्रह किया जाता था जो करीब तीन मील दूर, शिंदेवाडी गांव के पीछे, महाड के पुराने मार्ग पर अवस्थित था। आज-कल आसपास के वे किसान, जो गुफा स्थित पांच पांडवों के दर्शनार्थ लंबी यात्रा करने में असमर्थ होते हैं, खाली पड़े चौपाला में ही नारियल की भेंट चढ़ाकर इस विश्वास से संतुष्ट हो लेते हैं कि उनका नैवेद्य गुफा स्थिति देवता के पास पहुंच गया। लेकिन, चौपाला में, या उसके पास कोई पूजा प्रवर्तित करने का प्रयत्न फिर भी नहीं किया जाता।

पेरिप्लस में, महाड से नीचे की ओर मेलिजिगरा नामक एक स्थान का उल्लेख हुआ है, जो चिपळूण जानेवाले उपनदिका पर, अथवा दक्षिण ओर वाली दूसरी उपनदिका पर, रहा होगा। यहां कर्हाड के गुफा विहारों से उपर्युक्त मार्ग के बारे में कुछ संकेत प्राप्त होता है। कुडा और महाड की तरह, ये स्थान उत्तरकालीन हैं, सातवाहनोत्तर तो अवश्य ही। एक दूसरा उपनदिका पत्तन है 'बाइजन्तीयम' जो उत्तर किनारा एक दूसरा उपनदिका पत्तन की वैजयंती बनवासी का उपभ्रंश प्रतीत होता है। अन्य नाम संदिग्ध है।

उपत्यका पथ के कुछ हिस्से उन प्राचीनतम तगड़े अग्रगामियों के काम आए जिन्होंने व्यापार की तलाश में दक्षिण कगार का आरोहण करने के लिए बीहड़ वन्य प्रदेश का अन्वेषण किया। पूर्ववर्ती बौद्ध विहार जब स्थापित हो गए, तब ऐसा कोई प्रयोजन नहीं था जिससे कर्हा घाटी में तुरंत प्रवेश किया जाता, कारण, वहां कृषि उतनी लाभदायक नहीं हो पाती जितनी समदिश समांतर घाटियों की समृद्धतर काली मिट्टी में। जुन्नर लघुपाषाण लब्धियों की तुलना कर्हा प्रदेश की लब्धियों से नहीं की जा सकती। मानमोडी में नीचे एक एकल किंतु उत्कृष्ट लघुपाषाण, तुलजा गुफा समूह के निकट प्राप्त एक दूसरा सुंदर लघुपाषाण, और (आंबोली से कुकडी घाटी जाने में पड़ने वाले तर्कसंगत पारण स्थान) आप्टाले के अवतल में मिले कुछ बढ़िया नमूने, इन सबसे लघुपाषाणों की अल्पता ही प्रकट होती है। पूना से जुन्नर जाने वाली मौजूदा सड़क पर, चंद जगहों में, थोड़ी-थोड़ी संख्या में काफी अच्छे शिल्प उपकरण देखने को मिलते हैं। इस रास्ते में एक स्थल ऐसा है जहां के शिल्प उपकरण, तकनीक और संख्या की दृष्टि से अन्यत्र कहीं भी मिले बढ़िया से बढ़िया शिल्प उपकरणों से तुलनीय है, और वह है चाकोली गांव जो भीमा नदी के निकट रोड के सामने पड़ता है। जुन्नर

का विकास ठीक-ठीक किस तरह मे हुआ यह स्पष्ट नहीं है, हालांकि इससे चतुर्दिक जो 135 (या इससे भी अधिक) गुफाएं अवस्थित हैं, उससे स्पष्ट है कि ईसवी सदी के प्रारंभ मे जुन्नर एक जबरदस्त व्यापार केंद्र था।

इस अध्याय मे प्रस्तुत मुख्य विचारो का बेहतर निदर्शन बेड्सा के लघु गुफा समूह से ही होता है, हालांकि इसकी अपेक्षा जुन्नर संविधान कही भव्यतर है। यहां का विहार अपेक्षाकृत छोटा था, किंतु उसे काफी बडे इलाके के, जिसके अंतर्गत नासिक और कुडा भी थे, व्यापारियो तथा वैभवशाली दाताओं का संरक्षण प्राप्त था। वहा निवास करने वाले भिक्खुओ के अनुपात से जलाशयों की बहुसंख्यकता इस बात का सकेत है कि वहा बहुतेरे आगंतुक या तीर्थयात्री आते रहते होंगे। वह पगडंडी जो आज भी टाइगर पास (दर्रे) पर अवस्थित विहार के बगल से गुजरती है, पऊना घाटी लघुपाषाण पथ को इद्रायणी अष्टियक पथ से जोड़ती थी। इस पथ पर, उक्त दर्रे से ठीक नीचे, एक अच्छा लघुपाषाण स्थल है, जो पिंलोली गाव के सीमातर्गत है। गुफा से नीचे गवई की मातृदेवी येड्साई, विहार मे यभाई, स्तूप पर कभी-कभी लाल रग का पुचारा, और दर्रे के देवता वेताल जैसे व्याघ्र देव की प्रवर प्रतिष्ठा, इन सारी बातो से प्रमाणित होता है कि एक या अनेक प्रबल प्रागैतिहासिक पूजा पद्धतिया आदिम पथो के संगम पर प्रचलित थी और वे पथ ही बाद में विकसित होकर व्यापार मार्ग बन गए।

राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज 1 (अकालवर्ष) के एक ताम्र घोषणा पत्र, दिनांक 23 मार्च, 708 ई०, के अनुसार, मुला तटवर्ती कोरेगाव (कुमारी ग्राम) कर्हाड के ब्राह्मणगण को दान में दिया गया था (ई० आई० 13-275-292)। 8वी शताब्दी के पूर्व वह इलका स्थाई कृषि व्यवस्था के अधीन था, और उस समय नदी तथा आसपास के गावो के जो नाम थे वे उक्त दानलेख मे स्पष्टत: उल्लिखित है, और आज भी पहचाने जा सकते हैं। फर्क अब सिर्फ यही पडा है कि उनमे से कुछ गाव खंडो मे बंट गए हैं (जैसा बोरी, खामगांव), और यह कि नयागाव या आप्टे का उन दिनो अस्तित्व ही नही था। कोरेगाव मूल के छोटे से महादेव मदिर का निम्न चापाकार द्वार मार्ग ऐसी ईंटों से निर्मित है जो आकार मे उच्च सामत काल की ईंटों से बहुत बडी है, और उस देव मदिर की भीतरी दीवारो मे बहुत से बीर पाषण बने हुए है। इन मृतक स्मारकों मे मे अनेक मे यह दिखाया गया है कि अमुक वीर की मृत्यु पशु छापामारों से युद्ध करते हुए हुई, हालाकि दो घुडसवार और कुछ पैदल सैनिक बाजाब्ता युद्ध मे मारे गए थे। निश्चय ही वह गाव पशुपालन पर आश्रित रहा होगा जबकि राजा ने (जिसने एल्लोरा के पहाड मे भव्य कैलास सौध उत्कीर्ण करवाया था) उसे ब्राह्मणो को दान कर दिया, जिन्होने अनुमानतः अकृष्ट भूमि को जोतकर खेती बढाने पर ध्यान केंद्रित किया होगा। इस जगह के कई दर्जन महापाषाण स्तूप तब तक अवश्य ही सदियों से उपेक्षित रहे होगे। जैसा श्री एस० बी० तिखे ने मौखिक रूप से प्रतिवेदित किया है, क्षेत्रीय पुरातत्व और दान अभिलेख की अनुपूर्ति पास के गाव आलंदी की स्थानीय

परंपरा से होती है। ठीक उस खडे दर्रे के पार, जिस पर मल्हारगढ अधिरूढ है, ऊंची कर्हा द्रोणी (बेसिन) की कोर पर आलदी साडस के रूप मे आलंदी की शुरुआत हुई, जो अब 'चोर की' कहलाती है। मूल स्थान मे लोगों की आबादी के निशान अभी तक बने हुए है, और दर्रे की चट्टानों मे काटकर बनाए गए बड़े-बड़े जलाशय इस बात के प्रमाण हैं कि व्यापार सार्थों (अर्थात तिजारती काफिलो) के लिए वह मार्ग महत्वपूर्ण था। पुरानी बस्ती दो कुलो मे बंटी हुई थी, बंघाटे और गोर्गल। घाटी मे पहले उतरकर आया 'बंघाटे' कुल, जिसने दक्षिण रेलवे के आलदी स्टेशन के निकट वर्तमान रामोशिवाडी ग्राम की स्थापना की। यह नाम ही बताता है कि इसका उद्‌भव आदिमजातीय है और यह कि बटमारी की अभिरुचि उस कुल के लोगो में बनी ही हुई थी। गोर्गल लोग कुछ काल बाद पहाड से उतरे और उन्होने बटमारो की 'आलदी' की स्थापना की। जिससे जाहिर है कि वे लोग उस समय तक जंगली कबीले वाले ही थे। वह बस्ती अपने वर्तमान स्थान मे नही बल्कि, पूना-शोलापुर रोड से लगभग एक मील समीपतर, 'पुरानी उजली जमीन' (जुनी पंढरी) पर बसी हुई थी। घरो की नीवें वहां आज भी परिदृश्य हैं और लघुपाषाण भी, जो निश्चय ही गाव के स्थानांतरण के पूर्व ही जमा किए गए होगे। नीव के पत्थर छोटे-छोटे अपरिष्कृत, अधिकाशतः गोल शिलाखंड हैं, कोई महापाषाण इस क्षेत्र मे उपलब्ध नही। कृष्ण 1 ने अलंदिय के रूप मे जिसका निर्देश किया है वह यही गाव है, (सुदर वीर पाषाणो से युक्त) अपरिष्कृत प्राचीन शिव मंदिर, जो इस अभित्यक्त स्थल के उपात मे है, उसी प्राचीन काल का है। लेकिन, यह पूर्वतर बस्ती भी इसी वजह से बस सकी कि पशुपालकगण, मायवा और सायवा नामक दो सरदारो के नेतृत्व में, अपने पशुवृ द समेत जावली से यहां आ बसे। उनकी धाक यहा जम गई जिससे प्रभावित होकर जनजातीय गोर्गल लोग अपनी बर्बरता छोडकर अपेक्षाकृत विनीत किसान बन गए। आज तक, चोर की आलंदी के प्रमुख किसान परिवारों का कुलनाम जावलकर है। यह आप्रवास, जिसकी तिथि अज्ञात है ईसा पूर्व 8वी सदी में घटित हुआ था। जितने भी गावो का अध्ययन हमने किया है, उन सबके लिए निश्चय ही लगभग उसी काल मे नीचे घाटी मे उतर आना सभव हो सका होगा। उनका इस तरह स्थानातर गमन करना और अपना वहशी ढंग बदलकर वास्तविक कृषि को अपनाना प्रत्येक स्थिति मे, पशु और लोहा, इन दो पदार्थो के चलते ही संभव हुआ। खडे गिरि पार्श्वों पर अवस्थित वेदिकाओ मे कभी-कभी वर्तन दाहन पद्धति वाली कृषि के निशान मिल जाते हैं, और ये चिह्न और ऊपर मुलाघाटी मे (सिंहगढ के पीछे), कल्याण मे, कोडणपुर से आगे और अन्यत्र भी देखे जा सकते हैं। ऐसे मामलो में, बावजूद इसके कि वेदिकाएं जीर्ण-शीर्ण हो गई हैं और झाड़-झखाड़ की क्रमबद्ध कतारो से ही पहचान मे आती हैं, गाव के वृद्धतर लोग सामान्यतः बता सकते हैं कि गाव का प्राचीन स्थल कहा पर था। 'चोर की आलंदी' मे वर्षा स्पष्टतः इतनी पर्याप्त नहीं होती थी कि इस ढंग की खेती की जा सके, दर्रे के पास कोई गिरि पार्श्व वेदिका देखने में नही आती। जावली के पशुपाल वृंदो के साथ, जैसा कि अवश्यंभावी था, म्हातोबा

और उनकी पत्नी जोगूबाई भी वहां आ जमे, आज भी वे ही उन गांव के संरक्षक देवता हैं, हालांकि सर्वोत्तम रचना और सुंदरतम मूर्तियां तो पांडुरंग के मंदिर में हैं जिनका निर्माण आगे चलकर सामंत काल में हुआ। इनका पुनर्निर्माण शिंदे ने किया जो सिंदिया शासनकाल में 18वीं सदी के अंत में मंत्री के उच्चपद पर पहुंच गया था, किंतु जिसने, अपनी ख्यानतों का भेद खुलने की संभावना जानकर आत्महत्या कर ली। ऐसा नहीं हुआ कि जितनी भी वन्य परंपराएं थीं, सबकी सब सम्य संस्कृत हो गई हों। प्रसिद्ध रामोशी रहजन उमाजी नाइक को (जिसे 1831 में फांसी दे दी गई) और बागी वसुदेव बलवंत फड़के को (जिसकी मृत्यु 1883 में हुई) इसी स्थान से अपनी अपनी प्रेरणा और अनुयायियों की प्राप्ति हुई।

अध्याय 4 संबंधी टिप्पणियां

मेरी अपनी क्षेत्रीय टिप्पणियों के अनुपूरणार्थ, बंबई प्रेजिडेंसी के खासकर पूना, सतारा, शोलापुर, अहमदनगर, थाना और कोलाबा जिलों के (1882 और उससे आगे के) गजेटियरों का आमतौर पर उपयोग किया गया है। प्रक्रिया और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का प्रतिपादन (बंबई से 1956 में प्रकाशित) इंट्रोडक्शन टु द स्टडी आफ इंडियन हिस्टरी नामक मेरे ग्रंथ के दूसरे और आठवें अध्यायों में किया गया है।

1. तुल० खासकर जे० प्रजिलस्की . जे० आर० ए० एस० 1929.273-279। जे० ए० ओ० एस० 75, पृ० 41 की पाद-टिप्पणी भी महत्वपूर्ण है।

2. ई० आई० 8 60-65 (सेनार्ट)। गौतमीपुत्र के प्रदेशों की सूची इस प्रकार है : असिक, असक, मुलक, सुरठ, कुकुर, अपरंत, अनूप, विदभ, आकराव (?) ती। दूसरे और तीसरे की समरूपता बावरों के बंदोबस्त के सु० नि० विवरण से है।

3. जी० बूहलर द्वारा आर्कि० सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया 5.60-74 में प्रकाशित। यद्यपि अब वह उत्कीर्णलेख बुरी अवस्था में है, तथापि उसका जो अंश बच रहा है वह उदारतापूर्ण दान-दक्षिणा को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है : 12 ढोर और एक घोड़ा, 1700 ढोर, 10 हाथी, 11,000 ढोर, एक सौ घोड़े, एक बहुत बढ़िया गांव, 24,400 काहापण; 6001 काहापण, एक रथ, 100 ढोर; 12 स्वर्णखंड, 14,000 काहापण, एक गांव, हाथी, गांव, एक [illegible] अनाज; 17 गायें, एक या अनेक खच्चर (?), स्वर्ण [illegible], चांदी के गहने, 10,000 काहापण शुल्क, 20,000 ढोर, 10,001 ढोर, इत्यादि, जो विभिन्न यज्ञ संपन्न करने के लिए दिए गए थे, जिनमें से कुछ के नाम बच रहे दानलेखाश में सुस्पष्ट अंकित हैं।

4. इस संबंध में जो भ्रांति बनी हुई है वह एच० डी० संकालिया और उनके साथियों द्वारा की गई अत्यंत मूल्यवान अग्रगामी खुदाइयों से बहुत कुछ दूर आनी चाहिए थी, लेकिन, दुर्भाग्य से उनके प्रतिवेदनों से इसमें कभी-कभी वृद्धि ही हुई है। इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज, 5 सितंबर, 1[illegible] 181-18 में नावडा टोली कुल्हाड़ों को इस में इस ईसा पूर्व 1300 सन के समय में [illegible] सुवेष्टित दिखाया गया है, हालांकि इस प्रदेश स्थानीय कपास उत्पादन के बारे में [illegible] नहीं किया गया है। चूंकि ऐतिहासिक युगों में [illegible] [illegible] [illegible]

एक लुप्त हो चुके समाज के ऐतिहासिक पुनर्निर्माण के लिए अभी पुष्टतर प्रमाण अपेक्षित हैं, वही काफी नहीं है जो पेश किया गया है। सकलिया ने उत्तरी हैहयों के महत्व, और हय (अश्व) से उनके व्युत्पत्तिगत संबंध, पर बल दिया है, हालांकि उनकी कास्यपाषाण लब्धियों में ऐसा कुछ भी प्रकाशित नहीं हुआ है जिससे उस स्थल पर हय (अश्व) या रथ की विद्यमानता प्रमाणित हो। बंबई एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल (जिल्द 31-2, 1956-57, पृ० 229-239) में उन्होंने कई ऐतिहासिक विकल्प प्रस्तुत किए हैं, किंतु लब्धियों के वर्णन में वे आप अपनी मतर्क सीमाओं को लांघ गए हैं। ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है जो तथाकथित पौराणिक 'इतिहास' से संबंध जोड़ सके। (पुराण तो पुरोहितों के हाथों अभी हजार बरस पहले तक लगातार संशोधित होते रहे हैं, महाभारत महाकाव्य भी, जिसके आधार पर अनेकानेक पुराणों की रचना हुई है, धार्मिक प्रयोजनों से, ठीक गुप्त युग के पूर्व, दुबारा लिखा गया था)। पृ० 233 के सामने वाले मानचित्र पर यह परिचय अंकित है, 'काली मिट्टी वाले लोगों की काम्यपाषाण संस्कृति' हालांकि काली मिट्टी का विस्तार दक्षिण सोपानाश्म (ट्रैप) क्षेत्र से काफी आगे तक है। (आर्य और द्रविड़ करके जो मुख्य भाषा वर्गभेद है, जिस पर उद्धृत निबंध में कोई ध्यान नहीं दिया गया है, उसकी संगति मिट्टी के बदल से नहीं बल्कि, मोटे तौर पर, अध स्तरीय बेसाल्ट के ग्रेनाइट में बदल जाने से है)। पृ० 233 पर कहा गया है 'संभव है कि ऐसे दाव शल्कों की प्राप्ति धातु के औजारों के प्रयोग का परिणाम हो' इस उक्ति पर क्या कहा जाए, चुप रह जाना ही अच्छा है। फिर, पृ० 236 पर पढ़ने को मिलता है 'नर्मदा घाटी का आर्य अथवा पौराणिक उपनिवेशीकरण' (पुराण इस बात की पुष्टि करते हैं कि इक्ष्वाकु वंश, जिसका अंतिम राजा मिथिला का सुमित्र था, बुद्ध जन्म के पूर्व ही समाप्त हो चुका था। बहुत से दूसरे-दूसरे सद्यःोन्नत नए रईसों की भांति, दक्षिण के 'इक्ष्वाकु' लोगों ने भी परोपजीवी ब्राह्मणों से अपने अनुकूल कोई उत्तम वंशावली खामखा अन्वेषित या आविष्कृत कराके अपनी अज्ञात जनजातीय (कबायली) कुलपरंपरा को उन्नत करा लिया। उक्त प्रयोजन से दुबारा रचे गए पुराण होमरकृत ट्राय पूर्व 'जलयानों की सूची' के आधार पर तैयार की गई श्रेण्यवंशावलियों की अपेक्षा बहुत कम विश्वसनीय हैं)। उसी पृष्ठ पर, एक दूसरे से एक योजन 'लगभग 28 मील', अलग, (किंतु, जहां तक ज्ञात है, योजन का प्रयोग कभी भी नौ मील की दूरी से अधिक के लिए नहीं हुआ है)। नदी तटवर्ती रामायण अधिष्ठानों की एक अनाम स्थानीय परंपरा उल्लिखित है। पृष्ठ 234 पर, अस्सक लोगों को अफगानिस्तान से आए हुए अश्वक लोगों से अभिन्न माना गया है, उन्हीं को, पृष्ठ 238 पर, अश्मक कहा गया है और अंग्रेजी रूपांतर 'द ब्लेड मूजिंग पीपुल' किया गया है, जिस अनुवाद का कोई औचित्य नहीं है। यों, वैयक्तिक रूप से, मेरे लिए तो संकलिया का काम उत्साहवर्धक ही है। अगर वह हद से हद दो मील के दायरे में तीन स्थलों (बांधों की आधार खाइयों) में पाए गए 64 शिल्प उपकरणों के आधार पर गोदावरी पुरापाषाण उद्योग का वर्णन कर सकते हैं (डेक्कन कालिज मोनोग्राफ सं० 10, 1952), तो मेरा प्रस्तुत विवरण, जो 200 मील के दायरे में किए गए क्षेत्रीय शोधकार्य तथा 18,000 लघुपाषाण लब्धियों पर आधारित है, आसमान के तारे तोड़ लाने जैसा नहीं प्रतीत होना चाहिए।

5. ब्रिटिश म्यूजियम के श्री हगलम बैरेट के एक पत्र से संलग्न प्रतिवेदन में दिया हुआ समय (सं० 28, 1960) 2240 + 150 वर्ष है। बि० म्यू० प्रयोगशाला कार्बन डाइआक्साइड के बदले ऐसीटिलीन को काम में लाती है, जो, प्रति अणु, ज्यादा कार्बन परमाणु निर्मुक्त करता है और

उनके इलेक्ट्रानिक परिपथ उनकी अपेक्षा जटिलतर हैं जो रेडियो कार्बन कालनिर्धारणार्थ पहले काम मे लाए जाते थे।

6. डी० डी० कोसाबी : धेनुकाकट, जे० बी० बी० आर० ए० एस० 30 (11), 1956, पृष्ठ 50-71 और 4 प्लेट।

7. जे० एफ० फ्लीट ने जे० आर० ए० एस० 1901 537-552 मे तगर के बदले टेर का निर्देश किया था। अगर उनका सुझाव मान लिया जाए तो इसका मतलब होगा कि पेरिप्लस और टालेमी ने तत्कालीन सबसे बड़े प्रायद्वीपीय व्यापार नगर जुन्नर पर कोई ध्यान नही दिया।

8. *सिल्वँन लेवी, जे० ए० 5, 1915 (भाग 1) पृ० 19-138 मे : ले कैटेलाग जियाग्रफी द यक्षाज देन्स ल महामयूरी* संस्कृत मूलपाठ की पंक्ति 41 और 44। यह सूची कई अतिव्यापी और किंचित विभिन्न स्रोतो से ली गई सामग्री से तैयार की गई है।

9. तलगुड स्तभ के प्राय. काव्यात्मक विवरण के लिए ई० आई० 8.24-36 द्रष्टव्य। एल डिला बल्ली पूस्सिन (पेरिस 1935) पृष्ठ 269, पाददिप्पणी 2 के अनुसार, ऐसा प्रतीत होता है कि बाण लोगों की राजधानी उत्तर अर्काट जिले के निरुवल्लभ (वनपुर) मे थी, और उन्हें उखाड फेंका चोल राजा परातक ने (907-948 ई०)। बाणाई और धगरो के साथ सबध की बात स्पष्टत संदिग्ध है, लेकिन, जहा इतनी अटकलें हैं वहा एक यह भी सही।

10 विरोबा, और वर्षा ऋतु मे पूर्व की ओर स्थानातर गमन, के लिए बबई प्रेजिडेंसी गजेटियर, जिल्द 19 (1885), पृष्ठ 105 द्रष्टव्य।

11. *श्रीनाथ मस्कोबा देवाचे चरित्र (मराठी मे) प्रथम बार पूना में 1889 मे मुद्रित।* इसका द्वितीय संस्करण भी अप्राप्य है, किंतु इसकी एक प्रति धीर के पाटिल के सौजन्य से प्राप्त हुई। दुर्भाग्यवश, स्थानीय परपरा सामान्यत बेमेल है, और कोई जरूरी नही कि किसी एक वृद्ध से मिली जानकारी किसी और से प्राप्त सूचना से मेल खाए ही, प्रस्तुत विवरण की मुख्य-मुख्य बातो से लोग सामान्यत. सहमत हैं।

12. एच० केहर्ट कैरिंग एड वुडकाफ्ट (न्यूयार्क 1924) जिल्द 2, पृष्ठ 327। डेस्मोड क्लार्क. दि प्रीहिस्टरी आफ मदर्न ऐफ़िका (पेलिकन बुक्स ए 458, लदन 1959), पृष्ठ 233, चित्र 51, एट पैसिमम, मस्तगी (मैस्टिक) के प्रयोग के सबध मे द्रष्टव्य। खनन यष्टि भारो के रूप में वेधित पाषाणों के लिए, वही, पृष्ठ 207, चित्र 42।

13 जी० एच० खरे : श्री विट्ठल आणि पढरपुर (मराठी में), द्वितीय संस्करण, पूना 1953। राज्यातर्गत चार मुख्य पूजा पद्धतियों के मध्यकालीन उद्‌भव के विवेचन के लिए, उक्त ग्रंथकार का महाराष्ट्राची चार दैवतें भी द्रष्टव्य। विद्वान लेखक को इस बात का उल्लेख करना चाहिए था कि यह विकास, और मराठी भाषा का विकास भी, एक ग्राम बाजार के विकास पर आधारित था। पढरपुर के तीर्थों के लिए, जी० ए० डिलयूरी · द कल्ट आफ विठोबा (पूना 1960) भी द्रष्टव्य।

14. डी० एच० गार्डन का प्रतिवेदन : एशेंट इंडिया 6, 1950, पृ० 74। के० आर० यू० टाड ने एशेंट इंडिया 6 (1950), पृ० 4-11 मे बबई द्वीप के पाषाणयुगीन उद्योग का वर्णन करते

हुए, पाषाण वलय को गदा शीर्ष कहा है, हालांकि गदा शीर्ष के रूप में उसका सफल उपयोग असभव है, सभवत वह खनन यष्टि भार ही है। उसी अक मे, डी० एच० गार्डन ने (पृ० 64-90 में) भारत और पाकिस्तान में होलोसीन लोगों के पाषाण उद्योगो का सर्वेक्षण किया है। कुछ निष्कर्ष तो निश्चित रूप से भ्रामक हैं, खासकर लघुपाषाणो से ताबे के सबध की बात (पृष्ठ 83)। सिर्फ स्थल ही उल्लिखित हैं, कोई पथ नही। जिस इलाके में मैंने गहरी खोज की है वहा के प्रमाणो से यह मजे में प्रतिपादित किया जा सकता है कि पाषाण युग से सीधे लौह युग मे सक्रमण हो गया, बीच मे धारदार पाषाण औजारो या न्यूनाधिक मात्रा मे ताबे के उपयोग का कोई प्रक्रम नही पडा। धारवार के दृश्याशो पर अक्सर लौह-आक्साइड शल्को की मोटी पपडिया पडी दिखाई देती हैं जिन्हें पूरे का पूरा उठा-हटा लिया जा सकता है, लकडी के कोयले की आग मे भूनकर अपचित किया जा सकता है, और कूट-पीटकर काम मे लाने लायक लोहा बनाया जा सकता है। घुमक्कड धावड जनजातीय कारीगरो द्वारा स्थानीय रूप से इस प्रकार बनाए गए बरतन, खासकर कडाहिया और तवे, कम से कम द्वितीय विश्वयुद्ध तक, चिपलूण निकटवर्ती हेल्वाक मे, और मैसूर राज्यातर्गत भद्रावती मे भी, खरीदे जा सकते थे। दूसरी ओर, ताबा तो यहा मुश्किल से मिलता है। लोहे की जानकारी सभवत व्यापारियो से मिली। हल तो निश्चय ही कोई स्थानीय आविष्कार नही है।

15 आर० व्ही० जोशी प्लाइस्टोसीन स्टडीज इन द मालप्रभा बेसिन (पूना धारवार, 1955)। ग्रथकर्ता ने अपने प्रथम मानचित्र मे पूना के निकट कन्दिव्ली से और इधर कोई लघुपाषाण स्थल नहीं दिखाया है, हालाकि जिस प्रयोगशाला मे उनकी सामग्री सघटित थी वहीं से, खिडकी से बाहर देखने पर, एक अच्छा स्थल उन्हें नजर आ जाता। यो, जो काम उन्होने किया है उसका प्रतिवेदन बहुमूल्य है।

16 के० केनियन . डिगिंग अप जेरिको (लदन, 1957), पृ० 57, बृहत्तर पाषाण औजारो का अभाव, खनन यष्ठि भार (गदा शीर्ष की भ्रांति से रहित) पृष्ठ 74, पाद टिप्पणी सी-14 काल निर्धारण ईसा पूर्व 6800 से बहुत पहले। इसी तरह, ऐन्टिक्विटि 129 5-9, जला डाले गए मध्य-पाषाण देवमदिर का सी-14 काल निर्धारण 7800 ई० पू०। ऐन्टिक्विटि 120-185 : 'कुल्हाडिया, बसूले, कुदाल, भारी छेनिया, ये सब करीब-करीब नदारद हैं, लकडी का पर्याप्त उपयोग करनेवाले लोगो के बीच इन वस्तुओ का अभाव विचित्र है। दक्षिण पथ लघुपाषाणो का सही माने-मतलब समझने के लिए मृद्भाड पूर्व जेरिको की लब्धिया शायद सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं।

17. भारत मे महापाषाणो के सबध मे, देखें . ए० आई० स० 19,1953, पृ० 103-115. के० आर० श्रीनिवासन एड एन० आर० बनर्जी · 'सर्वे आफ साउथ इडियन मेगालिथ्स'। परम सावधान उत्खनन के संबध मे आर० ई० एम० व्हीलर, ए० आइ० स० 4, पृ० 180-310 'ब्रह्मगिरि एड चंद्रवल्लि, 1947 ? मेगालिथिक एंड अदर कल्चर्स इन मैसूर स्टेट'। यही भारत की एकमात्र कृतकाल (काल निर्धारित) महापाषाण सस्कृति है जो ईसा० पूर्व० 200 से 50 ई० तक कायम रही, शेष सभी सस्कृतिया यद्यपि लौह युग को ही हैं तथापि उनमे से एक भी ऐसी नहीं है जिसका काल सीमाकन इतनी सावधानी से किया गया हो। अन्य शोध कार्य के सबध मे, देखें ए० आई० 2,1-2,9-16, 3, 11-57, 4, 4-13 (बी० जी० चिल्डे, मेगालिथ्स एज ग्रुप ग्रेव्ज); 5-35-45, 8,3-16, 12,21-34; 13,4-142, 15,4-42। एक सामान्य सर्वेक्षण एम० शेषाद्रि : द स्टोन यूजिंग कल्चर्स आफ प्री-

हिस्टोरिक एड प्रोटो हिस्टारिक मैसूर (यूनीवर्सिटी ग्राफ मैसूर, लदन, 1957) में भी द्रष्टव्य है। बवई गजेटियर, जिल्द 18, भाग 3, 1885, पृष्ठ 118 मे, पूना से कोई 8½ मील उत्तर, मोसरी के 'प्राचीन अवशेष' उल्लिखित हैं। इन्हें प्रतिवेदित किया था एच० डी० सकलिया ने देखें 'मेगालिथिक मानुमेंट्स नियर पूना', बुलेटिन ग्राफ द डेक्कन कालिज रिसर्च इस्टीच्यूट, जिल्द 1,1939-40, पृ० 178-184, और पट्टिकाए (प्लेट)। इस प्रतिवेदन का शीर्षक इस दृष्टि से कुछ अजीब बेतुका है कि उससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि लेख मे प्रागैतिहासिक अवशेषो का वर्णन किया गया है। पृ० 182 पर स्वीकार किया गया है कि डाल्मेन (महापाषाण पट्ट स्मारक) जैसा भवन आज भी निर्मित किया जाता है, और वस्तुतः वह स्मारक उन लोगो का था जो 'महज 2 या 3 बरस पहले मरे थे'। उसी तरह, मुजाबा देव मदिर के निर्माताओ पर, जो तब तक जीवित ही थे, अन्वेषको का ध्यान गया ही नही। एक खड़ा शिलापट्ट, जिसे मेन्हिर (एकाश्म स्मारक) के रूप मे सचित्र वर्णित किया गया है, 1842 ई० में बने एक मकान के कोने मे स्थापित हैं, इस शिलापट्ट के इस तरह गाड़े जाने का एकमात्र प्रयोजन था मकान को सकरे कोने से मुडनेवाली बैलगाडियों के पहियो से क्षतिग्रस्त होने से बचाना, जिस प्रयोजन की पूर्ति यह आज भी कर रहा है। गोलाश्म, जो गाववालो द्वारा *व्यापक रूप से काम मे लाए गए हैं, मुमकिन है कि प्रागैतिहासिक निर्माण से प्राप्त हुए हो,* लेकिन इसके लिए कोई साक्ष्य पेश नही किया गया है। दूसरी ओर वास्तविक महापाषाण, जो गाव से बाहर आध मील पर पड़े हैं और जिन पर उनकी पुरातनता के प्रमाणस्वरूप वृत्त या अर्धाकृतिया उत्कीर्ण हैं, अनदेखे रह गए हैं। प्रसंगाधीन गाव की स्थापना लाड्गे (भेड़िया) कुल के लोगो ने की थी, जिनकी परंपराओ और अस्तित्व को बिलकुल नजर अदाज ही कर दिया गया है। कहने की जरूरत नही कि महापाषाण, जो यद्यपि जीर्ण शीर्ण अवस्था मे हैं किंतु जिनकी पुरातनता असदिग्ध है, पूना के बहुत करीब ही मौजूद हैं।

18. डब्ल्यू० एच० स्काफ : द पेरिप्लस ग्राफ द एरिथ्रीअन सी हिंद महासागर मे यात्रा और व्यापार। प्रथम शताब्दी के एक व्यापारी द्वारा ग्रीक (यूनानी भाषा) से सटिप्पणी अनूदित। इसमे दिया गया काल निर्धारण, यद्यपि बहुतो ने इसकी आलोचना की है मुझे युक्तियुक्त प्रतीत होता हैं। विकल्पत, पेरिप्लस की सामान्य विश्वसनीयता पर ही सदेह किया जा सकता है, क्योंकि इसमे नारियल का ही जिक्र नहीं है, जोकि पश्चिम समुद्रतट की प्रमुखतम विशेषता और वहा की प्रधान व्यापार-वस्तु है। 120 ई० के बाद के बुद्धिमान व्यापार-यात्रियो ने इसका खयाल और जिक्र जरूर किया होता। यहा प्रयुक्त प्रकरण 51 और 53 सख्यांकित हैं, और मैंने स्काफ की टिप्पणियो की अपेक्षा आर० जी० भडारकर के लेख मे प्रस्तुत बदरगाहो की पहचानो मे से कुछ का आश्रय लिया है, बौद्ध गुफाओ द्वारा प्रस्तुत महत्वपूर्ण व्यापार निर्देश को नजरअदाज तो दोनो ही कर गए हैं।
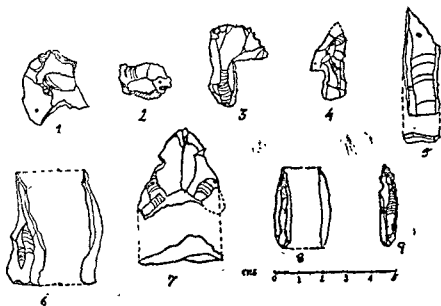
4.21 विशेषीकृत लघुपाषाण उपकरण (1) बींधा हुआ तावीज, येरणडवणे स्थल (2) उसी स्थल से प्राप्त छिद्रित मत्स्याकार तावीज, छेद करने के लिए गड्ढा सावधानीपूर्वक बनाया गया है। (3) देवलगाव से प्राप्त कांटा। (4) कटीला शूल (?) बिंदु, वरवड से प्राप्त, कांटे मे छेद है और उसमें स० 1 और स० 2 की तरह धागा पिरोया जा सकता है, यद्यपि इसका छेद बेतहर है। (5) तिरछे किनारे पर अनुशोधित फलक, देवलगाव। (6) बढ़िया नुकीला तीक्ष्ण उपकरण 'पाटम', सभवत पशुचर्म सीने के लिए सूजा, (7) दातेदार नोक्वाला वाणाग्र, फग्णे मे मातृदेवी की वाटिका के निकट, पर्वत प्रक्षेप से प्राप्त, (8) पेर्णेम से प्राप्त नुकीला यह औजार सभवत. हड्डी उकेरने के लिए तक्षणी स० 6 से अधिक मजबूत है; (9) देवलगाव से प्राप्त पतला फलक स० 1 इसके दोनो सिरे खाचेदार हैं, इसकी बारीकी और अनुशोधन को देखकर लगता है कि यह शल्य उपस्कर हो सकता है।

ये सब लघुपाषाण कॅल्सेडोनी से बने हैं और स० 7, के अतिरिक्त जो एक चतुष्पथीय स्थल से मिला है, के अतिरिक्त अन्य सभी उपत्यका उद्योग के महत्वपूर्ण केंद्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

गोआ के
'पुराने विजित क्षेत्रों'
में ग्राम-समुदाय

इतिहास बनाम स्कंद पुराण

गोआ भारत के पश्चिम समुद्रतट पर 47 डिग्री पूर्व रेखांश और 15 डिग्री उत्तर अक्षांश के बीच स्थित है। इस छोटे से हरे-भरे भूखंड का क्षेत्रफल 1,301 वर्गमील बताया गया है, और वास्तविक राज्य क्षेत्र 60 मील और 60 मील के एक आयत के अंदर पूर्णतः आ जाता है। यह प्रदेश, छोटा होते हुए भी, ग्यारह प्रशासनिक जिलों में बंटा है जिनमें से हमें सरोकार है तीन जिलों से—इल्हास, बर्दिज और साल्सीत (मोर्मुगाव सहित, जो पहले साल्सीत के ही अंतर्गत था किंतु वर्तमान शताब्दी का प्रारंभ होने पर अलग कर दिया गया)। ये तीनों जिले मिलकर पुराने विजित क्षेत्र कहलाते हैं, जो 1511 ई० में अल्बुकर्क की अंतिम विजय होने पर तुरंत पुर्तगाली आधिपत्य में आ गए, बाकी जिलों को पुर्तगलियों ने 1763 के बाद अपने राज्य में मिला लिया था। इन पुराने विजित क्षेत्रों के ग्राम समुदायों के बारे में हमारी दिलचस्पी इस बात को लेकर है कि सर्वोत्तम चावल उपजाने वाली जमीन आज भी सामान्य संपत्ति है। लेकिन, इस कथन का वास्तविक अभिप्राय क्या है, यह समझने के लिए हमें काफी जटिल ऐतिहासिक विश्लेषण की प्रक्रिया से गुजरना होगा, और उस स्थान का एक चित्र निर्मित करना होगा, अन्यथा यूरोप या अमरीका में किसी पाठक को शायद ही स्पष्ट हो सके कि वास्तविक स्थिति क्या है। अतः, ऐसे प्रयत्न के क्रम में, यदि मुझे कहीं-कहीं वैयक्तिक अनुभव और संस्मरण प्रस्तुत करने पड़ जाएं, तो पाठक कृपया मेरे प्रयोजन को गलत न समझें।

भूमि और लोग

संसार का एक सुंदरतम दृश्य देखना हो तो आइए गोआ की भूमि देखिए। अधिकांशत.

धान की इकाई प्रतिवेदित हो गई। अतः पहले की रिपोर्टों की तरह जब 1937 के तथाकथित प्रामाणित सरकारी आकड़े सामने आए, तब यह समझ लिया गया कि चावल का उत्पादन अब पर्याप्त होने लगा, और इसीलिए ब्रिटिश चावल के आयात पर, जो कि गोआ की खाद्य पूर्ति के लिए हमेशा से जरूरी रहा था, शुल्क लगा दिया गया। इसके प्रतिकार के रूप मे, उन सारे खाद्य पदार्थों पर भी भारी सीमा शुल्क लगा दिया गया जो गोआ से ब्रिटिश भारत भेजे जाते थे। (1929-33 की मंदी तो अनर्थ कर ही चुकी थी) इस प्रतिकारात्मक उपाय ने ब्रिटिश भारत को मुख्यत निर्यातित होने वाले गोआ के नारियल का बाजार और भी चौपट कर दिया। वाणिज्यिक आकडे[3] बताते हैं कि 1929 तक गोआ के 72 प्रतिशत आयात ब्रिटिश भारत से ही होते थे, लेकिन प्रतिकारात्मक प्रशुल्क (टैरिफ) लग जाने से यह घटकर 1938 मे 60 प्रतिशत से नीचे आ गया, और इसी के अनुरूप निर्यात भी 90 प्रतिशत से घटकर 70 प्रतिशत हो गया। चित्र 1 के ग्राफ[1] मे पुर्तगाली भारत की संपूर्ण आर्थिक त्रासदी का दिग्दर्शन प्रस्तुत है जिससे जाहिर होता है कि अपर्याप्त स्थल परिवहन के अतिरिक्त सीमा शुल्क रोध का गोआ पर क्या प्रभाव पड़ा, बावजूद इसके कि उसे मोर्मुगाव मे एक उत्तम बंदरगाह प्राप्त था पंजिम, अथवा खास गोआ, प्रस्थानकारी जलयानो के लिए, जो वर्षाऋतु मे नही चलते थे, अच्छा बंदरगाह था, (लेकिन यह बंदरगाह जून मे पहली भारी वृष्टि के उपरात अगोदा नदी के मुहाने पर कीचड-गाद जमा हो जाने से बंद हो जाता है)। वार्षिक कमी करीब-करीब ठीक 1 करोड 20 लाख रुपये की पडती है, और हर साल इसका यही हाल रहता है। सपूर्ण ब्रिटिश भारत मे, ब्रिटिश और पुर्तगाली अफ्रीका मे, (तथा बहुतेरी नावो पर) चाकरी या क्लर्की में लगे हुए परिश्रमी गोआवासी अपनी कमाई में से मोटे तौर पर इतनी ही रकम घर भेजते हैं। बात यह है कि गोआ की कोई पूजी बाहर लगी हुई नही है। युद्ध के वर्षों मे, थोड़ी पूजी गोआ को उसकी सुरक्षा के लिए भेजी गई थी, और पुर्तगाली करेंसी की विनिमय दर ऊची होने से सरकार ने कुछ धन पैदा भी किया, लेकिन कुल मिलाकर परिणाम वस्तुत. अनर्थकारी ही हुआ, क्योंकि बर्मा की हार और ब्रिटिश राज्य क्षेत्र मे खाद्य नियंत्रण हो जाने से चावल का आयात बिल्कुल बद हो गया। गोआ की लगभग आधी आबादी ने तो किसी तरह भुखमरी राशन पर जीने का प्रबध कर लिया, बाकी लोग उत्प्रवासी हो गए। गोआ की आबादी मे घट-बढ़ का कारण यह सतत उत्प्रवासन है (साथ-साथ प्रशासनिक शिथिलता और आंकडों की अयथार्थता भी), अन्यथा यहा आबादी बराबर 5 लाख के ही आसपास बनी रहती है, और बार्देज जैसे जिलों मे, जहा के मर्द लोग धन कमाने के लिए राज्य क्षेत्र से बाहर जा बसे हैं, महिलाओ को संख्या बराबर बढती ही जाती है।

ऐसे उत्प्रवास के संबंध मे कोई वास्तविक आकलन तो उपलब्ध नही है, मगर यह एक तथ्य है जो निम्नलिखित बातों से साफ जाहिर है। 1931 की जनगणना को ही लीजिए (जो पूरे ब्यौरे के साथ उपलब्ध अंतिम जनगणना है)। इसमे (मेरे द्वारा

5 1 गोआ के व्यापार, आयातित, निर्यात तथा आना-जाता हुआ माल

प्रस्तुत ग्रांकडो के विश्लेपण से, पृ० 18-21) पता चलता है कि 1921-31 में सपूर्ण पुर्तगाली भारत में मृत्यु की ग्रपेक्षा जन्म की संख्या मे प्रतिवर्ष ग्रौसतन 4412.8 की वृद्धि होती रही। तो भी, जैसा कि पाया गया है, जनसंख्या मे तदनुरूप वृद्धि दिखाई नही देती। इसके ग्रतिरिक्त उसी जनगणना से (पृष्ठ 3 की सारणी 1 ग्रौर पृष्ठ 7 की सारणी 6 पर ग्राधारित परिकलनों से) जाहिर है कि संख्या मे पुरुषों से महिलाग्रो का ग्राधिक्य संपूर्ण पुर्तगाली भारत मे 21,179 का ग्रौर ग्रकेले गोग्रा में 21,409 का है, किंतु इल्हास, साल्सीत (मोर्मुगाव रहित) ग्रौर वार्देज, इन तीनो कासेल्हो मे उक्त ग्राधिक्य वस्तुतः 22,670 का है। एक वार्देज मे ही यह ग्राधिक्य कम से कम 13,576 का। ज्ञातव्य है कि पुरुपो के प्रति महिलाग्रो का ग्रनुपात संपूर्ण पुर्तगाली भारत मे 1.0758 है, गोग्रा में 1.0885, ग्रौर वार्देज मे 1.2957। ग्रौर भी विस्तार मे जाकर देखते हैं तो पाते है कि वार्देज मे 14 वर्ष से कम उम्र के लडकों के प्रति लडकियो का ग्रनुपात तो 1.00997 है, किंतु वयस्क, ग्रर्थात 14 वर्ष से ऊपर लडकियों का ग्रनुपात 1.4691 है। समृद्धतर देशो मे, जनगणना के ग्रनुसार, पुरुष संख्या ही वस्तुतः ग्रधिक होती है, उम्र के साथ यह ग्रनुपात घटता जाता है, यहा तक कि वृद्धावस्था मे पुरुषो की ग्रपेक्षा महिलाग्रों की संख्या ही ग्रधिक हो जाती है। यह ग्राकडा चाहे जितना भी ग्रयथार्थ ग्रौर ग्रविश्वसनीय हो, मैं इससे एक ही निष्कर्ष निकाल पाता हू कि कार्यक्षम पुरुपगण सर्वदा उत्प्रवास कर जाते हैं, खासकर गोग्रा के जनमकुल इलाको से, ग्रौर इस वात का पुष्ट प्रमाण मुझे तब मिलता है जब मैं ब्रिटिश भारत मे, खासकर बबई जैसे शहरों मे, उत्प्रवासी लोगो के सम्मिश्रण पर दृष्टिपात करता हू। ग्रवश्य ही गोआ की जनगणना मे संख्यात के रूप मे दर्ज ग्रनुपस्थितो की सख्या को देखा जाए तो उससे महिलाओ की जबरदस्त बहुतायत प्रमाणित नही होगी।

ग्रार्थिक स्थिति

सोचने की वात है कि ऐसे ग्रार्थिक कष्ट से पीडित होने का परिणाम तो यह होना चाहिए था कि इस प्रदेश का रूप ही कुछ ऐसा वदल दिया गया होता कि विलकुल पहचान मे नहीं ग्राता। वस्तुतः, यदि इस उपनिवेश की या खुद पुर्तगाल की सरकार यहा ग्रौद्योगीकरण को प्रोत्साहित करती या विकसित होने देती तो इसका रूप क्या से क्या हो गया होता। दूधसागर का जलप्रपात तथा ग्रन्य स्रोत ग्रगर काम मे लाए गए होते तो पूरा राज्यक्षेत्र ही विद्युतीकृत हो गया होता, उसी तरह, ग्रगर पश्चिम घाट पहाडो की समृद्ध लोहा खानें खनी गई होती तो सपत्ति का ढेर लग गया होता। किंतु, उक्त संकट ने ऐसी वाछनीय प्रतिक्रिया पैदा न करके इस भूमि को परोक्षतः ही प्रभावित किया है : कर्मिष्ठ तत्व तो प्रवासी हो जाते है, ग्रौर जो बच रहते हैं वे ग्रपनी ऐसी प्रवृत्ति से, जिसे 'ग्रामजीवन की जडता' ही कहकर निरूपित किया जा सकता है, ग्रौर जो कुछ हद तक उनकी यथार्थ मूढता ग्रौर (कदंन ग्राहार एव स्थानिक हुकवर्म रोग के कारण बडी हुई) उदासीनता तथा लडाई-झगडे, मुकदमेबाजी ग्रौर मार
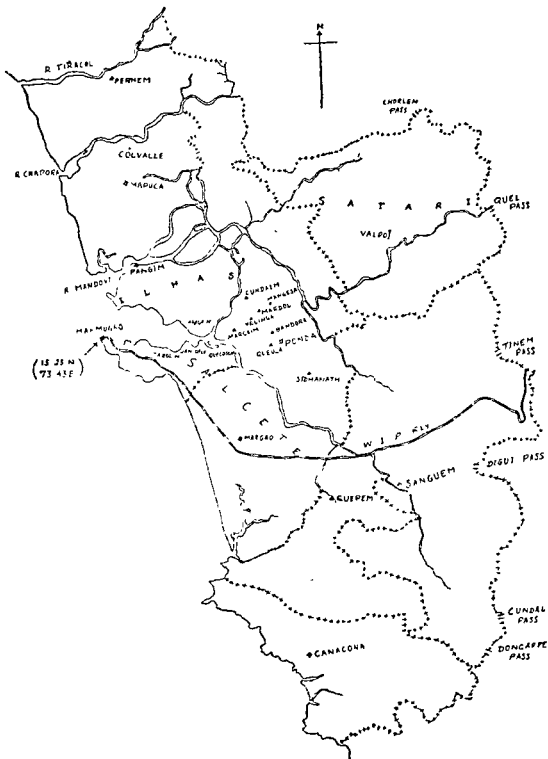
पीट मे ही अपनी शक्ति के अपव्यय के चलते प्रबलतर हो गई है, विस्मयकारी दृढता से चिपके रहते है । जमीन की सूरत तो पहले से बदली है जरूर, क्योकि नकदी फसलें उपजाना जरूरी हो गया, जिनमें सर्वाधिक लाभप्रद है काजू, जिसकी, चाकलेट और नूगट गिरि मिठाई) व्यापार के लिए, जिसे स्पष्टत: कैथोलिक ईसाई पादरियों ने प्रवर्तित किया था, बडी माग है, और इसीलिए जिसकी बागबानी दिन-दिन बढती पर है। ऐसा जान पड़ता है कि अपने विशेष फीनोलिक उपोत्पादो सहित यह पेड समस्त झाडियो को नष्ट कर देता है, परिणामतः वर्षा का पानी पहाडी पार्श्वों से सत्वर ढर-बह जाता है, और जहां कही काजू उपजाया जाता है वहां जलस्तर काफी नीचे गिर गया है। इसमे सहायक कुछ और बातें भी हुई है : सस्ते ईंधन का और कोई समान न होने की वजह से जलावन की लकड़ी के लिए जंगल का काटा जाना, घास का उपजाया जाना, जिससे नकद आमद तो होती है मगर जमीन चौपट हो जाती है, और खेती के गलत तरीके। प्रशासन ने रासायनिक उर्वरकों के उपयोग का सुझाव तो दिया, लेकिन इस बात का खयाल नही रखा कि उन्हें खरीद सकना स्थानीय खेतिहर के बूते के बाहर है, वह बेचारा तो बहरहाल मछली का ही उपयोग कर सकता है, जो बरसात के बाद प्रचुर परिणाम में पकडी जाती है और खाद के प्रयोजनार्थ लवणित कर रखी जाती है (डिब्बो मे बंद कर तो कतई नही और खाने के लिए भी बहुत कम ही सुखा रखी जाती है)। काजू वृक्षों का फल एक नायाब किस्म की नशीली, शराब चुवाने के काम आता है, इसके साथ-साथ नारियल की शराब भी, गोआ की श्रमिक आबादी के लिए थकान मिटाने का मुख्य साधन और इस राज्य के राजस्व[5] का भी एक प्रधान स्रोत है। कलमी आम का निर्यात तो यहा से पहले भी होता था, किंतु पिछली सदी के अंत मे रेलवे की व्यवस्था हो जाने से इसका निर्यात और शीघ्रता से होने लगा जिससे जमीदार की आमदनी बढ गई, हालाकि परिवहन शुल्क इतना भारी पडता है कि हिम्मत टूट सी जाती है। उचित मात्रा मे बसो की व्यवस्था तो 1930 के बाद ही हो पाई जिससे परिवहन की कमी तो दूर हो गई, लेकिन भाडे के लिए नकद पैसो की जरूरत बढ गई। सिनेमा तो मार्गाव मे, जो साल्सीत का प्रधान नगर और संपूर्ण गोआ मे दूसरा बड़ा शहर है, 1932 मे जाकर स्थापित हुआ; और बंबई या लिस्बन से पहुंचने वाले फैशन यहा बहुत कम लोगों के पास है।

जनता की विषमजातीयता अर्थात पचमेल आबादी

गहरी दृष्टि से देखा जाए तो गोआ में एकरूपता की जाहिरा यवनिका के पीछे वस्तुतः भारी अनेकरूपता दिखाई देती है। कोंकड भाषा या बोली तक एकरूप नही है (मोटर परिवहन और युद्ध के चलते बोलियों का सम्मिश्रण इधर भले ज्यादा हो गया है, लेकिन 1925 मे यह हाल था कि किसी कोंकणी भाषी व्यक्ति की जबान से उसके मूलस्थान का उसके पाच मील के दायरे के अंदर निर्धारण कर सकना किसी सधे कान के लिए आसान काम था। रीति-रिवाज मे तो और भी विभिन्नता है। आधी मे कुछ

ही अधिक आबादी अभी तक हिंदू है, करीब 7000 मुसलमान हैं और बाकी क्रिस्तान (कैथलिक)। हिंदुओं का रुझान ब्रिटिश भारत की ओर है, क्योंकि वृत्ति के मामले मे (चंद लोगों का छोड़कर, जो स्थानीय रूप से नियोजित है) वे बबई पर आश्रित है और धर्म के सबध मे बनारस या ऐसे किसी तीर्थस्थान पर, कैथलिक (क्रिस्तान) लोग स्वभावत लिस्बन और रोम का मुह जोहते है, हालाकि व्यवहारत, खासकर आज के युग मे, निकटता और सुविधा के ख्याल से लोग प्राय बंबई ही पधारते है। हिंदुओ मे, बरहाल, रूढियो (रीति-रिवाजों) की जड बडी मजबूत होती है, बहुत मुश्किल से उखड पाती है। यही कारण है कि धर्म-परिवर्तन करके ईसाई बन जाने पर भी तरह-तरह के निषेधो और अंधविश्वासो ने उनका पिंड नही छोडा, नए ईसाइयो मे भी ये दूषण सक्रमित हो गए है अथवा बने रह गए हैं और बदले में उन्होने कुछ निषेध और अंधविश्वास हिंदुओं को दे दिए हैं। चूकि अधिकाश प्रमुख गिरजाघर उन जगहो मे निर्मित हैं जहा पहले मदिर थे, इसलिए, देवियो और कुमारी मारिया की प्रतिमाओ को बिना भेदभाव के भक्तिपूर्ण भेट चढाना हताश लोगो, खासकर महिलाओ, के लिए कोई असाधारण बात नही है। किंतु, बावजूद इस पारस्परिक प्रभाव के, इस बात का पता लगा लेना कि प्राचीनतर परपरा क्या थी उतना कठिन नही है जितना प्रतीत होता है। कोकणी भाषा मे प्रयोग भेद सिर्फ स्थानभेद से ही नही बल्कि वृत्तिभेद, वर्ग-भेद, लिंगभेद और शिक्षाभेद से भी पाया जाता है। इसी तरह परिधान, तौर-तरीको, विश्वासों, परंपराओ, आहार, आवासन, और जीवन के दृष्टिकोण मे भी अतर है। सबसे पुराने हिंदू घराने पितृसत्तात्मक नही है, लेकिन उनकी रहन-सहन पर, अभी तक, पुरानी जीवनशैली की कुछ ऐसी छाप है कि किसी सावधान विश्लेषक को यह मजे मे स्पष्ट हो जाता है कि पितृसत्तात्मक गृहस्थी का स्वरूप क्या रहा होगा। जिसका पालन-पोषण विशाल कच्ची ईंट के ऐसे मकान मे हुआ हो, जहा प्रतिदिन 150 व्यक्तियों को भोजन खिलाया जाता हो, जहा सेवकगण न तो मजदूरी पर रखे जा सकें न बरखास्त ही किए जा सकें, जहा मुस्लिम हरम की पर्दानशीनी तो नही किंतु पुरुषों से पृथक, महिलाओ की अपनी अलग दुनिया हो, और जहा आतिथ्य इस पराकाष्ठा को पहुचा हुआ हो कि भूले-भटके कोई अतिथि आ जाए तो आतिथेय (सरकारी गृहस्थ) स्वय भूखे रहकर भी उसे भोजन कराए, उस व्यक्ति को कल्पना की उतनी ऊची उडान भरने की जरूरत नही, जितनी उस व्यक्ति की जिसे केवल ग्रथो के सहारे प्राचीन इतिहास को पुनर्निर्मित करना है। पैतृक-वश परंपरा मे प्रथम बालक होने के कारण अपने पितामह की मृत्यु के पश्चात, उनकी आत्मा मुझे स्वत विरासत मे मिल गई, उपनाम भी मिल गया, बारहवे दिन तो वस्तुत. उनका नाम मुझे दे दिया गया, और आत्मा का यह देहातरण इतना यथार्थ था कि अपनी विधवा दादी का प्यारा पोता होते हुए भी मुझे मेरी दादी बातचीत मे सीधे मेरे नाम से नही बल्कि प्रकारातर से सबोधित करने लगी, जो कि कुलीन वर्ग की किसी भी सती-साध्वी के लिए आवश्यक है। किंतु, मेरे पितामह कट्टर आचारी थे कि अपने बहुतेरे ईसाई मित्रों मे से किसी के

साथ वार्तालाप भी कर लेते तो उसके बाद घर जाकर अवश्य ही विधिपूर्वक स्नान करके पवित्र हो लेते। अपने बचपन मे वे अपने वृद्ध माता-पिता के साथ अपनी जगह छोड़कर सैनकोल के उजाड़ क्षेत्र मे जा बसे थे (किसी अज्ञात महामारी से, शायद 1785 के आसपास फैले प्लेग के चलते (तुल० एक्स० 2 370), सैनकोल पुन. जगल मे परिवर्तित हो गया था (एक्स० 2.385-6)। उस समय वे एक गामा के लिए, जिस ने उस उजाड क्षेत्र को नौ वर्ष के पट्टे पर ले लिया था, और एक दूर के रिश्तेदार नाइक के लिए, जिसने मजदूर जुटा देने का करार किया था, पुरोगामी (पायनियर) के रूप मे काम करते हुए अपनी तकदीर की तलाश मे थे। यह इस परिवार की परंपरा में दूसरा (और अगर नवीं या चौथी शताब्दी मे विहार से स्थानांतरगमन की बात सही हो तो तीसरा) प्रवास था इसके पूर्व इस परिवार ने 16 वी सदी मे प्रवास किया था जबकि इसे निकटवर्ती लूतुलिम ग्राम से बाहर निकाल दिया गया था, जिसके बाद यह उन इलाकों का जमींदार बन बैठा जो बाद मे नए विजित क्षेत्र बन गए। किंतु ये अर्जित जमीदारिया मेरे प्रपितामह की अयोग्यता के चलते हाथ से जाती रही। दूसरी बार के प्रवास मे इस परिवार का अनुसरण दो दासो ने किया जो खेतों मे कमाते थे और अपनी कमाई अपने परिवार को सौप देते थे, हालांकि अमरीका के के समान यहा कोई सगठित दास-मडी नही थी, दासता कोई मान्यता प्राप्त प्रथा नही थी, और दास लोग जो इस दुर्दशाग्रस्त जमीदार-परिवार के कब्जे मे पड़े हुए थे उस का कारण परंपरा के सिवा और कुछ नही था।

सामंत काल

गोआ मे, और जाहिरा तौर पर शेष भारत मे जो सामंतशाही देखने मे आती है वह मुस्लिम काल की चीज है जो अभी तक बनी हुई है। किंतु पुराने विजित-क्षेत्रों में इस का अस्तित्व नहीं है, कारण, वहा मुस्लिम-काल केवल युसुफ आदिलशाह (1482 ई०) से अलबुकर्क की अंतिम विजय (1511) तक कायम रहा। इसी शुभ सयोग का परिणाम है कि पुराने विजित क्षेत्रो में सामुदायिक भू-व्यवस्था बची रह गई, जो लागू तो नए विजित-क्षेत्रो मे भी रही, लेकिन सामंतशाही से अतिव्याप्त हो गई। पहले मुसलमानो को पश्चिमी तट पर एक मूल्यवान वाणिज्यस्थल की प्राप्ति ही वाछित थी, लेकिन अपने अतिम चरण में (1310) में एक अल्पकालिक धावा मलिक काफूर का हुआ, और इससे कुछ ज्यादा टिकाऊ जीत हसन गंगू बहमनी ने 1348 के पहले हासिल की, जो मध्यवर्ती अवधि मे अत.-प्रवेश के प्रमाण हैं, (तुल० एम$_3$) वे जमकर इस प्रदेश का शोषण करने लगे। 11वी सदी के मध्य तक, जबकि जयकेशी 1 (एम, पृ० 167-216) के अधीन मुसलमान लोग गोआ बदरगाह के शासक बन बैठे और पत्तन-पावनो की एक नियमित सारणी प्रारूपित कर ली गई, अरब देशों में व्यापार के संबंध मे तथा मक्का जाने वाले दक्षिण भारतीय मुसलमान तीर्थयात्रियों के पोतारोहण-पत्तन के रूप मे खास गोआ वास्तव मे बडा महत्त्वपूर्ण बन चुका था। उक्त मध्यवर्ती

अवधि में विजयानगर के हिंदू राज्य का प्रभुत्व था, और परंपरा बताती है कि गोआ के वयोवृद्ध लोगों में आज भी जो कन्नड़ प्रभाव (मुख्यतः लिपिगत और यत्र-तत्र भाषागत) देखने में आता है उसका श्रेय उस राज्यशासन को ही है। वस्तुतः, ऐतिहासिक कालों में, गोआ में सदैव मिली-जुली संस्कृति ही रही है, जिसका कारण है कि यह एक पर्वतरोध के परे, दो सुभिन्न भाषाओं, शायद संजातीय वर्गों के उभयनिष्ठ शीर्षस्थलों पर अवस्थित है। जान पड़ता है कि इसकी आबादी कभी भी इतनी बडी नही हो पाई कि इसका एक अपना कारगर सांस्कृतिक समूह बन सके। अनुमान है कि गोआ मे पहले-पहल जो वास्तविक भूमिकर लगा, खुशीग्रत, जो आज भी कई स्थानों मे काकिसर्वोरदो के रूप में मौजूद है, उसका श्रेय विजयानगर शासन को ही है। बीजापुर के शासकों ने, जिन्होंने गोआ को 1482 में अधिकृत कर लिया, सैनिक शासकों की नियुक्ति की, इन शासकों के सशस्त्र अमलों के भरण-पोषण के लिए गोइंवोरदो अथवा अश्व-कर के रूप में एक दूसरा कर लगाया गया। ज्ञात रूप से यही वह जमाना है जिसमे समुदायो ने आपस मे सशस्त्र संघर्ष करने की ठानी, हालांकि कमजोर समुदाय के क्षेत्र पर अधिक्रमण तो, जब कभी लाभकर प्रतीत हुआ, लगभग हमेशा होता रहा, मेरे अपने गाव सैनकोल को ही लीजिए। जिन दिनों यहां की आवादी साल्सेत भर मे सबसे अधिक थी, उक्त रीति से प्रसार करके ही इसने अपनी शक्ल शंखनुमा बना ली है और अपने क्षेत्र का वृहत विस्तार कर लिया। मुसलमानों के अधीन सैनिक शासकगण, सिवा एक मुख्य दुर्ग सेना के प्रधान के, स्थानीय लोग ही हुआ करते थे, वे देसाई कहलाते थे और अपने निरंकुश आचार के चलते घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे, क्योंकि वे यहा तक क्रूरता बरतते थे कि अपनी गृहस्थी के काम में अपने पूर्ववर्ती समकक्षों को नौकर-चाकर की तरह खटाते थे, और सामुदायिक भूमि को निजी संपत्ति अन्यथा जागीरी जायदाद समझते थे। यह इसी घृणा का परिणाम था कि स्थानीय जनता ने पुर्तगालियों का स्वागत किया, जिन्होंने गोआ को जीत लेने के तुरंत बाद यह गारंटी दे दी कि जितने भी पुराने स्थानीय रिवाज हैं, सब पूर्ववत कायम रखे जाएंगे, और तभी से ईसाइयों का सिलसिला समाप्त हो गया। यहा यह उल्लेखनीय है कि जहा कहीं मुस्लिम विजेताओं का प्रभुत्व ज्यादा दिन तक बना रहा, वहां यूरोपीय विजेताओं ने कहीं अधिक सुविधाजनक तरीका यह समझा कि जो जागीरदार आत्मसमर्पण कर दें उन्हें उनकी जमीनों का अधिकारवान मालिक मान लिया जाए, और इसी तरह नए-नए जमींदार बना दिए जाए, ताकि कर वसूलने मे आसानी हो। वस्तुतः जायदाद, अधिकांश मामलों मे, धारक की निजी संपत्ति हो गई, जागीरी हक हद से हद अहार्यता के रूप में बचा रह गया, किंतु बंधक की व्यवस्था ने इस पर भी आमतौर से काबू पा लिया। पुर्तगालियों को यह संपत्ति लौटाने के संबंध मे, समुदायो तथा उनके संस्थापकों, गानवरे लोगो, के अधिकारो को 1526 के फोरल मे अर्थात वित्तमंत्री अफांचो मैंवियस द्वारा जारी किए गए एक दस्तावेज में (सारांश के लिए एस्म० 1.206-7 द्रष्टव्य) स्पष्टतया मान्यता प्रदान की गई। समुदाय को राज्य के

प्रति उत्तरदायी एक निगम इकाई के रूप मे माना गया, और करों के संबंध मे, जो सबके-सब कायम रहे, किसी रीति-रिवाज को उलट-पुलट करने की मनाही हो गई। किंतु यह संतोषजनक स्थिति बहुत कम दिन रह पाई, क्योंकि यद्यपि इल्हास (द्वीप-समूह) का जिला एक ऐसी समुद्री शक्ति के लिए, जिसका औपनिवेशिक साम्राज्य चीन से अफ्रीका तक फैला हुआ था, एक आदर्श अड्डा था, तो भी, तत्संबंधी अभियानो के साथ आए धर्मप्रचारकों की दृष्टि मे वहा ईसाइयत का प्रचार काफी तेजी से नही हो पाया था। इनमे सबसे घृणित समझे जाते थे ज्युइट (कैथलिक संप्रदाय के ईसाई) लोग, हालाकि और पहले उन्होंने कुछ तारीफ के काम भी किए थे, जैसे, पहले-पहल काजू के पेड और अनन्नास के पौधे लगाए, आलू उपजाने का उपक्रम किया (निश्चय ही यह गोआ की कोई मुख्य उपज नही है), और सबसे उम्दा काम तो यह कि स्थानीय किस्मों के मेल से कलमी आम की बागबानी शुरू की। 1566 मे (एक्स० 2.262-265) वाइसराय की एक डिक्री द्वारा नए मंदिरों का निर्माण, साथ ही पुराने मंदिरों का सरक्षण भी, मना हो गया, और तब शुरू हुआ प्रवासन, लोग गोआ से उखड़कर बाहर जा बसे, उन्ही के साथ स्थानीय देवतागण और कभी-कभी गाव के नाम भी स्थानांतरित हो गए, ये नाम उन बस्तियो को दिए गए जो बाद मे सामूहिक रूप से नए विजित क्षेत्र कहलाए। 1157 मे, जो फोर्ति कहलाने वाले दियोगो रोद्रिगीज नामक एक व्यक्ति ने लूतुलिम के मुख्य मंदिर मे आग लगा दी, कारण उस मंदिर की मरम्मत उक्त डिक्री की अवज्ञा करते हुए की गई थी, और जब उस कप्तान को दंडादेश हुआ कि उस मंदिर का पुनर्निर्माण अपने खर्च से कर दे, तब कैथलिक पादरियों तथा आर्चबिशप ने वाइसराय के यहा अपील कर दी, जिसका नतीजा हुआ कि उस कप्तान को प्राधिकार प्राप्त हो गया कि जितने भी मंदिर ध्वस्त कर सके, कर दे, और वस्तुत: उसने 280 मंदिर[8] नष्ट कर दिए। इल्हास के मंदिर 1540 मे नष्ट कर दिए गए थे और उनकी जमीनें गिरजाघर के उपयोग के लिए जब्त कर ली गई थी। 1559 मे एक डिक्री द्वारा हिंदुओं के लिए किसी लोक पद का धारण निषिद्ध हो गया, लेकिन दरअसल कारगर डिक्री तो आगे 4 दिसंबर, 1567 को हुई, जिसके द्वारा हिंदू संस्कार विधियों के अनुसार विवाह, शवदाह और उपनयन संपन्न करने की मनाही हो गई। इसका वास्तविक प्रभाव पट्टेदारी पर पड़ा, क्योंकि उस तारीख से, विधि-सगति साबित किए बिना, पट्टेदारी को उत्तराधिकार मे पाना असंभव हो गया, जिसका मतलब यह हुआ कि विवाह को ईसाई संस्कार-विधियों के अनुसार गिरजाघर में संपन्न करना आवश्यक हो गया। इसके चलते उच्चवर्ण हिंदू व्यापक रूप से उत्प्रवास करने लगे, और परंपरा यह चल पडी कि भूमि के लिए, एक बड़े अविभक्त कुटुंब का एक भाई अपनी पत्नी और बच्चो के साथ ईसाई बन जाने को वही रह जाता, बाकी सब भाग खड़े होते। नतीजा हुआ कि वह सिलसिला ही टूट गया जिसमें परिवार का स्वरूप अंततः पितृसत्तात्मक हो पाता। किंतु, इसका एक अपूर्व गौण परिणाम यह हुआ कि उस समय के बाद मे गोआ मे ब्राह्मण ईसाई और निम्नवर्ण

ईसाई होने लगे। ईसाई धर्म मे जाति-भेद तो है नही, फिर भी, यह विचित्र परिणाम इस कारण से प्राप्त हुआ कि जो हिंदू वर्ग ईसाई बन गए उनके पेशे तो प्रधानतः वही बने रहे, और संस्कार भी सारत: वही भेदभाव वाले, जो हिंदू-जाति व्यवस्था के थे। इस संबंध में कैथलिक धर्मसंघ ने गलती यह की कि अत्यधिक भूमि अर्जित कर ली, जिसके लिए उन्हें आगे बेतरह भुगतना पड गया, क्योंकि 18वीं सदी मे जब एक विस्तारवादी नीति के चलते असन्न क्षेत्रों के हिंदू शासकों को तुष्ट करना आवश्यक हो गया, तब कैथलिकों का लगभग सत्यानाश ही हो गया। यहा हमे पुर्तगालियों की धार्मिक नीति से कोई मतलब नही, न उनके उस कोप से, जो उनके मुसलमान शत्रुओं के बदले हिंदुओं पर बरस पड़ा, जो उनके मित्र बने रहे थे और अब रिआया थे; हमें सरोकार है उस सांप्रदायिक व्यवस्था से जो कुछ भू-संपत्ति विषयक स्वामित्व के संबंध में गावों में बनी रह गई।

कर की वृद्धि

अगर धर्म का मामला धर्म गंधों पर ही छोड दिया गया होता तो संभव था कि वे समझौते के लिए कुछ न कुछ तरीके निकाल लेते, बहरहाल, समझौता तो आगे चलकर हुआ ही, जैसा कि आजकल बाकी आबादी से हिंदुओं की संख्या कुछ ज्यादा होने से जाहिर है। कुछ समय तक, विशेष धर्मसंघ, जैसे, थियेटिक और आरेटोरियन लोगों के संघ, ब्राह्मण ईसाइयों के लिए आरक्षित रहे, जो स्वयं धर्मप्रचारक बनकर नए ईसाई बनाते रहे। इन ब्राह्मण आरेटोरियनों मे एक जोजे वाज (जी· सी०, 49), जो दीर्घ-काल तक संत घोषित किए जाने की प्रत्याशा मे रहे, का मूल गृह सैनकोल मे अभी तक खडा है, हालांकि वहा का लोक समुदाय तो कब का उजड चुका। लेकिन, राज्य ने अाप अपने तकाजे समुदायो पर लादना शुरू कर दिया। 1595 मे 'तोंबो जेरल' के साथ नए करों की शुरुआत हो गई। प्रथम प्रभार के रूप मे धार्मिक कर लगा (एक्स० 207-223), और जब तक गोआ एक समृद्ध साम्राज्य का व्यापार केंद्र बना रहा, शेष सामान्य कर वे ही रहे जो पुर्तगाली पूर्व काल मे लागू थे। लेकिन विशेष मांगें तो बराबर ही की जाती रही, जो प्राय. कतिपय सैनिको के पोषणार्थ हुआ करती थी, प्रत्यक्ष रूप से ही रक्षा के लिए, मगर साम्राज्यवादी तरीके से, पराजितों को अपनी पराधीनता का दंड भुगतने के लिए (एक्स० 1.238-242)। कभी-कभी, सामुदायिक जमीनों को बलपूर्वक पट्टे पर दे दिया जाता था। (एक्स० 1 247-251)। गिरजाघर के लिए दशांश कर (चर्च 'टाइद') लगाए गए, और इसके बाद अर्थ दशांशकर, जो स्थाई भी बना दिए गए। चूंकि पुर्तगाल का व्यापार मंदा पड गया और आइबीरिया प्रायद्वीप में इसकी अपनी स्थिति स्पेन के मातहत हो गई, इसलिए गोआ मे करो मे वृद्धि कर दी गई, प्रशासन व्यय का भार स्थानीय जनता पर अधिकाधिक लादा जाने लगा। उद्-गृहीत करों से, जिनके प्रयोजन पूरे नही किए गए अथवा जो व्ययगत हो गए, मुक्ति के लिए अर्जिया बार-बार पडने लगी। (एक्स उपलब्ध स्रोत लेखा)। 1733 में (एक्स०

1.267-273) जब साल्सीत की सामान्य सभा (कैमरा जेरल) को नित्यवत और भी करों के लिए जिम्मेदार बनाया गया, अर्थात 1000 सैनिकों के भरण-पोषण के लिए एक और उगाही करने को कहा गया, तब उक्त सभा ने उसका विरोध किया। 1740 में वार्देज के कैमरा जेरल ने यह साबित कर दिया कि उन्हें भोंसला राजाओं को 50,000 जेराफिन मुक्ति धन(फिरौती)[9] के रूप में देना पड़ा था (एक्स 1.279), लेकिन, जान पड़ता है कि इस भुगतान की प्रतिपूर्ति इस जिले को कभी नहीं की गई, यहा वालों को शुद्ध इनाम बस यही मिला कि तीन कंपनी सैनिको को रखने के लिए, जिनका अस्तित्व कभी था ही नही, दिसंबर 1753 से अपने हिस्से की उगाही भुगतानी पड़ गई। जिलों को, उनके सिर थोप दिए गए, जजों के भरण-पोषण के लिए भी, भुगतान करने पड गए · 1776 में, पुराने गोग्रा शहर के पुनर्निर्माण के लिए, तीनो जिलो को कम से कम 390,000 जेराफिन चंदे मे देने पड़ गए। 1795 मे, लोक समुदायों की कुल उपज का एक तिहाई हिस्सा केंद्रीय प्राधिकार को देने का हुक्म हो गया (एक्स० 1.130-131)। इन सारी उगाहियो मे उन मामूली वसूलियों को भी जोड़ लिया जाए जो नियुक्त किए गए अधिकारियो और कर किसानों द्वारा प्रायवेट लूट-खसोट के चलते की जाती रहीं। कुछ हद तक करो से मुक्ति और कर सग्रहण का विनियमन तभी हो पाया जब 19वीं सदी आई, जब शासक देश और शासित उपनिवेश, दोनों ही पुरातन अवशेष बनकर रह गए थे।

1880 तक, मुख्य कर, अर्थात, संपत्ति दशमाश की वसूली वस्तु रूप मे होती थी जिसे राज्य को देने के लिए ठेकेदार (कर किसान) सफल बोली बुलवाकर नकद में बदल देता था। किंतु वस्तुओं के नियमित नकद भुगतानो मे संपरिवर्तन के साथ-साथ एक दूसरे अधिकारी का आविर्भाव हो गया जिसने लोक समुदाय के अधिलंघन को व्यवहारतः पूर्ण रूप से चरितार्थ कर दिया, हालांकि लोगों की (अहार्य) भूमियों का स्वामित्व सिद्धांततः अभी तक उन्ही के हाथ में है, अलबत्ता उनका यह अधिकार सदैव एक ऐसे राज्य की इच्छा के अधीन है जिसकी सरचना मे उनका अपना कोई मताधिकार कदापि नही रहा। जिले का सिविल प्रशासक यह अधिकारी ही लोकसमुदाय संबंधी सारे मामलों में असली शासक है। इसमे उसे बल मिला एक और कार्रवाई जिसने भूमि की अहार्यता किए बिना लोक समुदाय के लाभ को वस्तुतः अहार्य कर दिया। 1886 तक, सामुदायिक जमीनों मे हित के रूप अहार्य शेयरों मे संपरिवर्तित हो चुके थे, बहुत से मामलों में ऐसे शेयरों के मालिक अब ऐसे लोग हैं जो उक्त समुदाय से बहुत दूर के हैं और समुदाय के विकास मे जिनकी कोई दिलचस्पी नहीं। अंतिम कार्रवाई, जो सिर्फ एक औपचारिकता है, पिछले दशक मे की गई। अधिकांश सामुदायिक जमीनें त्रैवार्षिक पट्टे पर दे दी गईं और सामुदायिक खर्च चुकाने के बाद लगान का जो हिस्सा बच रहा वही लाभ हुआ। लेकिन भूमिधारी वर्गों में आपसी झगड़े इतने जोरो पर थे कि नीलाम की बोली मे कीमतें बेतरह ऊंची कर दी गई, और नतीजा हुआ कि खेतों को वस्तुतः जोतने-बोने वाले खेतिहर किसी भी हालत मे कोई

लाभ दर्शित न कर सके। तब, सदा सदय सरकार ने इस आशय का एक कानून बना दिया कि एतत्पश्चात जमीनों को, ब्रिटिशपर्मानेंट सेट्लमेंट (स्थाई बंदोबस्त) के ढंग पर, इस कानून के प्रवृत्त होने के पूर्व के दस वर्षों का औसत लगान बांधकर पट्टे पर दिया जाएगा, और तब, नीलाम में प्राय स्पर्धा करने वाले भूमिधारियों में से किसी बोली लगाने वाले की मध्यवर्तिता के बिना ही, पट्टा सीधे उसी व्यक्ति को मिलने लगा जो जमीन को जोतता बोता था। अतः सामुदायिक सभा का काम अब वैसे ही नहीं के बराबर है जैसे अधिकांश मामलों में मुनाफा।

समुदाय की संरचना

यहां तक हमने 15वीं सदी से हुए विकास के बारे में तो काफी विस्तार से कहा, मगर समुदाय की संरचना पर कोई खास प्रकाश नहीं डाला। गांव की जमीनों में पर्वत पार्श्ववर्ती कुछ जंगल पड़ता है और सामना पड़ता है जिधर ज्वारनदमुख अथवा समुद्र-तट है। पर्वतशिखर सामान्यतः वृक्षहीन हैं, और जो अपेक्षाकृत मृदु लैटराइट (कंकरीली भूमि) है वह प्रचंड वर्षा के प्रभाव से युगों पहले घिस चुकी है, रह गई है बस नंगी कड़ी चट्टान। इसी पर प्राचीनतम पथ का अनुचिह्न द्रष्टव्य है जो सदियों तक नंगे पैर यात्रा होते रहने से लोहे जैसी कड़ी सतह पर गहरी पद चिह्नावली (पगडंडी) बनकर मौजूद है। इस पथ से यात्रा का कारण यह है कि अधिकांश माल सिर पर ढोकर ले जाया जाता था और गिरिशिखर ही ऐसे हिस्से थे जो जंगल और कीचड़ से पर्याप्त रहित, यात्रा के अनुकूल थे। इस पथ में बस इतना सुधार अपेक्षित था कि कहीं-कहीं ढलान को सुगम बना दिया जाता और हर एक-डेढ़ मील पर सिर का बोझ उतार धरने के लिए टेक टिकान की व्यवस्था कर दी जाती, वस्तुतः ये काम किए भी गए, जिनके निशान आज भी द्रष्टव्य हैं, जबकि यह पथ प्रायः परित्यक्त हो चुका है। इससे बहुत नीचे के स्तर पर, मगर फिर भी गिरि पार्श्व में ही, परस्पर संरक्षण के लिए बस्तियों (बैरोंस) के रूप में इकट्ठे बसे हुए और सड़कों से जुड़े हुए वास्तविक निवास-गृह थे (और हैं)। ये सड़कें गत एक या दो पीढ़ी से चालू बैलगाड़ी वाले रास्तों को हाल ही विकसित करके बनाई गई हैं। घर की अवस्थिति का स्तर जल के स्तर पर निर्भर करता था, क्योंकि घरों का इतनी ऊंचाई पर होना आवश्यक था कि वर्षा की बाढ़ में उनके बह जाने का कोई खतरा न रहे, साथ ही, इतनी निचाई पर भी कि जल (जो हमेशा हाथ से ही खींचकर भरा जाता था) बिना पतालगहिर कुआं खोदे हुए ही उपलब्ध हो सके। ऐसी स्थिति में निम्नतम स्तर या तो दलदली हो सकता था या कोई खड्ड, जिसका मुख्य कार्य होता वर्षा जल को बहा ले जाना। लेकिन, चूंकि चर्चाधीन क्षेत्र में कोई मैदान नहीं हैं इसलिए कृष्य क्षेत्रांश यही भूभाग था, यही एक-मात्र ऐसा हिस्सा था जहां लोगों का मुख्य खाद्य चावल उपजाया जा सकता था। इसी का परिणाम है कि निम्न भूमियों का किनारा, जो गृह स्तर का भी किनारा है, मजबूत तटबंध देकर, जिनमें गारारहित पत्थर सफाई से जड़ दिए गए हैं, बड़ी सावधानी से

पक्का कर दिया गया है। यह पक्का निर्माण करके संपूर्ण गिरिपार्श्व को ढह् वहकर नीचे धान-खेत मे चले जाने से रोक दिया गया है। एक तटबंध से दूसरे तटबंध तक, पूरी घाटी में इतने लंबे अरसे तक खेती की गई है कि यहां भूमि उसी के स्तर वाली हो गई है, इसमें भंग केवल एक लघु सरिता से पड़ा है जिससे घाटी का मूल स्वरूप दर्शित हो जाता है। यह सरिता जल स्तर को एक समान बनाए रखती है, और इसे विनियमित (नियन्त्रित) किया जाता है छोटी-छोटी भित्तियों से, आवश्यक हुआ तो इसके मुहाने पर बड़ी-बड़ी भित्तियां निर्मित कर, और सरल ढंग के लकड़ी के वाढ़ फाटक लगाकर, जो ज्वार के समय घूमकर बंद हो जाते है और खारे जल को बाहर ही रोक रखते है, और भाटे के समय खुलकर सरिता को प्रवाहित होने देते है। सबसे छोटे वाढ़ फाटक स्वचालित है, लेकिन उनका निर्माण, देखरेख, प्रचालन, पथ अनुरक्षण, मार्ग, तटबंध, ये सबके सब सामुदायिक प्रभार है। सबसे उर्वर जमीन वह है जिसका, मृत्तिका और मृदा (चिकनी मिट्टी और मिट्टी) की विशाल भित्तियों अथवा पूरे तटों के जरिए, समुद्र से उद्धार किया गया है। इन भित्तियों का प्रबंध निजी उद्यम से किया गया हो अथवा (अतीत काल मे) समुदाय द्वारा, इन पर बराबर इस खयाल से नजर रखनी पड़ती है कि केकड़ों के बिल गढ़कर कही दरारों मे न परिणत हो जाएं कि सारा कसाना प्लावित होकर तहस-नहस हो जाए। इसलिए, इन जमीनों की पट्टा धृति और अभिधृति (रैयतदारी, सामान्यतः नौ वर्षो के लिए होती है, जबकि दूसरी जमीनें और वाणिज्यिक मरम्मत के काम समुदाय के सदस्यों, सामान्यतः गानचरे लोगों के बीच, नीलाम (अरेंमतचाओ) के जरिए, एक या अनेक (सामान्यतः तीन) वर्षों के लिए पट्टे पर दे दिए जाते थे। संप्रति निम्नतम भूमि और पर्वतशिखर (अधिक्रमणों के बावजूद) सामान्यतः समुदाय के हाथ मे है और मध्य स्तर निजी कब्जे में।

किंतु, यहां समुदाय का अभिप्राय पूरी आबादी न होकर उसका एक छोटा सा हिस्सा भर है जिसमे व्यवस्थापकों अथवा गानचरे लोगों के गिने-चुने स्वल्पतंत्री परिवार शामिल है। कुछ अपवादों, जैसे पूना मे पेशवा के दरबार मे पुर्तगालियों का प्रतिनिधित्व करने वाला दुमे परिवार, अदोसिम के भाडारे, उस्काइ के गैतोंडे, के अतिरिक्त इन गानचरे लोगों को ईसाई बन जाना पडता था, और यह सिलसिला 16वीं सदी से लेकर तब तक जारी रहा जब तक मार्क्विस द पाम्बल नही आया, जिसने लगभग 1761 में ईसाइयों के अनन्य अधिकारों को समाप्त कर दिया। अतः नए विजित क्षेत्रों मे हम सामंती स्वामित्व मे न पडने वाले समुदायों के हिंदू गानचरे लोगों के साथ, सामंती जमीदारों को पाते हैं। पुराने जमाने में नकदी करों का, और वास्तव में किसी भी प्रकार के भारी करों का, अस्तित्व था ही नही, अतः सामुदायिक खेती लाभप्रद होती थी, किंतु जमीन के नीलाम मे होड़ नही के बराबर होती थी, क्योंकि आंतरिक झगड़े उन दिनों उस हद को नहीं पहुंच पाए थे जिस हद को वे निरंतर आर्थिक दबाव वाले आधुनिक काल मे पहुंच गए हैं। यह समुदाय निम्नतलस्थ धान खेतों के अतिरिक्त कभी-कभी उच्चतलस्थ नमे शैल भी पट्टे पर दे दिया करता था, मिट्टी की पतली

परत होने और थोड़ा समतलन हो जाने से पट्टाधारी वहा बरसात में धान की एक फसल उगा सकता था। इससे अपेक्षाकृत कम आय उन जमीनों से होती थी जो सीमित लगान स्कीम के अधीन स्थाई बागान लगाने के लिए पट्टे पर दे दी जाती थीं। इसके द्वारा किसी धारक को किसी बागान के पट्टाधृति हक की गारंटी मिल जाती थी ताकि वह उसे अपने खर्च से संवर्धित करे। सामान्यत: यहा नारियल ही रोपे जाते थे जो प्राचीनतम काल मे भी प्रधान निर्यात फसल थे। बहुत हद तक ये बागानी जमीनें घाटी स्थित धानखेतों के आरपार सेतुओं के रूप में अवस्थित हैं जो दो आमने-सामने के गिरिपार्श्वों को जोडते हैं और जिनमें नारियल की दो या द्वयधिक कतारें लगी हुई हैं; प्राय इनकी ऐसी अवस्थिति उसी प्रकार शुद्ध अतिक्रमण का परिणाम थी जिस प्रकार बहुत सारी गिरिपार्श्व भूमि का निजी स्वामित्व मे चला जाना।

सामुदायिक नाई, दरबान, मंदिर (या गिरजाघर) इत्यादि संबंधी सामुदायिक सेवाओं के खर्चों की पूर्ति करने के बाद जो लाभ-राशि बच रहती थी वह गानचरे लोगों मे, जो वास्तविक अंशधारी थे, बांट दी जाती थी। इस प्रकार बंटनेवाले लाभ अंशो को आधुनिक अंतरणीय अंशों मे संपरिवर्तित कर दिया गया, यह भी एक मुख्य कारण था जिससे समुदाय विनष्ट हो गया। प्राचीन रीति प्रतीकात्मक थी, गानचरे लोग अपने अंश प्रतीक रूप मे धारण करते थे, सामान्यत: ये प्रतीक टकसाली सिक्के (ताग) हुआ करते थे जिनसे एक-एक अंश (शेयर) द्योतित होता था। उस रूप मे लाभ का विभाजन दो या तीन तरीकों से होता था। शुद्ध लाभ पर प्रथम भार जोनो का होता था। जोनो नाम था व्यक्तिगत अंश का, जिसके दो प्रकार थे : एक तो गानचर परिवारों के प्रति पुरुष पीछे एक बंधी रकम के रूप में, जैसा कि अदोस्सिम या उस्कड में प्रचलित था, और दूसरा, ऐसा अंश जो स्वयं तो प्रविभाज्य है किंतु परिवारों के समूह पर बाधा गया है, उदाहरणार्थ खोलगोर मे। यहा यह बता दूं कि सामुदायिक सभाओं में ऐसे समूह का प्रतिनिधित्व उसका प्रधान (अर्थात मुखिया) करता था और सामुदायिक उपक्रमों मे एक समूह एक ही मत देने का अधिकारी था, हालाकि जोनों पाने के हकदार हरेक गानचर को अधिकार था कि चाहे तो ऐसे अवसर पर उपस्थित हो और अपने विचार व्यक्त करे। मतदान सामान्यत: सभा अभिप्राय से निर्णीत होता था न कि सीधी मतगणना से, जोकि पूंजीवादी युग की लोकतंत्रीय संस्थाओं की विशेषता है। जोनीरो लोग लाभ के हकदार तो थे किंतु जोनो भर के ही, न कि संपूर्ण लाभ के, लेकिन, उन्हें यह सुविधा प्राप्त थी कि वे कोई हानि सहने को बाध्य नही थे, हानिया तो अब वहन करनी पड़ती है अहार्य अक्को के धारकों को कि जिस अक्को के रूप में हर तरह के मूलत: सुभिन्न अंशो (शेयरों) को अंधाधुंध संपरिवर्तित कर दिया गया है (सिवाय अहार्य जोनों के, जो आज भी कायम हैं)। चूंकि प्राचीन काल मे मुनाफा उतने से अधिक हो जाया करता था जितना जोनो के लिए अपेक्षित था, इसलिए, उसे व्यक्तिगत आवश्यकताओं तथा उद्यम के अनुसार प्रभाजित कर दिया जाता था। यह प्रत्येक भू-धारक को उक्त ताग के रूप में दिया

जाता था और उतनी जमीन के हिसाब से मिलता था जितनी यह नारियल अथवा अन्य नकदी फसल उगाने के लिए स्वय जोतता-बोता था। भूमि के अन्तरण के साथ यह मिला हुआ लाभ-अश भी अंतरित हो जाया करता था। किंतु ऐसी प्राप्ति का मतलब था खराब साल में, अनुपातिक अशो के अनुसार, हानि मे भी हिस्सा बंटाना।

लाभ विभाजन का यह अनोखा ढंग, जो इतने सुस्पष्ट और अभिज्ञेय रूप में, आज भारत में और कही नही है, समय-समय पर विस्तारित किया जा सकता था और किया गया भी। सत्रहवी सदी मे, या उससे पहले भी, जब भारी कर लागू हुए, भू-धारको के एक और वर्ग को इस सपदा के ढग की चीज मे हिस्सेदार बना लिया गया। किंतु इन इतरेस्सदो लोगो को न तो कोई जोनो प्राप्त था और न सभा मे मतदान का अधिकार। अधिकाश नए विजित क्षेत्रों में इंतरेस्दो लोगों का न होना इस बात का सबूत माना जाता है कि उनका आविर्भाव बाद की घटना है। लेकिन, परपरा यह है कि ये लोग बिलकुल शुरू से ही मौजूद हैं, उसी समय से जब पहली बस्ती बसी। जगह तो बसाई गानचरे लोगो ने, लेकिन वे लोग अपेक्षित समस्त श्रमिको की व्यवस्था सभवतः नही कर सके, अत श्रमिक परिवारों को हितवद्ध करना पड़ ही गया। इस मतलब से अंतिम लाभ (कोई जोनो रहा तो उतनी राशि की कटौती के बाद) तीन हिस्सो मे बाट दिया जाता था, एक हिस्सा तो गानचरे लोगो को अपनी जोत के मुताबिक मिल जाता था, और बाकी दो-तिहाई हिस्से को प्रत्येक समूह के श्रमिको के अनुपात में मूलतः नियत, और संख्या मे कमी-बेशी होने पर पारस्परिक सम्मति के समय-समय पर पुनरीक्षित अंशों (शेयरों) के अनुसार श्रमिक परिवारो मे बांट दिया जाता था। किंतु श्रमिकों को मतदान का अधिकार प्राप्त नही था, हालांकि उक्त दोनों पद्धतियों मे यह व्यवस्था तो है कि उन्हे अपने श्रम के लिए या तो नकद भुगतान किया जाएगा या, जैसा कि आमतौर पर खूब प्रचलित है अंतिम उपज मे हिस्सा बाट दिया जाएगा। मेरा विचार है कि दोनो प्रकार के इंतरेस्सदो ऐतिहासिक दृष्टि से सही और प्रमाण पुष्ट है, और यह कि बसने-बसाने में जहा जैसी कठिनाई हुई, तदनुसार भिन्न-भिन्न स्थानों में उनके भिन्न-भिन्न प्रकार हो गए।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

इन सभी परिवर्तनों की पृष्ठभूमि मे हम जिस समुदाय को देख सकते हैं वह वस्तुतः वर्तमान समुदाय से सर्वथा भिन्न था। विशेष बात यह है कि भूधृति का पुराना रूप और नही तो नाम मे ही सही, कायम रह गया है। साफ जाहिर है कि भूमि धारण का पुराना तरीका ऐसे नए बसे इलाके में ही संभव था जहा आबादी बहुत कम थी और जहां जंगल को फैलने से रोकने के लिए बराबर संघर्ष करते रहना जरूरी था। इसलिए जमीन सिर्फ बसने-बसाने वाले (गानचरे) लोगों को ही नहीं बल्कि श्रमिक परिवारों को भी, अपने-अपने निवास के प्रयोजनार्थ और कम से कम थोड़ी साग-सब्जी उगाने भर के लिए, सामुदायिक सहमति से दी जाती थी, इसके अतिरिक्त और क्या

दिया जाता था वह निर्भर करता था भू-धारक के उद्यम पर, जो चाहे तो इतना बड़ा
नारियल का बाग लगाने की जोखिम मोल ले कि निर्यात की गुंजाइश हो जाए।
मतलब यह कि बिलकुल शुरू के प्रक्रम मे काफी बडी लागत पड़ जाती थी, और भूमि
कोई पूजी परिसंपत्ति न होकर कर्मशक्ति की परीक्षा बन जाती थी। उपलब्ध साक्ष्य के
आधार पर अब हम जिस प्रश्न का समाधान करने का प्रयत्न करेंगे वह यह है कि यह
अपने ढग का प्राय: अकेला और अगुआ उद्यम उद्भूत कब हुआ।

पुरातत्वज्ञो से हमे विश्वसनीय साक्ष्य बहुत कम ही उपलब्ध हो सकता है,
सिर्फ इसी वजह से नही कि गोआ के पुरातत्व का अनुशीलन अव्यावसायिक लोगों के
हाथ मे है अपितु इस कारण भी कि पुर्तगाली विजय ने महत्वपूर्ण भवनों; मंदिरों को
नष्ट कर दिया। इसके अलावा, गोआ में निर्माण सामान्यत: या तो मिट्टी से होता है
या मुलायम मखरले (लैटराइट) से, जिसे किसी भी आकार और परिमाण के ढोको
मे खदान से निकाला जा सकता है, किंतु जो, कुछ ही बरसातें झेलने पर, अपरदित
होने लगता है। बच रहे रिवाजों मे, ऊपर वर्णित भू-व्यवस्था इतनी अद्भुत है कि
उसका मूलसूत्र पाने के लिए पुराकाल की इतिहास गुफा मे प्रवेश करना ही होगा,
क्योंकि मात्र उसके वर्तमान स्वरूप के विवेचन से हम उसे स्पष्ट कर ही नही सकते।
पहरावे और दूसरे-दूसरे फैशन तो साफ जाहिर है कि आधुनिककाल मे ही प्रचलित
हुए हैं। इस प्रदेश की सर्वाधिक आकर्षक बात है यहा की अनुपम स्वच्छता व्यवस्था।
यह ऐसी चीज है जिसकी ओर किसी आकस्मिक आगंतुक का ध्यान हठात चला जाता
है। ऐसी व्यवस्था पुराने विजित क्षेत्रों मे भी है, 'जहा की आबादी प्रति वर्गमील एक
हजार से भी ऊपर की है, हालाकि यहा जलनिकास व्यवस्था तो क्या, आमतौर पर
पाखाने तक नही हैं। सूअर सारा मल और मासोच्छिष्ट चट कर जाते है, और प्रकृति
सतुलन इस प्रकार पुन. स्थापित हो जाता है कि लोग सूअरो को चटकर जाते है।
माना जाता है कि यह विकास परवर्ती है। मदिर अभिलेखो से कोई जानकारी हासिल
नही होती, क्योकि 16वी सदी के अंत मे उड़ान भरकर नए विजित क्षेत्रो मे जिन
प्राचीनतम मदिरो का पता लगाया गया था उन्हें उनका वर्तमान विस्तृत रूप 17वी
सदी मे या उसके बाद दिया गया, और उन्हे इस प्रकार निर्मित करने मे प्राचीन गोआ
शहर के बरोक ईसाई गिरजाघरो की सीधी नकल की गई, भले ही उनकी निर्माण
शैली भलीभाति पकड मे नही आई (हालाकि गोआ के गिरजाघरों की सामान्य शैली
बारोमिनि के जेसुइट निर्माण की शैली है)। यह बात तो समझ मे आती है, क्योकि
जिस समय अप्रवासी मंदिरो के पास उनके नवनिर्माण के लिए पर्याप्त निधि अर्जित
हो गई उस समय जो भवन वर्तमान थे उनमें सबसे शानदार प्राचीन गोआ गिरजाघर
थे जिनके ढंग के निर्माण का प्रशिक्षण पाए हुए हिंदू कामगार मौजूद थे, ताज्जुब तो
इस बात पर है कि उक्त असंगति स्थानीय ब्राह्मणो की पकड़ मे क्यो नहीं आई। मदिर
अभिलेख, जो उक्त अंतरण के बाद बच रहे होंगे, आलस्य, कीड़े-मकोडे, समय, जल-
वायु, और कभी-कभी बिना कानूनी हक के अधिक्रमपूर्वक अर्जित संपत्ति के खो जाने

का भय, इन सब कारणो से सामान्यतः नष्ट हो चुके है। पारिवारिक अभिलेखों का भी बहुत कुछ यही हाल है। लाड परिवार को पूना मे पेशवाओ के एक जनरल (लखबादादा लाड) ने 18वी सदी मे सपत्ति और प्रतिष्ठा प्रदान की थी, इस परिवार के अंतिम अभिलेख या तो दीमकें चटकर गई या जब मैं बच्चा था, अस्थाई सभा भवनों को छाने के काम आ गए, स्वयं इस परिवार का अपना मकान चिकलिम मे विशाल भग्नावशेष के रूप में फैला पडा है। इस ढंग की खोज से अधिक से अधिक यही उम्मीद की जा सकती है कि कही कोई ताम्रपट्ट मिल जाए, जिस पर किसी प्राचीन भूमिदान का लेख अंकित हो, किंतु, इस तरह के जिन ताम्रपट्टों का पता चला है उनसे समुदाय सगठन के बारे में कोई जानकारी हासिल नही होती।

मेरी दृष्टि मे समस्त वर्तमान साक्ष्य से यही निर्देशित होता है कि प्राचीन काल मे ब्राह्मण लोग हजार मील से भी अधिक दूर गगा के मैदान मे चल कर यहां आए और समुदायो मे बस गए, और लाभ-विभाजन की परिपाटी निश्चय ही उनके साथ ही यहां आई। उत्तरदेशीय ब्राह्मण आज भी, और चाहे जो काम करे, हल नही पकड़ सकता। अतः ब्राह्मणो को एक बंजर भूमि को आबाद करने मे श्रमिको का सहयोग पाने के लिए उन्हें हितबद्ध करना ही पड़ा होगा। इस तरह की परंपराएं मौजूद है, और वे विवादग्रस्त हैं। सह्याद्रि खड मे, पृष्ठ 305 पर उल्लेख है कि कदम्ब राजा मयूर वर्मा (चौथी सदी) ने अपनी गद्दी की रक्षा के लिए कुछ ब्राह्मणों को आयातित किया। मोरीस (एम॰ पृष्ठ 116) ने उत्तरीवंशानुक्रम पुराणकथा का जिक्र किया है और ग्रामपद्धति जैसी कृतियो के आधार पर यह सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि स्थानीय पुरोहितो ने अपने को बरबस बदल दिया, ब्राह्मण बन बैठे, और इस प्रकार जो पर-अधिकार हड़प लिया उस पर परदा डालने के लिए ने अपने को उत्तरदेशीय ब्राह्मण वंश का बताने लगे। संभव है कुछ स्थानो मे ऐसा हुआ हो, किंतु इससे यह कहां स्पष्ट होता है कि नई भू-व्यवस्था क्यों आविर्भूत हो गई ? सच पूछिए तो, अन्य ऐसा साक्ष्य प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है जिससे यह सिद्धात खडित हो जाता है। प्रथमतः, स्थानीय गाव्डोस के ब्राह्मण पूर्व पुरोहित खोलगोर आदि स्थानो में आज भी विद्यमान हैं, उनके देवतागण जहा ब्राह्मण-संश्लेषण द्वारा आमेलित होने से रह गए वहा भूत-प्रेत के रूप में संपरिवर्तित हो गए, जो सामान्यतः देवछार के नाम से जाने जाते हैं किंतु जिन्हे नीची जाति वाले तथा गाव्डोस लोग आज भी पूजते हैं। ऐसे उत्कृष्ट गाव्डोस जाति या जन जातिस्वल्प कृषि ही सहयुक्त थी, यह थी नाच्नी की खेती, जिसमे और कुछ नही करना पडता है, बस, आग लगाकर आसानी से थोडा जंगल साफ कर लिया जाता है। कही अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि कोकड़ी भाषा, बावजूद इसके कि इसे आधुनिक काल मे पुर्तगाली ने प्रभावित किया है और इसमें अरबी-फारसी के शब्द भरे पड़े हैं (जी॰ सी 20-22), कन्नड़ भाषा से, और मराठी की एक बोली इसे अक्सर समझ लिया जाता है उससे भी, अभी तक बिलकुल सुभिन्न रूप मे वर्तमान है। वस्तुतः, संस्कृत और प्राकृत से इस भाषा का विकास (जी॰ सी॰ 17-18) उसी तरह हुआ है

जिस तरह मराठी का, तो भी यह सही है, जैसा कि मैं अपने व्यक्तित्व संप्रेक्षण के आधार पर दावे के साथ कह सकता हू, कि इस भाषा में बहुतेरे ऐसे मुहावरे मौजूद हैं जो बोलचाल की बगला और विहार की तथा उत्तरप्रदेश की भी बोलियों मे पाए जाते हैं। इससे जाहिर है कि निश्चय ही किसी जमाने मे लोग काफी बड़ी तादाद में गगा के मैदान से यहां आ बसे होंगे, क्योंकि कोंकणी मे मुहावरेदारी की ऐसी विशेषता का आविर्भाव अन्यथा असंभव है। और भी कई गौण बातें हैं जिनमे उक्त प्रवास के अनुमान की पुष्टि होती है, जैसे, गोआ के सारस्वत ब्राह्मणों मे रक्त वर्ग 'बी' का प्रबल साद्रण किंतु इन बातो की पुष्टि मे हमारे मानवविज्ञानियों ने अब तक जो नमूना-विश्लेपण प्रस्तुत किए हैं उनमे कहीं वेहतर नमूना विश्लेपण द्वारा पुष्टि अपेक्षित है।

उक्त प्रवास (स्थानांतरगमन) मयूरवर्मा (अथवा मयूरशर्मा)-के समय में वस्तुत घटित हुआ या नहीं, इस विषय मे स्थानीय रूप से प्रचलित पूजाओं के अध्ययन से परिकल्पना को ही बल मिल सकता है। दक्षिणी सारस्वत ब्राह्मणों के पांच प्रमुख देवताओं में एक है भगवान मंगेश। इनका मूल रूप था (और सोने के आवरण के भीतर आज भी है) पत्थर का शिवलिंग। हम नहीं कह सकते कि उपासना विधि मे ऐसा परिवर्तन होने का निजी भू-स्वामित्व पर क्या प्रभाव पड़ा, किंतु यह तो जाहिर ही है कि इसके चलते न तो देवता का नाम बदला गया न सामुदायिक व्यवस्था ही। सह्याद्रि खंड (पृ० 308) मे दिए गए हवाले को जो लोग सही मानते है वे मंगेश का अर्थ लगाते हैं (विहार के) 'मुंगेर का देवता'। गोआ में किसी जमाने मे निश्चय ही बौद्धमत का भी बोलवाला था, खासकर उत्तरी हिस्सो में, जिसका प्रमाण है कोलवल्ले मे मिली बुद्ध की एक सुंदर प्रतिमा, जिसे संत जेवियर कालेज, बंवई के फादर हेरस ने खोज निकाला, उसी तरह, नए विजित क्षेत्र के पर्नेम मे, एक बौद्ध मंदिर के अवशेष 'बोडको देव' के नाम से खुले मैदान मे आज भी पूजे जाते हैं, हालाकि इस देवमंदिर का भवन अवश्य ही मिट गया होगा; उस मंदिर के चलते, जो पर्नेम के प्रसिद्ध झरने के निकट अवस्थित है। असली दिलचस्प अध्ययन के विषय तो है साल्सीत के स्थानीय देवताओं के वे नाम जो 1567 की एक सूची (एक्म० 2 262-263) मे परिरक्षित हैं। 16वी सदी की समाप्ति के पूर्व हुए उत्प्रवास के पश्चात, इन देवताओ को आज भी खोज निकाला जा सकता है, उक्त सूची से मुख्यतः यही जाहिर होता है कि

5.3 स्वर्गीय एच० हैरस, एम० जे० द्वारा कोलवल्ले, वारदेजु से प्राप्त बुद्धप्रतिमा। यह मूर्ति लगभग 11वी शताब्दी की है।

देवताग्रों के नाम बाद में नही जोड़े गए है। इस दस्तावेज की वर्तनी बेहद बर्बर शैली मे है, तो भी, ब्राह्मणो के मुख्य-मुख्य देवताग्रो के नाम तो हमें इसमे मिल ही जाते हैं, जैसे, महादेव, दुर्गा, महालक्ष्मी, नरसिंह, नारायण, रामनाथ, दामोदर, गणेश, इत्यादि। किंतु इसमे कुछ ऐसे नाम भी जुडे हुए है जो इस देव वर्ग के नही हैं। प्रथमत, कंस्सुआ में जो गौतमेश्वर का मंदिर मात्र था वह बुद्ध का द्योतक हो भी सकता है ग्रौर नही भी, क्योंकि ग्रन्य गावों में उनकी ख्याति 'बोर्कोदेव' के रूप मे है। बहुत से स्थानो में ऐसी पूजाए प्रचलित थी जो निस्संदेह नाथ संप्रदाय से संबद्ध थीं (तुल० जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स, गोरखनाथ एंड द कानफाठ योगीज, कलकत्ता, 1938), जो कि शायद 12वीं सदी के लोकप्रिय ग्रधविश्वास का द्योतक था : भैरव, सिद्धनाथ नागनाथ, चद्रनाथ। फिर, कुछ ऐसे देवता भी हैं कि जब तक ग्रौर ज्यादा क्षेत्रीय शोधकार्य न किया जाए, उन्हें नाम से या उत्पत्ति उपाख्यान से पहचाना नही जा सकता : सतेरी वस्सोनजस्सो, ग्रादि। इस प्रसंग में परंपरा की भलीभाति छानबीन ग्रावश्यक है, क्योंकि मदिर गीत (जिन्हें परंपरा को सर्वोत्तम रूप से बचा रखना चाहिए था) उत्प्रवास के बहुत काल बाद दुबारा लिखे गए हैं, (उदाहरणार्थ) पोंडा समीपवर्ती शान्तादुर्गा के गीतों में पूरी पंक्ति की पंक्ति हिंदुस्तानी मे लिखी मिलती है, जैसे, ग्रालिम दुनिया तू माता हमारी, ग्रौर इसे हम पुरानी विरासत मे मिली मानने की गलती नही कर सकते। इस तरह के ग्रायात तो बहुत मामूली बात हैं, शातादुर्गा के मंदिर मे एक पानी टंकी है जिसकी वेदिका दो चीनी पासिलेनसिंहों से ग्रलंकृत है। ये ग्रभिनव उपहार एक देवनर्तकी (मंदिर मे नाचनेवाली) ने दिए हैं, जो बंबई में गौण रूप से वेश्यावृत्ति करती थी। ये चीनी मिट्टी के शेर उसे भेंट मे मिले थे। प्रमुख उत्सवो में देवता की ग्रर्चना के लिए उसे नियतकालिक रूप से ग्राना तो होता ही था (क्योंकि ग्रन्यथा ऐसे देवार्चन के ग्रानुवशिक ग्रधिकार से वह वंचित हो जाती), ग्रत ऐसे ही एक ग्रवसर पर ये उपहार उसने उक्त मदिर को दे दिए।

किंतु, इन सभी देवताग्रो को, जो हिंदू देववर्ग के जाने-माने देवताग्रो के रूप मे पहचाने जा सकते हैं ग्रथवा बिल्कुल पहचान ही में न ग्राए, साल्सीत वाली सूची से ग्रलग छांट लेने के बाद जो थोडे से नाम बच रहते है वे स्पष्ट प्रमाण है नई ग्राबादी के। कवेत्रपल्ले-क्षेत्रपाल तो बिल्कुल परिचित नाम है, जिसका ग्रर्थ है 'खेतों का संरक्षक' ग्रौर, जहा तक मेरी जानकारी है, ग्राधुनिक काल मे इस नाम का कोई ब्राह्मणीय देवता नहीं, हालाकि यह विशेष नाम शिव के लिए कभी-कभी ग्रौर 'शेष' के लिए तो ग्रौर भी विरले, प्रयुक्त होता है, पुराने जमाने मे इसकी प्रतिष्ठा सिर्फ नई ग्राबादियों के सबंध मे की गई होगी। ग्रामपुरुष ग्रौर ग्रादिपुरुष, मेरे खयाल से, बस्तीसस्थापक की पूजा के ग्रभिव्यंजक है। बीवसवीर, बाराजेन (बारह व्यक्ति) एक्लोवीर (ग्रकेला बहादुर) या तो ऐसे सस्थापकों के नाम है या ऐतिहासिक श्रेष्ठ-जनो के, जिन्हे पूजा ग्रर्पित की गई; निस्सदेह यह पूजा ब्राह्मणों द्वारा ही ग्रौर ग्रपेक्षाकृत प्राचीन काल मे ग्रर्पित की गई थी। ऐसी पूजाएं बाद मे भी शासकीय पूजा के

रूप मे प्रतिष्ठित होती रही, लेकिन हमेशा नही। 16 वी सदी के प्रवास के पश्चात
फतोर्पा की संरक्षिका देवी ऐसी ही एक ऐतिहासिक हस्ती है, नीच देवदासी (भावीण)
और स्वत: एक वेश्या, जो पाच समुदायों के विद्रोह का नेतृत्व करती हुई मारी गई
थी, 1583 मे यह विद्रोह जब दबा दिया गया (एक्स० 2 278) तब ये समुदाय अपने
अधिकारों से वंचित हो गए। इससे भी पुरानी एक देवी है भागा, जिसे कोई शास-
कीय पूजा-प्रतिष्ठा तो प्राप्त नही है मगर गरीब लोग आज भी पूजते हैं, यह देवी
लूतुलिम के गानवर की बेटी थी, जो वनो के आदमियों को यह चेतावनी दी गई कि
पड़ौसी समुदाय तुम पर रात मे आक्रमण करने वाला है। जहा वह मारी गई थी
उसकी मौत निश्चय ही 1500 के आसपास हुई होगी) वहां उसकी स्मृति मे विशेष
रूप से एक पेड रोप दिया गया, जो आज भी पवित्र माना जाता है। तो, ऐसी संभा-
वनाओं का मुनासिब लिहाज रखते हुए भी, इसमे कोई संदेह प्रतीत नही होता कि
मूल संस्थापक की पूजा 1568 मे साल्सीत के अनेक समुदायो मे प्रचलित थी।

समुदाय के परे

पुराने विजित क्षेत्रो के समुदायो के बारे में हमारी जो जानकारी है उसका अधिकांश
उक्त अपेक्षाकृत विषम विवृति से समाप्त हो जाता है। ऐसा जान पडता है कि इन
समुदायो को आप्रवासी ब्राह्मणो ने वर्तमान युग की चौथी और 12 वी सदियों
के बीच कभी मस्थापित किया था। इस इलाके मे, प्रत्येक कोन्सेल्हो के कँमरा जेरल
के अलावा, एकल समुदाय मे वृहत्तर सगठन के अनुचिन्ह आज भी मौजूद हैं। इल्हास
का अधिकाश भाग जिस तिसुआरी मे समाविष्ट है उसका अर्थ है 'तीस बस्तियां', जो
आज भी मौजूद है। साल्सीत का पुर्तगाली जिसका अर्थ है छियासठ बस्तियां। आधु-
निक काल में इनका भी पता लगाया जा सकता है। प्रत्येक बस्ती प्रारंभत: कतिपय
नियत गोत्रो से संबद्ध थी। इनमें से मरगाव के इर्द-गिर्द जो समुदाय थे उनका 'दशक'
नामक एक केंद्रीय प्रशासन था। यह दशक आधारित था दस प्रमुख समुदायो पर,
जिनके प्रतिनिधिगण साधारण हित के विषय तय करते थे। यह संगठन संपूर्णरूप से
ब्राह्मणो का था। ज्वारनदमुखों पर अवस्थित सबसे उर्वर और घने बसे हुए साझे
ब्राह्मण गानवरे लोगों के हाथ में थे। उन साझों के खेतों से तीस गुनी से साठ गुनी
तक या और भी ज्यादा उपज हासिल होती है। समुद्रतटवर्ती साझे उनकी अपेक्षा कम-
जोर पडते है। इन्हे आबाद किया चार्डो नामक एक नीची जाति के लोगो ने, जिनमें
मे एक-एक आदमी ईसाई बन गया। मूलत: हिंदू रूप मे इनकी सही जाति क्या थी
इसका कोई पता नही है। उक्त दशक में सीधे इनका कोई प्रतिनिधित्व नही था,
और इन्हें अपनी बलुई जमीन से ही संतोष करना पड़ता था जिसमे महज छह गुनी
फसल हासिल होती थी। इन इलाकों में जातिवार ऐसे दिलचस्प विभाजन के तात्पर्य
से भी इस बात का एक और प्रमाण प्रस्तुत होता है कि किसी प्राचीन राजा ने उत्तर
के ब्राह्मणो को यहा आमंत्रित किया था, और इस प्रकार यहा एक नए रूप मे एक

नया क्षेत्र बसाया गया था। सहकारिता की भावना फैली जरूर थी, क्योंकि कर्मकार समूहों द्वारा कसाना का ग्रहण साधारणत: उक्त लाभ-विभाजन श्राधार पर ही होता है, और हमें मालूम है कि यही तरीका उन औद्योगिक संघों का भी था जो अब लुप्त हो चुके हैं (एक्स 2,410-411), खासकर मछुआ-सघ और बुनकर-संघ का।

जनुश्रुति है कि न्याय-प्रशासन स्थानीय रूप से गानचरे लोग करते थे, जिसे सुगमतर बना दिया था हिंदू विधि के पेट्रिया पाटेस्टस ने तथा वगोर समूहो मे हुए विभाजन ने। जान पड़ता है कि मृत्यु दड यथावश्यक रूप से उन बृहतर संस्थाओं द्वारा दिया जाता था जो आगे चलकर प्रत्येक जिले मे कैमरा जेरल के रूप में विकसित हुई, किंतु इस संबध मे कोई अभिलेख ज्ञात नही है। जिस अपराध मे पीडित पक्ष की सीधी हिंसा अतर्गस्त नही होती थी उसके लिए अपराधी को (देशनिकाला) दिया जाता था, साझा समुदाय प्रणाली मे न रहने पर उसकी कोई परवा भी नही की जाती थी कि वह बचा कि मरा।

इन समुदायों की एक बडी कमजोरी यह थी कि इनका कुल क्षेत्र-विस्तार वहुत कम था और रक्षा के लिए किसी सैनिक सगठन का नितात अभाव था। पुराने ढग के ब्राह्मणों द्वारा अधिकृत किसी इलाके की यह एक सहज त्रुटि है। इसके नतीजे वही होते है जो उत्तरोत्तर विजित क्षेत्रो के रूप मे जाहिर है। किंतु इस मामले मे तथा आर्थिक प्रणाली के बहुत से ब्योरो मे गोश्रा की स्थिति भारत के अन्य परिधीय देहाती क्षेत्रो से भिन्न नही है। मुख्य भेद बस यही है कि गोश्रा मे सामान्य और अहार्य ढग के भू-स्वामित्व की प्राचीन प्रणाली दीर्घ परिरक्षित है, और इस संबंध मे 16वीं सदी से लेकर आगे तक के कुछ अभिलिखित आकड़े भी मौजूद हैं।

अध्याय 5 संबंधी टिप्पणियां

इस नोट में जिन दशाओ को समकालीन कहा गया है वे 1939 ई० से पहले की स्थितियां बताती हैं। विश्वयुद्ध ने जैसे भारत उपमहादेश के अन्य भागों की तरह ही गोश्रा मे भी बहुत से ऐसे परिवर्तन ला दिए हैं जिनका अध्ययन, मुख्यत: राजनीतिक अवरोधों के चलते, सभव नहीं हो सका है।

इन नोट के लिए मेरे मुख्य-मुख्य प्रकाशित स्रोत हैं . एक्स-फिलिप नेरी जेवियर लिग्रिन ग्रास्क-वेजो हिस्टारिको डस कम्यूनिदेद्ज डस अल्दियस डस कान्सेल्होस, इल्लाह, सालसीत ए बार्देज, द्वितीय संस्करण, जोसे मेरिया द सा द्वारा पुनरीक्षित और परिवर्धित, बस्तोरा, टाइपोग्राफिया 'रंगेल'। 3 खड, 1903-1907 (प्रति श्री ए० के० प्रियालकर से उपलब्ध)। स्पष्ट है कि 1852 का प्रथम संस्करण अप्राप्य है, खेद है कि यह ग्रंथ संसार के एक ऐसे अनिरीक्षित प्रदेश मे प्रकाशित किया गया, अन्यथा यह मार्क्स और एंगेल्स के लिए उनके एशियाई समाज के अध्ययन में एक मूल्यवान सहायक दस्तावेज के रूप में अच्छा काम आया होता। दुर्भाग्यवश, सपादक ने अपने विशेषाधिकार के प्रयोग मे जोश ज्यादा, विवेक कम दिखाया है और कुछ मामलों मे तो असगत बाहरी विषय, बिना सम्यक् निदेश या परीक्षण के,भर दिया है। उदाहरणार्थ एक्स 2 385 मे, यह बताया गया है कि सबोल नामक गाव मे शखों की प्रचुरता होने के कारण उसका यह नाम रखा गया, हालांकि किसी से भी पूछिए, जो

उस जगह को भलीभांति जानता है, तो बताएगा कि शंख तो वहा एक भी कभी नही मिला। यह पूरे
का पूरा सह्याद्रि खंड (स० खं० स्कन्द पुराण के एक प्रकरण)से ले लिया गया है, प्रकाशक, जे० गर्सन
द कुन्हा, बंबई, 1877, पृ० 562, और उक्त अनुमान के मूल मे यह बात है कि संस्कृत मे शंखावली
का अर्थ शंख की आकृति भी है, (जैसी वस्तुत इस क्षेत्र की आकृति है भी) और शंखों का आवास
भी, जो अर्थ स० खं० के लेखक ने समझा है। स० खं० को अक्सर यह कहकर उपेक्षित कर दिया
जाता है कि यह बाद की और बेमतलब, जाली चीज है, इस ग्रंथ के गुणदोष विवेचन में हम प्रसंगतः
इतना और जोड सकते हैं कि (स० खं० पृ० 176 पर) सिद्धों के प्रति जो आभासित निर्देश है उससे
छंद में मात्राधिक्य दोष आ गया है और संभवत यह सिद्धेशम—सिप्तदेशम का गलत पाठ है। अत·
इस साक्ष्य रूप में प्रस्तुत करना अनुचित है। द कोंकणी लैंग्वेज एंड लिटरेचर (बंबई 1881) नामक
गर्सन द कुन्हा के मूल्यवान अनुशीलन ग्रंथ का निर्देश मैंने जी० सी० कहकर किया है। इसी तरह, जी०
एम० मोरीस कृत तीन अनुशीलन ग्रंथ हैं जिनमे गोआ का प्राचीन इतिहास लिया गया है, जो कि
अपेक्षाकृत अज्ञात है, इनके लिए मेरे संकेताक्षर हैं एम०$_1$—द कदंब कुल (बंबई 1931), एम$_2$—
टास० फिगय इंडि० हिस्ट का० 1941 में दी हुई गोआ के प्राक् कदंब इतिहास के विषय में टिप्पणियां।
एम$_3$, भारत कौमुदी (राधाकमल मुखर्जी—फेस्ट शिफ्ट), इलाहाबाद, 1945, पृ० 441-445 में
दिया हुआ कोंकण के इतिहास का एक विस्मृत अध्याय। इनके अतिरिक्त, मैंने सरकारी स्रोतों से
प्रकाशित मछियकीय सामग्री का भी सहारा लिया है जो कन्सोलिम, गोआ के सिगनर त्रिस्ताव ब्रगंच
कुन्हा के सौजन्य से मुझे प्राप्त हुई (हालांकि यह सामग्री सामान्यत· अपरिशुद्ध है)। उन्हीं को उस
कठिन परिश्रम का भी श्रेय प्राप्त है जिसके परिणामस्वरूप 1944 मे गोआ कांग्रेस कमिटी, बंबई द्वारा
'डीनेशनलाइजेशन आफ गोअन्स' नामक एक राष्ट्रवादी पुस्तिका का प्रकाशन हुआ, जिसे भारत की
ब्रिटिश सरकार ने गोआ सरकार की आपत्तियों का लिहाज करते हुए तुरंत जब्त कर लिया। गोआ
मे वाक्-स्वातन्त्र्य के अधिकार का दावा करने का जो साहस उन्होंने दिखाया उसका इनाम उन्हें मिला
आठ वर्ष के लिए निर्वासन और तत्पश्चात अकाल मृत्यु।

एक्स० के समान मैं भी, प्रकाशित स्रोतों के अतिरिक्त, सामान्यत अप्रकाशित परंपरा या अनु-
रता से उपयोग किया करता हूं। प्राय हम दोनों के प्रतिवेदन मेल खा जाते हैं, लेकिन अक्सर मैं अपने
दिए हुए विवरण को जरा ज्यादा सही पाता हूं, कारण गोआ की प्राचीन परंपरा अनिवार्यतः हिंदू और
ब्राह्मणपरंपरा है, अत संभव है कि श्रमशील फिलिप नेरी जेवियर को उसका गलत विवरण दिया
गया हो या उन्होंने ही कुछ का कुछ समझ लिया हो। सारी की सारी (जनश्रुतियां) विश्वसनीय हैं,
ऐसा मैं दृढ़तापूर्वक नहीं कह सकता, मौखिक अनुश्रुति का दोष यह है कि वह या तो
समयातीत होती है या गलत पात्र के साथ जुड़ी हुई होती है। विश्वस्त रूप से कहा जाता है
कि मेरे पितामह ने रात मे एक मणि का प्रकाश देखा था जिसे एक नागराज ने कारा पुराने समय
बाहर निकाल रखा था, हालांकि पूरी सरगर्मी से खोज के बावजूद धात तक किसी नाग के सिर मे
ऐसी कोई मणि नहीं मिली है (जिसके संबंध में परम्परागत विश्वास है कि सांप का यह अमोल प्रति-
बिंब है)। मेरे प्रपितामह के समय मे, किसी रिश्तेदार ने प्रकट एक विशाल सर्प के दर्शन का उन
कहीं एक बार देखी थी, इस तरह की अन्य कहानियां भी प्रचलित थी जिनमें सियार की याद है
जाती थी, जैसे एक विशाल कछुए की पीठ को टापू समझकर यात्रापथियों के सामने का वहां उत

पड़ता, हालांकि बृहदाकार कछुए गोआ के समुद्रतट से कुछ दूर तक नहीं पाए जाते। एक सुप्रचलित कहानी है समुद्रयात्रा करते हुए कुछ मछुओं की, जो ऐसी तूफानी लहरों के बीच से गुजर रहे थे जो दो दीर्घनारियल के पेड़ों जैसे प्रतीत होते थे, और इन्होंने देखा कि ज्यों ही वे उस सकट से पार हुए कि वे पेड़ सटकर एक हो गए, जैसन ने भिन्न, उन्होंने इसका मतलब यह समझा कि वे लोग एक दानवाकार केकड़े के चगुल से बच निकले। तो लोकवार्ता का तो यह हाल है, दूसरी ओर लोकवार्ता से पृथक, परंपरा में कुछ न कुछ सत्य तत्व सदैव गर्भित रहता है। प्राचीन गोआ मे वास्को द गामा के जीर्ण विजय तोरण के नीचे जो मूर्ति है (उस पर खुदे स्पष्ट शब्दाडबरपूर्ण लेटिन लेख के बावजूद), उसके बारे में मुझे बताया गया कि वह एक नाविक की मूर्ति है जो बहुत दूर से वहां आया और उस देश का राजा बन गया, जाहिर है कि यह एक ऐसी परंपरा है जो तथ्यों को आशातीत रूप से उजागर करती है।

1. सेन्सो द पापुलशाव दो एस्तदो द इन्दिया 1931 (प्रकाशित, नोवा गोआ, 1935): इसमें चार्ट 'सी' में बेर्देस कांविलस्स की आबादी प्रति वर्गमील 1,000 से ऊपर बताई गई है, और बार्देज मे प्रति वर्गमील अधिकतम 1,200। संतारी मे आबादी सिर्फ 105 प्रति वर्गमील है, और सत्वेम मे 64 प्रति वर्गमील, जो घने और मलेरिया ग्रस्त जंगलों मे छोटे-छोटे झोपड़ों मे सकेंद्रित है।

2. एस्तातिस्तिका द सुपरफिसी कल्तिवद द ऐराज, ई सुआ प्रोदुशाव, नो दिस्त्रितो द गोआ, धुराते ओ अनो दे 1937 (नोवा गोआ 1939, पृ० 13 मे विस्तृत आकडे इसलिए नहीं दे रहा हू कि यह सांख्यिकी बैठे बिठाए तैयार कर ली गई बेकार चीज है।

3. डीनेशनलाइजेशन आफ गोअन्स, पृ० 54। समर्थक आकडे एस्तातिस्तिका दो कोमर्सियो ई नवेगशाव अनो दे 1940 (नोवा गोआ, 1944), पृ० 14-15 मे द्रष्टव्य। उसी प्रकाशन के पृ०16 पर अंकित है कि पुर्तगाली भारत में, जिसमे दामन, दिउ और गोआ भी शामिल हैं 1,00,000 डबल खंडी से भी ज्यादा कुटा चावल प्रतिवर्ष आयातित होता था, अत. दामन व दिउ का हिस्सा अगर 1,00,000 खंडी से अधिक कहा जाता है तो उसे आसानी से अग्राह्य कर दिया जा सकता है।

4. एस्तातिस्तिका दो कामर्सियो ई नवेगशाव मे दी हुई सारणी 7, पृ० 6 से, दामन और दिउ को अतर्गत करते हुए, जिनका हिस्सा किसी भी महत्वपूर्ण उत्पादन की कुल जमा के 13 प्रतिशत से अधिक नहीं है, अत· दिए हुए ग्राफ में गोआ की दशा तत्वत· निरुपित है।

5. आर्गमेल्लो गेरल पर ओ अनो इकानामिको दे 1945 (नोवा गोआ, 1945) पृ० 8, पृष्ठ 18-19 में इसे 67 लाख रुपये के कुल बजट का लगभग 8 प्रतिशत बताया गया है।

6. जी० सी० के अतिरिक्त जो स्रोत ग्रथ हैं उनमे कुन्हा रिवरा कुत एसइओ हिस्तारिको द लिंगुआ कोकनी (नोवा गोआ, 1857) बिलकुल छिछला है। ए पेंकमाव द किस्तो शीर्षक कविता का जो ए० के० प्रियोलकर द्वारा सपादित सस्करण है (देखें जे० यूनि० बबई, 9, 1940, पृ० 182-211) उसमे सपादक ने यह प्रतिपादित किया है कि फादर गामस स्टीफेंस कृत ख्रीस्त पुराण की साहित्यिक कोकणी को मराठी की एक शाखा माना जा सकता है। किंतु, यह आवश्यक नहीं कि इस एक बात से सपूर्ण कोकणी मराठी की एक उपभाषा सिद्ध हो जाए, जैसा कि श्री प्रियोलकर का विचार है जो उन्होंने बार-बार दुहराया है। दूसरी ओर, एस० एम० कत्रे कोकणी को एक पृथक भाषा मानते हैं, किंतु उनके अनुशीलन ग्रंथों से, जो कि भाषाई दृष्टि से अधिक प्रभावोत्पादक हैं, जाहिर होता है

कि कोकणी में जो वास्तविक विभेद है उसकी जानकारी उन्हें नहीं के बराबर है। अन्यान्य अध्ययन पुर्तगाली में प्रकाशित हुए हैं, किंतु संप्रति वे मुझे उपलब्ध नहीं हैं।

7. सेन्सोद पापुलशाव दो एस्तदो द इन्दिया, 1931 (नोवा गोआ, 1935) पृ० 4, सारणी 4।

8 भग्नावशेष आज भी कुछ स्थानों में विद्यमान हैं। 1936 तक मैं एक ऐसे फार्म का मालिक था जहां मंकोल के मुख्य मंदिर (नरसिंह मंदिर) के लिए मूल पूजा बस्ती बसी थी और नर्तकियों के घर बसे थे। उक्त मंदिर के स्थल पर एक प्रार्थनालय (चैपेल) निर्मित हो गया (जिसे 1940 में गिरजाघर का ऊंचा दरजा दे दिया गया)। मेरी चाची क्वेलोस्सिम में जिस मकान में रहती थी वह एक दूसरे मंदिर के स्थल पर बना था, जिसका जंजीर सहित घंटा आज भी सड़क किनारे पड़ा हुआ है और पूजा जाता है। पुराने मर्दोल में प्रधान मंदिर के जले झुलसे भग्नावशेष आज भी द्रष्टव्य हैं।

9. किंतु पांडिचेरी के अभिलेखों में पता चलता है कि गवर्नर ड्यूमा के अधीन यह फ्रेंच उपनिवेश इतना शक्तिशाली था कि उन्हीं भोंसलों को 1741 में खिराज देने से इंकार कर दिया, हालांकि पांडिचेरी को वार्देज से भिन्न मराठों में पट्टे पर लिया गया था।

संदर्भ सूची

अंकडी 136
अंगिरस 58
अंगकोरवाट 83
अंगमर्दक यती 65
अंगुत्तर निकाय 12
अंगरस गण 75
अंडाकृतियां 145
अक्को 200
अकबर 35
अकरूदी 35
अर्काट 85
अक्लिलीज 7, 829, 71
अगस्त्य 88, 94
अग्नि 58, 68, 74, 84
अगोडा 198
अजातशत्रु 22, 97, 128
अर्जुन 14, 19, 21
अट्रोगो 89
अर्थशास्त्र 20, 23, 28, 55, 93, 114
अर्थववेद 67 ,75, 81, 90, 91
अदोसिम 199
अथीनी 90
अदिति 74
अर्धनारीश्वर 11
अधविश्वास 1, 2, 7, 12, 43
अन्नास 195
अफ्रीका 6, 111, 195
अफार्चो 194
अफगानिस्तान 31 107
अभिमन्यु 7
अंभृणी 27
अंबा 71, 95
अबरनाथ, 68, 105
अंबिका 71, 10 , 118, 119, 120,
अंबालिका 71, 74
अंबि (मातृदेवी) 83
अंबाबाई 104, 105, 112, 113, 114
अमरकोश 82, 95, 119
अमरावती 49, 50
अमरीका 6

अमावसु 55
अरणी 57
अरिसिया 41
अलाउद्दीन खिलजी 42,
अर्लसाइमन-उ-मौंटफोर्ट 8
अलसक 134, 135
अस्तर्ते 74
असित देवल 97
अश्वघोष 22
अश्वमेध 22, 71
अश्वत्थामा 95
अशोक, अशोक स्तंभ 121, 128, 131, 134
अहमदनगर 112, 120
अहिंसा 21, 24, 114
आइबीरिया 196
आइन-ए-अकबरी 37
आखेट, 55, 114
आर्च बिशप 195
आर्टमिमस 91
आदिवासी 30, 31, 35, 129, 139, 149
आदिनाथ 118
आंध्र 145
आरुणि 58
आरेटोरियन 196
आल्चीन 127,
आसरी 17, 142
आर्य 71, 78, 80, 88, 107
आर० हिरनान्द 97, 104
इंगेल्मरो 201
इंदुरि 145
इंद्र 15, 22, 27, 28, 29, 49, 64, 65, 66, 67, 74, 75, 128,
इरा 69
इतिहास 2, 7, 14, 22, 43, 120, 122, 126,
इल्लास 195, 206, 207
इलाहाबाद 95, 208
इल-इल 111
इश्तर 76, 78, 84, 96
ईम्रोस 73, 92
ईयमाईनांठुइस 8, 9
ईव 92
ईलियड 7
ईदगाह 144
ईरानी 69, 70,
ईसाई 2, 64, 199, 204, 207, 208 209, 210
उज्जैन 134
उदालाई 107
उत्पन्ना 92
उर्वशी 49 50, 51, 52, 53, 54, 55, 56, 57, 65, 66, 67, 68, 69, 70, 73, 74, 75, 77 197
उषा 76, 78, 79
उपवदात 135
एक्लोवीर 205
एकनाथ 39
एडवर्ड 7
एथेंस 92
एन्री 24
एशिया माइनर 78
ए० हेर्टेल्मर एम० चे० 94
ए० सी० कार्नाइल 113
ए० फ्यूहरर 127
ऐड्रीयन 91
ऐफाईगीन 91
ऐतरेय ब्राह्मण 15, 19, 20,
ऐफ्रोडाइटी 90

ऐल 55
ऐतिहासिक, 2, 3, 14, 15, 18, 19, 22, 28, 51, 109 117, 202
ऐलिफेंटा 71
औट्टो रेंक 69
औरगनेसियन 9
औरंगजेब 35
औक्षगंधी 67
कंडूस 149
कण्व 89
कर्ण 7, 23, 24, 69
कच्छप 24
कपिलवस्तु
कथा सरित्सागर 54, 67, 85, 102, 103, 122, 123
कन्नड 103, 146, 194, 203
कंस 41, 127
कन्नौज 33, 37
कन्नीर ग्रम्मा 92
कंसुग्रा 205
कदंब 203
कम्मास दम्म 15, 125
कम्बोडियाई 83
करगा 8, 85
कर्सम्वतो 111
कल्याण 135
कवडदरा 118
कश्मीर 30, 37
कश्यप 89
कसाना 199, 207
कहाँ 3, 12, 145
काजू 195
काठियावाड 31
कार्तिकेय 49
काठकम 54
कात्यायन 87
कार्ष्णे 39
कार्तिक 84
काकिसबोर दो 194
काम सूत्र 72
कालिय नाग 30
कालिदास 49, 50, 51, 58, 69, 80, 90, 101, 108
कार्ले 72, 115, 121, 122, 128
कार्ल मार्क्स 94
कालुवाई 104
कालिन पुराण 130
काशी 71
केशी 49
कीथ 75, 95, 100
कुपाण 22
कुग्रान-यिन 70
कुकड 136
कुम्भकरण 82
कुण्डिन 84
कुलकर्णी 106
कुम्भज 94
कुरकुम्भ 107, 139
कुशिनारा 134
कुमार सम्भव 102
कुरुभूमि 15
कुरुक्षेत्र 23
कोण्डणपुर 104, 139
कोडरी 124
कोल बुक 53
कोलबल्ले 204
कोलिय 122, 128, 129
कोंकणी 51
कोथरूड, 108, 147
कृष्ण 24, 25, 27, 28, 29, 30, 67

70, 104, 199
कौसांबी 134
केस्नन्द 112
केशी 49
केकको 199
कैमरा जरेल 197, 206, 207
कैम्बाइसीज 28 130
खर्जरकर्ण 82
खरसूडी 146
खानापुर 108
खानाबदोश 131, 132
खंडोबा 103, 104, 110, 112, 145,
146, 147, 148, 150
खडक 146
खन्ती 154
खिराज 210
खुशीव्रत 194
खोलगोर 199, 203
गंगा 70, 71, 72, 102
गंधर्व 58, 59, 69
गदरदेव 69
गज-सिंह 11
गणेश 33, 112, 118, 145, 146
गार्गाफोन 93
गानचरे 197, 199
गांधारी 84
गाण्डोस 203
गायकवाड 39
गिलामीज 72
गीता 14, 18, 20, 22
गीत गोविंद 16
ग्रीस 92
गुग्गुल 67
गुप्तकाल 19, 33, 99
ग्रेटिटर-द-स्ट्रॉंग 7
गेल्डनर 53, 54, 66, 78
गेतोडो 99
गुफामाई 116
गोपाल पौरा 104
गोद्देवोरदो 194
गोनद्ध 134
गोदावरी 133
गोरा 38
गौतम 97
गौतमेश्वर 205
घृताची 68
घोरे 65
घोरकी 112
चषक 145
चंद्र 77
चंद्रगुप्त मौर्य 15
चंद्रराव मोरे 39
चाकदत्त 65, 98, 99
चाउल 112, 135
चिकलिम 203
चिंचवड 108
चिह्लावली 198
चीन 195
चीवसवीर 205
चूना 153
चैतन्य 17
चौरा 113
छिंदवाडा 107
ज्वार 151
जम्रस 90
जयदेव 16
जनमेजय 22
जरासंध 101, 107
जजिया 35
जर्मनी 75

जतूक कर्ण 82
जंतु 101
जाखमाता 104, 107, 128
जाखाई 123
जालंधर 82
जातक 15, 122, 123, 124, 127, 129
जाधव 39
जुन्नर 107, 115, 119, 120, 145, 146, 149
जेराफिन 197
जैन 97, 98, 118
जैमिनीय 126
जोगूबाई 109, 147, 149, 150
जोगेश्वरी 109
जोनीरो 120, 200
टाइटन 92
टाइट 196
टालेमी 136
टिथोनस 92
ट्रिवीय 111
टैरीसियस 89
टैसिटस 95
ठाणाला 111
ड्यूमा 20
डायना 111
डिक्री 195
डेरा 111
तन्नीर अम्मा 92
तमिलनाडु 11
तारकासुर 102
तांग 200
तांदला 147
तिगल 85, 86
तुकाराम 16, 39, 117, 118, 151
तुकाई 104, 138, 139, 140, 147
तुलसी 67
तुलजा 110
तुलजापुर 110
तूप कर्ण 82
तोंबो जेरल 196
थाण्ला 115
थाणा 135
थानेश्वर 14, 30
थिम्रोडोसोम्रस 95
थीब्ज 9
थेऊर 144, 145, 152
दक्षिणागिरी 113, 127
दामोदर 205
द्वारका 31
दिल्ली 14, 15, 41, 120, 125
दियोगो रोद्रिगीज 195
दीघनिकाय 15, 84, 125
दीन-ए-इलाही 34, 35
दुर्गा 92, 95, 96, 205
दुर्योधन 23
दुष्यंत 50
दुमे 199
देवगिरि 37
देवव्रत 71
देवछार 203
देहू 113
देसाई 194
द्रोण 23
द्रौपदी 86
धम्मपद 83
धरमतर 135
धृतराष्ट्र 22, 95
धीमान 55
धनेकाकट 135

नरसिंह 10, 11, 12, 115, 205, 210
नर्मदा 134
नरबलि 147
नरेंद्र शशांक 33
नहुष 55
नंगा 56, 68, 91
नदी 4, 5, 65, 145, 146
नहपान 83
नग्न देवी 80
नर्मस 95, 96
नवरात्र 114, 116
नमुचि 121, 122
नृतगणेश 5
नागराज 208
नागपूजा 30, 31, 32, 40
नागनाथ 205
नागपुर 95
नार्णेनाप्याट 134, 136
नामदेव 17, 38
नानौली 107, 149, 152
नारद 41, 89, 90, 97
नारायण 205
नावगा तोनी (स्थान का नाम) 80
नासिक 83
नारायणं नमस्कृत्य 16
नाच्ची 201
नेणवाली 107
नेमम 111
नेपाल 121
नेवाग 134
नैमिषारण्य 56
पतंजलि 30
पतंजल भाष्य 58
पंचर निरात 12
पंढरपुर 38, 39, 103, 112
पञ्चनरक भक्ला 124
पर्नेम 204
परशुराम 27
पऊना 110
पटना 122
पल्लवों 146
पर्सीअस 93
पाउन नावल 103
पाणिनि 30, 101
पार्वती 3, 4, 5, 32, 33, 89, 106
पृथ्वीधर (भाष्यकार 94)
पृथ्वीराज रासो 8
प्रमन्दिनी 67
प्रतीप 70
प्रजापति 75
प्रसेनदि 84, 125, 128
प्राइमम 7
पालसरी 104
पाडव 14, 15, 16, 86, 87, 125, 128
पाडुरंग 103
पांडिचेरी 210
पाल 146
पालि 121, 128, 133
पिडकिन ओतिंग 83
पिप्पलौनी 105
पिप्रह्वा
पीना 67
पुर्नगालियों 194, 199
पुरूरवा 49, 50, 51, 52, 53, 54, 55, 56, 57, 58, 59, 60, 61, 62, 63, 64, 65, 66, 67, 68, 69, 70, 71, 72, 73, 74, 75, 76, 77, 78, 79, 80, 81, 82, 83, 84, 85, 86, 87, 88, 89,

90
पुष्करासद 84
पुष्कर 83
पूतना 102
पूना 12, 13, 43, 104, 107, 109, 118, 128, 151
पूर्वचित्त 68
पोकखरणी 83
पेरिप्लस 121
फर्गुसन 118
फ्रेजर 2, 70, 111
फाउमबेल 123, 128
फागे 111, 112
फाण्णाई 106
फायड 69
फाहियान 122, 126
फिक्स इंडिका 128
फिरंगावाई 107
फिरंगाई 152
फिरौती 197
फोर्ति 195
फोरल 194
वघरगण 120
वंधक 194
वस्सी-द-ऐम्वायस 7
वरोक (गिरजाघर) 202
वदलापुर 105
वाघोली 112
वाण 94
वाणाई 146
वाजरा 149
वाजीगर 120
वार्देज 197
वापूजी बावा 108
बिंबसार 22
बीजापुर 194
बुद्ध 1, 22, 27, 31, 33, 111, 113, 114, 118, 120, 121, 122
वेग्रबुल्फ 7, 17
वेडसा 89, 113, 115, 116
वोर्कोदेव 205
वोडकोदेव 203
वोधिवृक्ष 33
वोलाई 105, 107
वौधिसत्व 124
भगवदगीता 7, 8, 9 10, 22, 23, 24, 25, 26, 27
भट्ट लक्ष्मीधर 37
भरत 51
भडोच 135
भवानी 120
भृगु 20
भडारा 152
भाजा 107, 115, 117
भामचंदर 117
भावीण 206
भाष्य 17, 41, 57, 58, 75, 81, 123
भिक्खु 97, 115, 120, 126
भित्तियाँ 199
भीष्म 7, 13, 22, 23, 70, 71, 72
भैरव 3, 146, 149, 105
मसादेव 125
मज्झिम निकाय 125
मत्स्य 24, 125, 153
मडवम्मी 104
मथुरा 12, 28, 29, 31, 82
मरौत 210
मंगेश भगवान 204
मनु 54, 55, 69, 70

मृच्छकटिकम 64, 98, 99, 109
मनुस्मृति 72, 99
म्हसोबा 3, 32, 106, 145, 147
म्हलासा 103
म्स्कोबा 109, 146, 147
म्हस्वड 146
म्हतोबा 148, 149
महादेव 205
महालक्ष्मी 205
महालक्ष्मी महामणी नाग 124
महायज्ञ्यो 133
महाप्रजापति गौतमी 128
महेश्वर 134
महामयूरी मंत्र 145
मयूरकर्ण 82
मयूर शर्मन 146
मस्तगत 108
मयूर वर्मा 203, 204
मल्हार राव होल्कर 39
मलवली 108
मसूरकर्ण 82
मसूरिका (खसरा) 109
महाभारत 7, 8, 11, 12, 14, 15, 16, 19, 20, 21, 50, 54, 69
महिषासुर 3, 4, 32, 108, 147
महिषासुर मर्दिनी 3, 4, 5
मार्कोपोलो 37
माघ 147
माण्डर देव 137
मातृदेवियां 3, 31, 32, 72, 108
माधवराव पेशवा 145
मानमोडी 118, 121, 141, 145
मानमखुड 118
मानवी मती 105
मालविकाग्निमित्रम 50
मावलाया 103
मावल 72
मायादेवी 122, 128
मांग 146
मिर्जापुर 30, 113, 127
मुलूक 148
मुहाने 199
मुंगेर 204
मुल्शी बांध 111
मूसा 69
मूसल 144, 145
मेरठ 125
मेरी 40
मेनका 68
मेसोपोटामिया 10, 11, 30, 51, 52, 85
मैक्समूलर 52, 94
मैक्सिस 95
मैगस्थनीज 95
मैलिनोवस्की 2
मोरिस 203
मोहनजोदड़ो 3, 10, 83, 90
मौर्यकाल 93
यम 80, 95
यमाई 116, 121, 139
यह्वी 101
यमी 69, 95
यक्ष 12, 145
याली 11
यादव 23, 39
यूनानी 69, 89, 90, 92, 93
यरोप 10, 11, 12, 119
रखुमाई 103
रगाडा 145
रघुवंश 69

रमाबाई 145
रम्भा 69
राजगीर 101, 114, 122, 124
राम 27, 69
रामगाम 122
रामायण 12, 82
रामनाथ 205
आर० डी० वार्नेट 84
राबर्ट ग्रेब्स 6, 90
रावण 69
रायरी 113
रुम्मिनदेई 122, 123, 123, 127, 128, 129, 130, 131, 132, 133
रुद्राणी 120
रूपादेवी 128
रूसो 1
रोटी 1, 2
लक्ष्मी 68, 82, 103
लक्ष्मीबाई 103
लाड़ूबाई 104
लाड परिवार 203
लखबादा दा लाड 203
लुम्बिनी 121, 128
लूतुलिम 195
ले ट्राय फेरे 5
व्यास 20
वराह 24
वरुण 82
वत्स *95*
वराहमहिर 96, 99, 100
वरसूबाई *107*
वसिष्ठ 68, 79, 81, 83, 84, 88
वसुदेव 41, 127
वसु *81*
वृंदावन 29, 67, 82
वृंदा 29
वृहदारण्यक उपनिषद 23
वाकड 108
वाकाटक 147
वार्करी 40
वारुनाई 111
वामदेव 22
विचित्रवीर्य 71
विजयनगर 194
विठोबा 103, 118
विडूडभ 128
विन्टेज 92
विश्वकर्मा 77
विश्वामित्र 68, 95
विश्वदेवों 68
विष्णु 9, 10, 12, 14, 15, 17, 23, 24, 32, 35, 47, 49, 50, 67, 68, 80, 82, 91, 103
विपावत 129
वीरभद्र 146
वेताई 107
वेताल 108, 109, 110, 111
वैदिक 80
वैद्रु 153
वैकरनेगेल 94
वैसाली 83, 122
वैश्य 18
वैष्णव 4, 17
वैंकटराव विडियर 86
स्कंद 4, 86, 89, 101, 102, 108, *208*
स्टट्टगार्ट 94
स्पार्टो 91
स्पेतेम्बस *95*

स्पेन 196
स्मार्त वैष्णव 35
सठवाई 106
सनत्कुमार 5, 41
सरस्वती 85, 88
सरमा 95
सतारा 146
सवाम 22
सतेरी वरसोन जस्सो 205
संप्रदाय 19
सकोल 207
साइरो हिताइत मुहर 73
साइरेन 77, 90
सायण 78
सार्गन 69
सातवाहन 22, 34, 72, 128, 134, 149
सानुमती 90
साती आसरा 130, 110
सारस्वत 204
साह्याद्रि 203, 204
सावत्थी 134
सासवड 108
सालतीस 194, 197, 204, 205, 206
सागवी 152
स्टेम्फेलियन पक्षि डाकिनियों 90
सिनोटी 106
स्मिथ 113
सिंधु 11
सीग 5
सूचि शिल्प 81
सांदीपनि 28
सूर्य 33, 80
सूर्या 78
सुसन्ना 79
सुमेरी 24
सुत्तनिपात 13
सुभागगढ 111
सुलक्खणा 128
सोसन 79
सोपरा 135
सोनकोली 116
सैनकोल 119
श्रीकृष्ण 14, 15, 16, 17, 18, 19, 20, 21, 22, 23, 24, 29
श्रीकंठनाग 30
श्रीतिलक 16
श्रीवस्ती 134
शमी 119
शतपथ ब्राह्मण 54, 57, 58, 83
शकार 64, 65
शाल्व 71
शान्तनु 71
शीतला 109
शर्वाणी 120
शाक्य 121
शंकराचार्य 12
शकुंतला 50, 68 77, 90
शिव 3, 4, 6, 17, 146, 205
शिखंडी 23, 71
शिंदे 39
शिशुपाल 41
शिकु 69
शितिकंठ 88
शिवनेरी 119
शिवाबाई 119
शुक्र (तारा) 96
शोलापुर 104
शिवा 119, 120

शंखनुमा 194
शेष (नाग) 205
शांसो-द-रोल 7
हर्ष शीलादत्य 33, 34
हरिहर 35
हरिस 136
हउप्सर 140
हब्बा 92
हरमन भ्रोलडेन वर्ग 61
हड़प्पा 79, 86, 87
हरियूपीया 86
हक्युंलीज 90
हर्मफिडाइटस 92
हित्ती हेपित 92
हीरा 90
होरेशस 7
हियरवार्ड द वेक 7
होमर 8, 14, 15
हेनरी फ्रँकफर्ट 11
होशियारपुर 31
ह्वेनसाग 20
हेराक्लीज 29, 30, 82
हीलिग्रोडोरस 30
हीवी 92
हस्तिनापुर 95
हिजवडी 148, 149
हेरस 204
हिरोडोटस 130
हनुमत 12
हनुमान 6
षष्ठी 99, 106, 110
षडानन 102
क्षेत्रीय 1, 12, 103
क्षत्रिय 18
त्रिमुख 3, 71, 102
त्रिशिर त्वाष्ट्र 28
त्रिघट 86
त्र्यंबक 101
त्रिपथ 111
त्रिकोण 151
त्रैवार्षिक 197
क्षेपक 18, 19, 22
ज्ञानेश्वर 16, 38, 41
ऋग्वेद 27, 28, 50, 52, 59, 61, 66, 69, 70, 77, 86, 94
ऋतुमती 145